Dr. K. K. Misra
epartment of Political Science
niversity of Allahabad
LLAHABAD (U.P.)

Res · 2-A BANK ROAD
ALLAHABAD

Date 23 . 12 . 9'

This is to certify that the thesis entitled "राजा राम मोहन राय एवं केशव चन्द्र सेन के सामाजिक तथा राजनीतिक विचारों का एक तुलनात्मक अध्ययन" the original work of Smt Meena Sharma, and i[s] suitable for submission for the Degree o[f] Doctor of Philosophy (D. PHIL.) of the Allahabad Un[iversity], Allahabad. The candidate has fulfilled the requirements of attendance etc.

K. K. Misra
(Supervisor)

विषय सूची

पुरोवाक्

प्रस्तुत शोध ग्रन्थ में राजा राममोहन राय तथा केशवचन्द्र सेन के सामाजिक एवं राजनीतिक विचारों के तुलनात्मक अध्ययन का प्रयास किया है। प्रथम अध्याय में जहां तत्कालीन सामाजिक राजनीतिक परिस्थितियों तथा कारकों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। वहीं द्वितीय अध्याय में अंग्रेजी शिक्षा तथा पाश्चात्य विचारों के प्रभाव के फलस्वरूप जिन सामाजिक धार्मिक आन्दोलनों का आविर्भाव हुआ, उनकी ओर संकेत किया गया है। तृतीय अध्याय में राजा राममोहन राय के सामाजिक तथा राजनीतिक विचारों पर प्रकाश डाला है। चतुर्थ अध्याय में केशवचन्द्र सेन के सामाजिक एवं राजनीतिक विचारों पर प्रकाश डाला है। पंचम अध्याय में राजा राममोहन राय के सामाजिक तथा राजनीतिक विचारों के एक तुलनात्मक अध्ययन पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है।

इस शोध ग्रंथ में मैने इस बात का भरसक प्रयास किया है कि पाठकगण राजा राममोहन राय एवं केशवचन्द्र सेन के सामाजिक तथा राजनीतिक विचारों से अवगत हो और सामाजिक तथा राजनीतिक विचारों के एक तुलनात्मक अध्ययन से उन्हें नवीन जानकारी प्राप्त हो सके। यह संभव है कि कहीं त्रुटियां रह गयी हों, इसके लिए पाठकगण क्षमा करेगें।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, एम0 ए0 (फाइनल) में आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन के फलस्वरूप मुझे इसी विषय के अन्तर्गत शोध कार्य करने की इच्छा जाग्रत हुयी, और पूज्यनीय गुरू डा0 के के. मिश्रा, रीडर राजनीतिक विज्ञान से शोध कार्य के प्रति प्रेरणा प्राप्त हुयी। आपने जहां विषय के अध्ययन और चिन्तन की दृष्टि प्रदान की, तथा वास्तविक अर्थो में गुरू का दायित्व निर्वाह कर मेरा मार्ग दर्शन किया वहीं आपने अपना मधुर स्नेह एवं प्रेरणाप्रद सहयोग एवं सहानुभूति प्रदान कर समय-समय पर अनेक समस्याओं का समाधान करके उत्साह बढ़ाया उनके प्रति मैं अपना विनीत सम्मान व आभार प्रकट करती हूँ।

शोध कार्य में समय-समय प्रोफेसर •श्री हरिमोहन जैन भूतपूर्व विभागाध्यक्ष राजनीति विज्ञान, इलाहाबाद विश्वविद्यालय से जो परामर्श एवं मार्ग दर्शन प्राप्त हुआ, उसके लिए मैं

ऋणी हूँ। शोध प्रबन्ध के अंतिम चरणों में विभागाध्यक्ष श्री यू के. तिवारी, विभागाध्यक्ष, राजनीतिक विज्ञान, इलाहाबाद विश्वविद्यालय से जो सहयोग प्राप्त हुआ, उसके लिए मैं आभारी हूँ। अपने पूज्य अध्यापक प्रो0 श्री हर्षनाथ मिश्रा की आभारी हूँ, इस शोध कार्य को प्रारम्भ तथा पूर्ण करने में आपका सहयोग एवं आशीर्वाद प्राप्त हुआ।

मैं जी0 एस0 मिश्र, सहायक पुस्तकालाध्यक्ष, इलाहाबाद विश्वविद्यालय तथा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद, राजकीय केन्द्रिय राज्य पुस्तकालाय एवं पब्लिक लाइब्रेरी के अधिकारियों तथा कर्मचारियों की भी अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होनें शोध विषय का अध्ययन करने में पर्याप्त सहायता प्रदान की। नेहरू मेमोरियल म्यूजियम एण्ड लाइब्रेरी, तीन मूर्ति हाउस, नई दिल्ली ने शोध विषय का अध्ययन करने में पूर्ण सहायता प्रदान की है।

श्री जी0 पी0 त्रिपाठी (एडवोकेट) की मैं अत्यन्त आभारी हूँ, आपने मुझे अपना अमूल्य समय देकर, शोध कार्य को पूर्ण करने में सहयोग प्रदान किया।

शुभ चिन्तकों एवं मित्रों ने शोध कार्य के विभिन्न चरणों में जो मेरी सहायता की, उनकी मैं अत्यन्त आभारी हूँ।
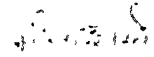
मैं अपनी जीवनगत उन परिस्थितियों की भी कृतज्ञ हूँ जिन्होंने जहां मुझे पग-पग पर निराश किया, वहीं मुझे आगे बढने के लिए सतत् प्रेरणा भी प्रदान की। इस दिशा में मैं अपनी माता श्रीमती विमलेश शर्मा, पूज्य पिता श्री हर प्रसाद शर्मा के आशीर्वाद, छोटी बहन बीना शर्मा, अनुज बसन्त शर्मा के स्नेह सहानुभूति एवं सहयोग से ही मैं शोध प्रबन्ध को पूरा करने में समर्थ हो सकी हूँ।

शोध प्रबन्ध के अंतिम चरणों में मुझे अपने श्वसुर श्री सतीश चन्द्र शर्मा माता श्रीमती माया शर्मा, भाई साहब श्री प्रदीप शर्मा एवं भाभी श्रीमती मीरा शर्मा का आशीर्वाद प्राप्त हुआ। विशेष रूप से मैं अपने जीवन साथी श्री अरविन्द शर्मा की विशेष रूप से आभारी हूँ,

आपके स्नेह प्रेरणा सहानुभूति एव सहयोग से ही शोध प्रबन्ध को प्रस्तुत करने मे समर्थ हो सकी हूँ। सतत् उत्साह प्रदान करने वाले अपने जीवन साथी के प्रेरणात्मक सहयोग को मैं कभी विस्मृत नहीं कर सकती हूँ ।

(मीना शर्मा)
शोध कर्त्री
राजनीति विज्ञान विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

दिनांक

प्रथम अध्याय

उन्नीसवीं शताब्दी में भारत की सामाजिक तथा राजनीतिक दशा

भारतवर्ष की लम्बी श्रृंखला के इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है । यह वह शानदार समय है, जिसके अन्तर्गत नवीन भारत का उदय हुआ, यहीं से उस विचारधारा का जन्म हुआ है, जिसने नवीन विचारों, नवीन क्रांतियों तथा नए आन्दोलनों को जन्म दिया, जिसके फलस्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी पुनर्जागरण की सदी कहलायी ।

इस परिपेक्ष्य मे सर्वप्रथम हमे उन परिस्थितियों का सर्वेक्षण करना आवश्यक है, जिसके आधार पर नवीन पृष्ठभूमि तैयार हुयी ।

औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् ही सम्पूर्ण देश में अव्यवस्था तथा अराजकता का बोलबाला था । देश में एक शक्तिशाली केन्द्रीय सत्ता के अभाव में राष्ट्रवाद के मूल तत्वों का नाश हो गया था । इसी समय यूरोप में औद्योगिक विकास तथाव्यावसायिक क्रान्ति से लाभान्वित तथा नए वैज्ञानिक साधनों एवं ज्ञान से सुसज्जित अंग्रेज-जाति ने न केवल भारत में, बल्कि समस्त एशियाई देशों में प्रवेश किया और उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक भारत में अपने साम्राज्य विस्तारवादी स्वप्नों को साकार किया । भारत सदृश समृद्धिशाली देश उनके इस लक्ष्य का प्रधान केन्द्र बन गया । उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों तक एशियाई देशों में सर्वत्र आर्थिक अद्य:पतन तथा थोड़े से अपवादों को छोड़कर अन्यत्र राजनीतिक जर्जरता, सामाजिक गतिहीनता तथा सांस्कृतिक सड़ाँध के दृश्य दिखायी देने लगे । विश्व के इतिहास मे एशिया की गणना अधीन कोटि में होने लगी ।[1]

सम्पूर्ण देश में असन्तोष और अत्याचार रक्तपात का वातावरण बना हुआ था । भारत के विभिन्न प्रान्त के लोग एक दूसरे को विदेशी समझते थे । बंगाली, हिन्दुस्तानी, सिक्ख, राजपूत व मराठा के लोग आपस में ही लड़कर उत्पात मचाए हुए थे । प्रतिशोध की भावनापूर्ण रूप से व्याप्त थी । इस सम्बन्ध में 'ओ मेली' ने कहा है 'जिनकी अपनी एक सम्मिलत भाषा नहीं, जो सामाजिक और राजनीतिक तौर पर खंडो में विभाजित थे, ऐसी स्थिति में समस्त भारतीय जनता की राजनीतिक एकता का प्रश्न ही नहीं था, लोग सामाजिक और आर्थिक तौर पर भी एक नहीं थे ।[2] सम्पूर्ण भारत पर भयंकर कफन सा पड़ा हुआ था, जिसके नीचे जनता के विभिन्न वर्ग ठंडे पड़ गए थे,

---

1. डा0 वी0पी0 वर्मा आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन पृष्ठ – 1

2. ओ मेली, माडर्न इंडिया एण्ड दि वेस्ट पृष्ठ – 135

और जन समाज का दम घुट रहा था । मुस्लिम और हिन्दू नरेशों को अलग-अलग कर दिया गया था, जिन मुस्लिम और हिन्दू परिवारों, कबीलों और जातियों ने सैनिक प्रशासक और नेता प्रदान किए थे, उन्हें उत्तरदायित्व पूर्ण पदों से वंचित करके परजीवियों के रूप में निकृष्ट जीवन बिताने के लिए छोड़ दिया गया था ।[1] दीर्घकालीन अव्यवस्था हिंसा लूट व विदेशी आक्रान्ताओं ने भारतीयों को थका दिया था, जिसके कारण उनमे राजनीतिक परिवर्तन के प्रति उदासीनता के भाव उत्पन्न हो गए थे । उनका ध्यान स्वराज, स्वशासन की ओर से हटकर पूजा-पाठ व सामाजिक उधेड़-बुन के प्रति अधिक केन्द्रित होता चला गया ।

तत्कालीन समाज के धर्म ऐसा सूत्र था, जो जीवन की विभिन्न गतिविधियों को निर्देशित व मर्यादित करता था । धर्म तथा समाज के मध्य विभाजन कर सकना कठिन था । कोई भी प्रथा चाहे जितनी घृणित, साधारण व विकृत क्यों न रही हो, वह किसी न किसी रूप में धार्मिक सिद्धान्त पर टिकी हुयी थी । कोई भी समाजसेवा तथा समाजसुधारक का कार्य बिना धर्म की सहायता के असंभव था । उन्नीसवीं शताब्दी में हिन्दू समाज का नेतृत्व तथा निर्देशन ऐसे स्वार्थी तथा लोभी शासकों के हाथों में आ गया था, जो न धर्म का सही ज्ञान रखते थे, और न ही उनमें धर्म के प्रति कोई लगाव था । देश और समाज की धर्मनीति, समाजनीति गहरे चक्कर में थी । पिछले कई वर्षों से मुसलमानों के लगातार आक्रमण के कारण किसी ने धार्मिक तत्व को समझने का प्रयास नहीं किया, इसकी आवश्यकता ही नहीं समझी गई । परिणामस्वरूप धर्म ने अपने वास्तविक उद्देश्य, अर्थ व स्वरूप का परित्याग मध्ययुग में ही कर दिया था । अतएव धर्म का स्थान अंधविश्वासिता ने लिया, जिसके परिणामस्वरूप विविध प्रकार की सामाजिक कुरीतियों को प्रोत्साहन मिला और उन्हें धर्म के रूप में महत्वपूर्ण समझा जाने लगा । धर्म के नाम पर समाज को अनेक रूढ़ियों, परम्पराओं तथा रीति-रिवाजों को अनिच्छा होते हुए भी स्वीकार करने के लिए विवश होना पड़ा । सम्पूर्ण भारत वर्ष अज्ञान में डूब रहा था ।

---

1. डा0 ताराचन्द, भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का इतिहास, भाग-1, पृष्ठ-15
2. ऐबे0जे0ए0 दुबाय, हिन्दू मैनर्स कस्ट्मस एंड सेरेमनीज, पृष्ठ-31

मूर्तिपूजा का ऊपर का ढकोसला उसकी नस–नस में व्याप्त हो रहा था । देवमूर्तियों की स्थापना, पूजा–पाठ की अत्यन्त गूढ़ व जटिल विधियाँ थीं । केवल दुर्गा देवी की पूजा में बकरों और भैंसों का बलिदान, श्रीकृष्ण और राधा बनाकर लड़कों को नचाना, सावन भादों में झूले डालकर उत्सव करना, धूमधाम के साथ रथ निकालना ही हिन्दुत्व का मुख्य चिह्न था । इस प्रकार की अंधविश्वास की भावना व्याप्त हो चली थी, कि गंगा–स्नान करने से, ब्राह्मणों, वैष्णवो को दान देने से तीर्थों में भ्रमण करने से, अन्नजल छोड़ कर व्रत करने से सारे पापों से मुक्ति मिल जाती है ।

समाज में प्रत्येक व्यक्ति के देवता पृथक–पृथक थे व उनकी शक्ति, प्रभाव, स्तुतियां उत्सवों का ढंग भी निराला था । निम्न जातियों के पास इतना धन नहीं था, कि वे मन्दिर बनवा सकते, इसलिए वे बिना आकार के पत्थर के पिण्डो मिट्टी व लकड़ी की मूर्तियों की पूजा करने लगे । प्रत्येक पत्थर जो किसी भी आकार का होता उनके लिए ईश्वर के रूप में था । विभिन्न प्रकार के कर्मकांड, धार्मिक प्रतीक, व्रत साधु व फकीर श्मशान मकबरों व समाधियों की पूजा, जादू, टोने, भूत–प्रेत पूजा, पेड़–पौधों की उपासना की बाढ़ सी आ गई थी । मूर्तिपूजा से भाग्यवाद, अंधविश्वास तथा दैवी न्याय के प्रति आस्था उत्पन्न हुयी तथा आत्मविश्वास की भावना विस्मृति होती गयी । अपनी शक्ति पर विश्वास व प्रतिमाओं की अदृश्य शक्ति पर विश्वास राष्ट्रीय हितों के लिए घातक सिद्ध हुआ था ।[1] अन्य धर्मों के द्वारा हिन्दुओं की इस मूर्तिपूजा पर कटु आक्षेप किए जा रहे थे । ईसाई मिशनरियों ने मूर्तिपूजा पर आक्षेप करते हुए बताया कि तुम्हारे सब देवता शैतान हैं, और कुछ नहीं । मूर्तिपूजा के अपराध के प्रायश्चित स्वरूप तुम नरक की शाश्वत् ज्वालाओं में जलोगे । इन्हें घृणा व विचित्र राक्षसों की संज्ञा दी गई ।[2]

छुआछूत का विचार धर्म का सबसे ऊँचा अंग माना जाता था । यद्यपि बुद्ध, रामानंद, चैतन्य, नानक, कबीर तुकाराम आदि द्वारा इस प्रथा को समाप्त करने के लिए आंदोलन चलाए गए थे, किन्तु इस प्रथा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, यह उन्नीसवीं शताब्दी में पूर्ण रूप से व्याप्त थीं । शूद्रों की स्थिति अत्यन्त निम्न थी । इन्हें अछूत समझा जाता था । देसाई के शब्दों में 'हिन्दू समाज

---

1. ऐबे.जे.दुबाय, हिन्दू मैंर्क्स कस्टम एन सैरमनीज, पृष्ठ–576–581
2. एन0एस0बोस0 इंडियन अवेकनिंग इन बंगाल, पृष्ठ–8

मे हलखोर, मुर्दा, जानवर हटाने वालो और इस तरह के अन्य लोगों के कार्य पुश्तैनी अछूतो के जिम्में होते थे । विधि और समाज के अनुसार कोई भी दूसरा काम उनके लिए वर्जित था ।[1] हिन्दू समाज में रहकर भी यह समाज मे बहिष्कृत जैसे थे । इन्हें पठन–पाठन या मंदिरों व कुँओं से पानी लाने का अधिकार नहीं था । इनको शहर या गाँव में अलग जमीन पर बसाया जाता था ।

बंगाल तथा दक्षिण में अस्पृश्यता की भावना देश के अन्य भागों की अपेक्षा कहीं अधिक क्रूर तथा कठोर थी । दक्षिण भारत में विशेषकर मालाबार में निम्नवर्ग की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी । यदि कोई शूद्र धृष्टतापूर्वक किसी ब्राह्मण के घर में प्रवेश कर जाता था, तो उसी स्थान पर शूद्र की हत्या की जा सकती थी । इन्हें उच्च जाति के लोगों के बीच अस्पृश्य समझा जाता था, ये छूने योग्य नहीं थे ।[2] इन्हें शिक्षा संबन्धी अधिकार भी नहीं था । धार्मिक ग्रन्थों वेद आदि का अध्ययन नहीं कर सकते थे । यदि कोई इस नियम का उल्लंघन करता था, तो उसकी जीभ काट जाती थी । यदि वह वेदों के उच्चारणों को सुनता था, तो पिघला हुआ शीशा उसके कानों में डाल दिया जाता था । यदि शूद्र ब्राह्मण की हत्या करता था, तो उसके आरोपमें उसेमृत्यूदंड मिलता था और यदि ब्राह्मण शूद्र की हत्या करता था, तो उसे उतना ही कम दंड मिलता था, जितना एक बिल्ली, चक्रवाक चिड़िया, मेंढ़क उल्लू आदि को मारने पर होता है । सन् 1931 की जनगणना के प्रतिवेदन से ज्ञात होता है, कि अस्पृश्यता की प्रथा ने समाज को कितना दूषित कर रखा था । सारे भारत में पददलित वर्गों की संख्या 5,0,192,000 थी । उत्तर प्रदेश में वे सारी आबादी के 23 प्रतिशत थी । इस तरह सामाजिक तौर पर यह निकृष्ट वर्ग सारी आबादी में पाँचवे भाग थे ।[3]

उन्नीसवीं शताब्दी मे जातिवाद की समस्या भी अपने प्रबल रूप में थी, जिससे हिन्दू समाज का पतन हो रहा था । जातिवाद के कारण हिन्दू समाज कई श्रेणियों व उपश्रेणियों में विभक्त हो चुका था । हिन्दू सामाजिक संगठन के दो प्रधान स्तम्भ रहे हैं । सम्मिलित कुटुम्ब प्रथा और

---

1. ए0आर0 देसाई : भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, पृष्ठ–209
2. एम0ए0 बुश : राइज एंड ग्रोथ आफ इंडियन लिबरलिज्म, पृष्ठ–49
3. पी0थामस : हिन्दू रिलीजियन कस्टमस एंड मैनर्स, पृष्ठ–17–18

वर्ण व्यवस्था । उन्नीसवीं शताब्दी मे उनका अस्तित्व और स्वरूप अक्षुण्य ही नहीं बना हुआ था, वर्नकाल गति और विशेष परिस्थिति के अनुसार उनमें और भी कठोरता आने लगी थी । वर्ण–भेद के अन्तर्गत असंख्य जातियां और उपजातियों के विभाजन के कारण भारतवासियों को संगठित होने में बड़ी कठिनाई पड़ रही थी । एक ही जाति के अन्दर अनेक उपजातियां एक दूसरे से अपने को श्रेष्ठ मानने लगीं थीं ।

प्राचीन भारतीय समाज में वर्ण–व्यवस्था एक आदर्श व्यवस्था के रूप में दिखायी देती है । समय परिवर्तन के साथ ही इस वर्ण–व्यवस्था के समस्त आदर्श तो धीरे–धीरे विलुप्त हो गए, और उसका स्थान जातिवाद ने ले लिया । उच्च वर्ण के लोगों को समस्त सामाजिक व धार्मिक अधिकार प्राप्त होते गए और उनमें सत्तावादी प्रवृत्ति का जन्म होता गया । पी0 वी0 काणे के अनुसार आदि भारतीय समाज में केवल दो वर्ण थे, 'आर्य' और 'दस्यु' । प्रारम्भ में यह अर्न्तभेद केवल रंग व संस्कृति को लेकर था, अर्थात् सम्पूर्ण समाज का दो भागों में विभाजन केवल वर्णीय एवं सांस्कृतिक था । 'ऋगवेद' की एक कहानी इस बात पर प्रकाश डालती है, कि संभवतः ऋगवेदीय काल में क्षत्रियों एवं ब्राह्मणों में कर्म संबन्धी कोई अंतर नही था । ऋगवेद के पुरुषसुक्त में वर्ण–व्यवस्था को दैवी मान लिया गया । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र की उत्पत्ति क्रमशः मुख, बाहु, जांघो एवं पैरो से हुयी ।[1] प्राचीन वर्ण–व्यवस्था का जातियों व उपजातियों में परिवर्तन कई प्रकार से हुआ, जैसे निवास स्थान मे परिवर्तन तथा सामाजिक आर्थिक तथा साम्प्रदायिक आधार पर नवीन उपजातियों का निर्माण । 'प्रारम्भ में हिन्दू समाज में तीन या चार वर्ण थे, लेकिन बाद में प्रजातीय समिश्रण, भौगोलिक विस्तार, हस्तकला के विकास और नये व्यवसाय के उद्‌भव आदि के कारणों से प्रारम्भिक वर्ण विविध जातियों उपजातियों में विभक्त हो गए ।' [2] प्रत्येक जाति स्वयं में एक राष्ट्र बन गयी और समाज के सदस्यों के लिए जाति ही एक मात्र निष्ठा का केन्द्र बन गयी थी । लोगों का अनुराग जाति की परिधि से सीमित था न कि भारतीय राष्ट्र तक विस्तृत ।[3] प्रत्येक जाति में अपने अस्तित्व को अक्षुण्य रखने के प्रश्न को लेकर जो विघटन व फूट की प्रवृत्ति थी, उससे न केवल ब्रिटिश

---

1. पी0वी0 काणे : धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ–111–112
2. ए0आर0 देसाई : भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, पृष्ठ–193
3. सी0वाई0 चिन्तामणि : इन्डियन सोशल रिफार्म, पृष्ठ–195

आधिपत्य संभव हुआ बल्कि पूर्ववर्ती आक्रमणकारियों के भारत विजय के युद्ध अभियान भी । भारत की दुर्बलता का कारण यह जाति विभाजन रहा है । ब्रिटिश शासक इस बात को भली–भाँति जान गए थे, कि भारत मे अपने साम्राज्य के स्थायित्व के लिए जाति विभाजन अत्यन्त आवश्यक है । अतः सन् 1813 में सर ज्ञान मैकलम ने ब्रिटिश संसद की जांच कमेटी के सामने गवाही देते हुए कहा –– 'इस समय हमारा साम्राज्य इतनी दूर तक फैला हुआ है, कि जो असाधारण तरह की हुकूमत हमने इस देश में कायम की है, उसके बने रहने के लिए केवल एक बात का हमें सहारा है, वह यह कि जो बड़ी–बड़ी जातियां इस समय अंग्रेज सरकार के अधीन हैं, वे सब एक दूसरे से अलग–अलग है और जातियों में भी फिर अनेक जातियां और उपजातियां हैं, जब तक ये लोग इस तरह विभाजित रहेगें, तब तक कोई भी ताकत हमारी सत्ता को हिला नहीं सकता । जितनी लोगों में एकता पैदा होती जाएगी, उतना ही बल आता जाएगा, जिससे वे वर्तमान अंग्रेजी सरकार की सत्ता को अपने ऊपर से हटाकर फेंक सके उतना ही हमारे लिए शासन करना कठिन होता जाएगा।[1] अंग्रेजों ने भारत में 'विभाजन व शासन' के सिद्धान्त को व्यवहारिक रूप प्रदान कर शासन सुरक्षित रखना चाहा । इस जाति विभाजन की कठोरता के कारण समाज में मनुष्य की योग्यता को कोई महत्व नहीं दिया जाता था । उसका सामाजिक अस्तित्व उसके जन्म पर आधारित था । 'जातिवाद सत्तावादी और जनतांत्रिक थी । इस पदानुक्रमित श्रेणी श्रृंखला में जाति विशेष की स्थिति से ही उस जाति मे पैदा हुए व्यक्ति का सामाजिक स्थान निर्धारित होता था ।'[2] इस जाति व्यवस्था के संबन्ध में दुबाय का कहना है, कि एक हिन्दू के लिए सभी प्रकार के दंडों में सबसे अधिक कठोर और असहनीय दंड था, उसे जाति से बाहर निकाल देना ।[3] हिन्दू समाज में जाति व्यवस्था से संबन्धित अनेक नियम प्रचलित थे, जिनका पालन करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनिवार्य था । इन नियमों के उल्लंघन करने पर व्यक्ति को उसकी जाति से बहिष्कृत किए जाने की व्यवस्था थी । 'हिन्दू समाज में जाति व्यवस्था संबन्धी नियमों का संबन्ध मुख्यतः विवाह, भोजन, व्यवसाय तथा विदेश यात्रा से था । कोई भी व्यक्ति अपनी जाति से बाहर विवाह नहीं कर सकता था । उसके लिए अपनी ही जाति की उपशाखाओं में विवाह करना आवश्यक था । अपने से निम्न जाति के लोगों के साथ भोजन करना निषिद्ध था ।[4]

---

1. पं0 सुन्दरलाल, भारत में अंग्रेजी राज द्वितीय खंड, पृष्ठ–688–689
2. ए0आर0 देसाई : भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, पृष्ठ–193
3. एबे0जे0ए0 दुबाय, हिन्दू मैनर्स कस्टम एण्ड सेरेमनीज, पृष्ठ–38
4. जे0एन0 फर्कुहर : इन्डियन रिलीजियस मूवमेण्ट्स इन इण्डिया, पृष्ठ–418

साम्प्रदायिक्ताकी भावना का भी विकास हो रहा था । भारत में साम्प्रदायिकता का बीज अति प्राचीन काल में ही बो दिया गया था । लेकिन इसका बढ़ता हुआ रूप हमें मुसलमानों का शासन स्थापित हो जाने के बाद देखने को मिलता है । अंग्रेजों ने इसी साम्प्रदायिकता का भरपूर लाभ उठाकर हिन्दू और मुसलमानों को एक दूसरें से लड़ाकर अपना राज्य स्थापित करने में सक्षम हुए थे। उन्नीसवीं शताब्दी तक अंगेजों की कूटनीति के फलस्वरूप यह साम्प्रदायिकता और बढ़ गयी ।

हिन्दू समाज में पुरोहितों का प्रभाव रोम के पोपों के समान प्रबल था । तत्कालीन समाज में पुरोहित जीते जागते अखबार थे । पुरोहितों का पूरे समाज पर इतना कड़ा नियंत्रण व्याप्त था, जिसके फलस्वरूप व्यक्ति की स्वतंत्र रूप से कार्य व विचार करने की सभी शक्तियां समाप्त हो गयीं थी । पुरोहितों की आंखों से जनता देखती थी, उन्हीं के कानों से सुनती थी । यह किसी भी मूल्य सामाजिक आर्थिक समाजवाद को स्थापित नहीं होने देना चाहता था । क्योकि इससे उनकी आर्थिक समृद्धि को ठेस पहुँचाती थी । किसी कार्य के प्रारम्भ करने का मुहूर्त, नक्षत्रों व ग्रहों की शांति के लिए मंत्र पढना, शिशु के जन्म पर उसका नामकरण व जन्मकुंडली बनाना, नये गृहों व जलाशयों के लिए शुभकामनाएं, देवालयो व मूर्तियों मे मंत्र शक्तियों से देवत्व स्थापना, ये सब कार्य पुरोहितों के थे ।[1]

पुरोहित व्यक्ति व ईश्वर के मध्य संदेशवाहक के रूप में थे । दफ्तर से आए हुए लोगों पर पुरोहित का शासन ऐसा चलता था कि उनके कपड़े बाहर ही उतार दिए जाते थे, और स्नान करके पूजा के बाद मुँह में पानी की बूँद पड़ती थी, यदि कभी कोई किसी कारणवश स्नान व पूजा नहीं कर पाता था, तो पुरोहित को दंडस्वरूप वह कुछ भेंट करता था, जिससे उसका पाप धुल जाता था । आर्थिक शक्ति भी इसी धर्मतंत्र के हाथ में थी । हिन्दू चर्च, किसानों की उपज से कुछ निर्धारित अंश लेता था । मंदिरों में भेंट उपहार व अन्य चीजों से काफी धन इकट्ठा होता था, जिससे महन्त व पुजारी विलासिता व पाखंड का जीवन यापन करते थे । इस प्रकार धर्म के नाम पर ये लोग कुटिलता व धूर्तता के साथ जनता का शोषण करते थे ।

---

1. ऐबे0जे0ए0 दुबाय, हिन्दू मैनर्स कस्टम एण्ड सेरेमनीज, पृष्ठ–586

धार्मिक असहिष्णुता व धर्मान्धता के कारण विभिन्न धर्मानुयायियों के मध्य लगातार तनाव व ईर्ष्या द्वेष का वातावरण व्याप्त था । विभिन्न धर्मों के मध्य ईश्वर सबंधी धारणा तथा उसको प्राप्त करने के मार्गों के संबंध में आम सहमति नहीं थी, कालान्तर में यही धर्म परिवर्तन धार्मिक आतंक साम्प्रदायिक उत्पात आदि उग्र होता गया ।

भारत में एक सामान्य धर्म के अभाव में धर्म के आधार पर राष्ट्रीय एकता संभव नहीं थी । बहुदेववाद व संकीर्ण साम्प्रदायिकता के कारण भारतीय समाज की आस्थाएं विकेन्द्रित व विभक्त हो गयी थी । सामाजिक कुरीतियां बढ़ रही थी, विघटनकारी धार्मिक मनोवृत्तियों के कारण राष्ट्रवाद का उत्कर्ष नहीं हो पा रहा था । भारतीय धर्म की व्याख्या का एक रूप वामाचार था, जिसमें रहस्मय ढंग से मदिरापान आदि के साथ शक्ति की उपासना के धार्मिक अभ्यास किए जाते थे । तंत्र–मंत्र की सिद्धि व शक्ति की प्राप्ति के लिए वामाचार था, लेकिन इससे वासनापूर्ति भी होती थी । वामाचार में खान–पान आचरण के माप–दण्ड की कोई मर्यादाएं नहीं थी । वामाचार का कुत्सित साहित्य भी था, जिसका दुष्प्रभाव सामाजिक जीवन पर पड़ रहा था । वामाचार या शक्ति पूजा की प्रथा बंगाल में सर्वाधिक प्रचलित थी । इस सदी में 'ठगी' जैसे घृणित कार्य को भी समाज में दैवी प्रकोप के रूप मे प्रतिष्ठित माना जाने लगा था । ठगों के प्रति सामान्य धारणा यह थी, कि ठगी व्यक्ति के दुर्भाग्य से होती है, और उसके विरुद्ध कार्यवाही के लिए पहल करना दैवी गुणों को सताकर देवी को रूष्ट करना है ।[1]

'मद्यपान' भारतीय सामाजिक जीवन में एक ऐसा रोग था, जिससे एक कांतिहीन रूग्ण, निर्धन व नैतिक मूल्यों से हीन पीढ़ी का निर्माण हो रहा था । ब्रिटिश शासक की नीतियों व सम्पर्क के कारण भारत में मद्यपान का प्रचलन बढ़ गया था ।[2] मद्यपान के द्वारा ब्रिटिश शासन का आबकारी राजस्व बढ़ता जा रहा था, इसलिए ब्रिटिश शासक ने इसका निषेध नहीं किया ।

---

1. एच0एच0 ड्राइवेल द्वारा सम्पादित, द कैम्ब्रिज शार्टर हिस्ट्री आफ इंडिया, पृष्ठ–625
2. पं0 सुन्दरलाल, भारत में अंग्रेजी राज, द्वितीय खंड, पृष्ठ–560

जैसे कि इन आँकड़ो[1] से स्पष्ट होता है--

वर्ष	धनराशि पौंड
1874–75	1,755,000
1883–84	2,840,000
1894–95	3,965,000
1898–99	4,126,000

बंगाल की स्थिति के संबंध में एन.एस.बोस ने लिखा है कि व्यक्तिगत रुप से व समूह मे मादक पदार्थों का सेवन किया जाता था, यहाँ तक कि इस कार्य के लिए कलकत्ते में समितियां भी थी ।[2]

तत्कालीन हिन्दू समाज के अन्तर्गत व्याप्त कुप्रथाओं में नारी की दशा अत्यन्त ही शोचनीय थी । सबसे बड़ा आघात नारी को सहन करना पड़ता था । के.सी. व्यास के शब्दों में "भारत की नारियां नरक का सा जीवन व्यतीत कर रही थीं, नारी को भारत मे कोई सामाजिक अधिकार प्राप्त नहीं थे, शिक्षा व नवीन चेतना का कोई प्रश्न ही नहीं था ।[3] देसाई के अनुसार भारतीय नारी सती और बाल हत्या जैसे बर्बर क्रूर प्रथाओं का शिकार थी ।[4]

पति के मरने पर विधवा का पति की चिन्ता पर जलकर भस्म हो जाना, यह सती प्रथा धार्मिक रुप में महत्वपूर्ण समझा जाता था । प्राचीन काल में सती होने के पीछे धार्मिक आग्रह नहीं था । कीथ के अनुसार "ऋग्वेद में जिस प्रकार जीवन के सुख आनंद एवं भक्ति का ब्यान किया गया है, उससे स्पष्ट होता हे, कि इस काल में सती प्रथा नहीं थी, इस प्रकार की धार्मिक हत्या का उल्लेख नहीं मिलता । मनुस्मृति इस संबंध में मौन है । महाभारत में कुछ विधवाओं के सती

---

1. सी0वाई0 चिन्तामणि, इंडियन सोशल रिफार्म पृ0 92 (ऑकड़े)
2. एन0एस0बोस0 इंडियन अवेकनिंग इन बंगाल पृ0 6
3. के.सी. व्यास द सोशल रेनासा इन इंडिया पृष्ठ–46
4. ए.आर. देसाई भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठ भूमि पृष्ठ–219

होने के सन्दर्भ मिलते हैं । विराट पर्व मे " सैरान्धरी" के सती होने का उल्लेख है । मौसला पर्व मे वासुदेव की मृत्यु होने पर उसकी चार पत्नियां देवकी, भद्रा, रोहिणी और मदिरा के सती होने का उल्लेख है ।[1] रामायण में सती होने के उदाहरण नहीं मिलते । इससे ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में यह सती प्रथा बड़े-बड़े राजघरानो या सांमतो मे ही थी या क्षत्रियों तक ही सीमित थी, जनसाधारण के रुप में इसका प्रचलन नहीं था । प्राचीन काल में सती होने के पीछे धार्मिक आग्रह नहीं था, पवित्रता, शौर्य की भावनायें प्रमुख थी ।

मध्यकाल में जब अविवेकपूर्ण सामाजिक पाखंड तथा पुरोहित पवित्रता धर्म पर छोने लगी, जब हिन्दू धर्म का आधार तर्कपूर्ण ढंग से करने का ज्ञान नहीं रह गया, तो सती की धारणा को धार्मिक रुप देकर व्यापक बना दिया गया । यह धारण प्रबल हो गयी कि सती हो जाने से उसके पति के पाप नष्ट हो जाते हैं, वह स्वर्ग में अपनी पत्नी के साथ आनंद व सुख में रहेगा । लोगो में यह धारणा घर कर गयी धर्म ने विधवा के लिए सती होने का ही मार्ग बताया है ।[2]

उन्नीसवीं शताब्दी तक आते-आते यह अमानुषिक सती प्रथा मुख्य रुप से बंगाल में उच्च शिखर पर पहुँच चुकी थी । विधवाओं को मृत पति के साथ ही बलात् चिता में झोंक दिया जाता था, और जब तक वे जलकर भस्म नहीं हो जाती थी, तब तक उन्हें बांस के लट्ठों से दबाए रखा जाता था । अनेकों विधवाएं वैधव्य जीवन की यातनाओं के स्मरण मात्र हाने स ही सती होने के लिए तैयार हो जाती थी ।[3] विधवाओं का पुनर्विवाह धर्म के विरुद्ध माना जाता था । अतः यह भय बना रहता था कि विधवा स्त्री पुनः विवाह कर लेगी, तो उनके कुल पर कलंक लगेगा या उसके शील पर ही अविश्वास किया जायेगा, अपने ऐसे दुखमय भविष्य की कल्पना करने वाली भावुक महिलाएं जीवित रहने की अपेक्षा सती हो जाना ही उचित समझती थी । भ्रष्ट समाज भी उन्हें इस ओर

---

1. उपेन्द्र नाथ ठाकुर, द हिस्ट्री ऑफ सोसाइड इन इंडिया पृ0- 126-128
2. उपेन्द्र नाथ ठाकुर, द हिस्ट्री ऑफ सोसाइड इन इंडिया पृ0-128
3. ऐबे0जे0ए0 दुबाय, हिन्दू मैनर्स कस्टमस एंड सेरेमनीज पृ0-361

अग्रसर करने के लिए प्रेरित करता था, सती को श्रद्धा का पात्र समझा जाता था । इस प्रथा के पीछ आर्थिक कारण भी था । बंगाल में दाय–भाग के प्रचलन से पुत्रहीन विधवा का सयुक्त परिवार की सम्पति में वही अधिकार हो गया था, जो उसके पति का होता था, परिवार की सम्पत्ति पर अधिक लोगों का हिस्सा न हो इसके लिए यह उचित समझा गया कि विधवा को मृत पति के साथ प्राण त्याग के लिए प्रेरित कर दिया जाए या उसे बलात् अग्नि शिखाओं को अर्पित कर दिया जाए ।[1] अकाल के कारण निर्धनता की चरम सीमा न केवल बंगाल में पहुँच गई, वरन् सम्पूर्ण भारत बंगाल हो गया था । ऐसी स्थिति में विधवा पुनर्विवाह के द्वारा जनसंख्या का बढ़ना घातक समझा गया । निर्धनता अकाल व जनसंख्या की दृष्टि से विधवाएं परिवार में सबसे बड़ा बोझा थी । इसके अलावा विधवा स्त्री को पति के घर से भी कोई संरक्षण प्राप्त नहीं होता था और न ही वे अपने माता–पिता के घर से ही कोई संरक्षण प्राप्त कर पाती थीं । ऐसी स्थिति में विधवाओं को जला देना आर्थिक विवशता ही समझी जा सकती है ।

मध्य प्रदेश के शिलालेख से ज्ञात होता है कि सन् 1500 से 1800 ई0 के मध्य जुलाहा, नाई, राजा आदि सभी सामाजिक श्रेणियों और वर्गों की स्त्रियां सती हुआ करती थीं । टाड ने लिखा है कि मारवाड़ में सन् 1724 में राजा अजीत सिंह की मृत्यु पर 64 रानियां उसकी चिता पर चढ़ी सती की यह प्रथा सम्पूर्ण देश में प्रचलित थी, परन्तु बंगाल राजपुताना, बनारस, राजस्थान आदि सबसे अधिक प्रभावित क्षेत्र थे ।[2] यात्रियो और लेखकों से ज्ञात होता है, कि बंगाल में यह प्रथा विधवा का जलना भारत के सभी जगहों की तुलना में सबसे अधिक प्रचलित थी । 1815 से 1828 के मध्य बंगाल से बनारस तक के क्षेत्र के अन्दर सबसे अधिक संख्या में सती की घटनाएं मिलती हैं । अग्र तालिका से ज्ञात होता है, कि बंगाल में सती की घटनाएं कितनी तीव्र गति से बढ़ रही थी––

---

1. ऐबे0जे0ऐ0 दुबाय, हिन्दू मैनर्स कस्टमस एण्ड सेरेमनीज पृ0–362
2. हरिदत्त वेदालंकार, हिन्दू विवाह का संक्षिप्त इतिहास पृ0–361

	1815	1816	1817	1818
कलकत्ता	253	289	441	544
ढाका	31	24	52	58
मुर्शिदाबाद	11	22	42	30
पटना	20	29	39	57
बनारस	48	65	103	7
बरेली	17	13	19	13
	380	442	696	839

उपर्युक्त ऑकडो र ज्ञात होता है, कि 1815 मे कुल 380 स्त्रिया सती हुयी थी, 1818 मे यह उच्च शिखर पर पहुँच गई, इनकी संख्या 839 हो गई। सथ ही यह भी ज्ञात होता है, कि कलकत्ता व बनारस के क्षेत्र मे सबसे अधिक सती की घटनाएं हुयी थी।

उन्नीसवी शताब्दी में बाल विवाह जैसी प्रथा ने भारतीय सामाजिक दशा को दूषित कर रखा था। बाल विवाह इस समय समाज में धुन की तरह काम कर रहा था।[2] इसके प्रचलित होने के कई कारण थे। पहला शास्त्रीय व्यवस्था और रुढ़िवाद था। विभिन्न स्मृतियो मे इस बात पर बल दिया गया था, कि रजोदर्शन से पूर्व ही कन्या का विवाह हो जाना चाहिए, अन्यथा उनके माता–पिता को पाप लगेगा। इसके अलावा राजनीतिक परिस्थितियां भी उत्तरदायी थी।

मध्ययुग में विदेशी आक्रमण तथा उनका शासन स्थापित होने पर देश की तत्कालीन स्थिति बड़ी ही अनिश्चित और असुरक्षित हो गयी थी। हिन्दू विधर्मी मलेच्छों को अपनी कन्या देना नहीं चाहते थे, कन्याओं को मुस्लिम हाथों में पड़ने से बचाने का सरल उपाय यही था कि छोटी उम्र में ही उनका विवाह कर दिया जाए। दहेज जैसी प्रथा भी इसके प्रचलन में सहायक है। छोटी उम्र में विवाह करने पर दहेज का प्रश्न इतनी कठनाई पैदा नहीं करता है। अतः इसके कारण अब

---

1. उपेन्द्र नाथ ठाकुर, द हिस्ट्री ऑफ सोसाइड इन इंडिया, पृ0–171
2. लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, आधुनिक हिन्दी साहित्य पृ0–81

समाज में न केवल रजोदर्शन से पूर्व बल्कि आठ से दस वर्ष की आयु में ही विवाह करना आवश्यक समझा जाने लगा ।[1] संयुक्त परिवार की प्रणाली ने भी बाल विवाह को काफी प्रोत्साहित किया है, क्यों कि विवाह के द्वारा उत्पन्न समस्त उत्तरदायित्व विवाह करने वाले लड़के पर नहीं वरन् उसके संयुक्त परिवार पर था, उसके स्त्री और बच्चों के भरण–पोषण का भार संयुक्त परिवार के कंधो पर होता था ।[2]

सती प्रथा ने बाल विवाह को प्रचलित होने में योग दिया । पिता की मृत्यु के साथ ही माता के सती हो जाने से बच्चों के देखभाल की समस्या गंभीर हो जाती थी । इस बाल विवाह से अनेकों दुष्परिणाम होते थे । जैसे स्वास्थ्य मे गिरावट, रुग्ण संतान, शिक्षा प्राप्ति में बाधाएं आदि । बचपन में ही वैवाहिक दायित्व आ जाने से शीघ्र ही बालिकाएं मां बन जाती थी अधिकांश प्रसव काल में ही प्राण त्याग देती थीं । 1890 में बंगाल मे फूलमणि नामक सुकोमल कन्या का 11 वर्ष की आयु में पति के साथ सहवास करने के कारण देहान्त हो गया । पति पर पत्नी की हत्या का अभियोग चलाया गया, तो भारतीय दंडविधान की दस वर्ष की आयु में दाम्पत्य सहवास की उर्पयुक्त व्यवस्था के आधार पर निर्दोष समझा गया । दंड विधान में लड़की के लिए दाम्पत्य सहवास की न्यूनतम अवस्था दस वर्ष थी । इससे कम आयु में सहवास को ही दंडनीय अपराध बनाया गया था । बाल विवाह के कारण बाल विधवाओं की की संख्या भी बढ़ रही थी । 1851 की जनगणना की रिपोर्ट के अनुसार 5 वर्ष से 14 वर्ष की आयु में विवाहित पुरुषों की संख्या 28 लाख 33 हजार विवाहित स्त्रियों की संख्या 61 लाख 18 हजार, विधुर पुरुषों की संख्या 66 हजार तथा विधवाओं की संख्या 1 लाख 34 हजार थी ।[3] सन् 1831 में बाल विवाह की संख्या आंकड़ों द्वारा इस प्रकार प्रस्तुत की गई ।[4]

---

1. हरिदत्त वेदलंकार, हिन्दू विवाह का संक्षिप्त इतिहास पृ0–306
2. ए0एस0अल्टेकर, पोजीशन ऑफ वोमेन इनहिन्दू सिविला इजेशन पृ0– 59–61
3. हरिदत्त वेदालंकार, हिन्दू विवाह का संक्षिप्त इतिहास, पृ0–329
4. सी0वाई0 चिन्तामणि, इंडियन सोशल रिकार्म पृ0–171

आयु	लिंग	संख्या
4 वर्ष से कम	बालक	89051 विवाहित थे
4 वर्ष से कम	बालिकाएं	223560 विवाहित थी
5 वर्ष से 9 वर्ष के मध्य	बालक	602000 विवाहित थे
5 वर्ष से 9 वर्ष के मध्य	बालिकाएं	1850000 विवाहित थी
14 वर्ष से कम	बालक	27125124 विवाहित थे
14 वर्ष से कम	बालिकाएं	6871999 विवाहित थी

उपर्युक्त ऑकड़ों से ज्ञात होता है कि सदियों से चली आई । हिन्दू समाज की यह अमानुषिक प्रथा उन्नीसवीं शताब्दी में अपने चरम रुप में थी । यद्यपि समय–समय पर इसे रोकने के प्रयत्न किए गए थे । मुगल सम्राट अकबर जहॉंगीर ने इसे दिल्ली के आस–पास के स्थानों पर बन्द करा दिया था ।

तत्कालीन भारतीय समाज मे जहॉं हिन्दुओ में रक्त की शुद्धता बनाए रखने के लिए बाल विवाह जैसी अमानुषिक प्रथा प्रचलित थी वहीं दूसरी ओर विधवा विवाह पर कठोर प्रतिबन्ध की प्रथा भी प्रचलित थी । विधवा नारी का समाज में कोई निश्चित आधार नहीं था, समाज उसे अवांछित दृष्टि से देखता था ।

"वैदिक युग में नियोग की प्रथा के प्रचलन से स्पष्ट होता है, कि उस समय विधवा विवाह होते थे, उन पर प्रतिबन्ध नही था । नियोग प्रथा से तात्पर्य "विधवा स्त्री पुत्र प्राप्ति की इच्छा से अपने देवर के साथ या देवर न हो तो सगोत्र या सजातीय पुरुष के साथ संबंध स्थापित कर सकती है । पति के असाध्य रोगी होने पर या नपुंसक होने पर भी स्त्री पुत्र प्राप्ति के लिए नियोग कर सकती है ।[1] परन्तु धीरे–धीरे इस प्रथा में कमी आने लगी और समाज में विधवा विवाह के पीछे धार्मिक अंधविश्वास की भावना काम करने लगी । जिन विधवा स्त्री के बच्चे जीवित होते

---

1. वी0एन0 लूनिया, प्राचीन भारतीय संस्कृति पृ0–720

थे, वे विवाह नहीं करती थी, विधवा का जीवन ही व्यतीत करती थीं। जो स्त्री अपने पति से बहुत ही अगाध, प्रेम, श्रद्धा या लगाव रखंती थी, वह अपने मन में उसकी याद में ही अकेले जीवन काटना पसद करती थीं। कुछ विधवा परम्पराओं के आधार पर अर्थात धार्मिक अंधविश्वास व्याप्त होने के कारण विधवा जीवन बिताती थी। पुराण में तो यहां तक लिखा है, कि कलियुग में विधवा विवाह नहीं होना चाहिए। ऐसी विधवाओं को समाज में हेय दृष्टि से देखा जाता था। पी0वी0 कोण के अनुसार "विधवा अमंगल की सूचक थीं, वह किसी भी उत्सव में यथा विवाह में किसी प्रकार से भाग नहीं ले सकती थी, उसे न केवल पूर्ण रुप से साध्वी रहना पड़ता था चाहे वह बचपन से ही विधवा क्यों न हो, प्रत्युत्त उसे सन्यासी की भाँति रहना पड़ता था, कम भोजन, कम वस्त्र धारण करना पड़ता था, उसको सम्पत्ति का अधिकार भी कुछ नहीं था।[1] इन के सिर के बाल मुड़वा दिए जाते थे और उन्हें काले वस्त्रों में रखा जाता था।

मनु ने विधवा के पुनर्विवाह का विरोध किया है। उनके अनुसार सदाचारी नारियों के लिए दूसरे पति की घोषणा कहीं नही हुयी है।[2] 1931 की जनगणना के अनुसार भारत में 54,96,600 विधवाएं थी। इनमें से एक चौथाई विधवाओं की आयु 20 वर्ष से कम है। 1 वर्ष से कम आयु की दुधमुँही विधवाओं की संख्या 1515 थी। 1 से 2, 2 से 3, 3 से 4 वर्ष की नन्हीं विधवाओं की संख्या क्रमशः 1785, 15 वर्ष और 9076 थी। 5 से 10, व 10 से 3485 की 105482 तथा 185339 बालिकाएं वैधव्य का दुख भोग रही थी। इस प्रकार यह प्रथा हिन्दू समाज में बड़े पैमाने में प्रचलित थी।

उन्नीसवीं शताब्दी में वहुविवाह जैसी प्रथा नारी की दशा को शोचनीय बना रही थी।[3] यह प्रथा मुस्लिम धर्म में तो थी ही, हिन्दुओं में भी पूर्ण रुप से व्याप्त हो गयी थी। यह प्रवृत्ति सारे हिन्दू समाज में प्रचलित हो गयी थी। बंगाल में बहुविवाह प्रथा सबसे अधिक प्रचलित थी।

---

1. पी0वी0 काणे, धर्म शास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग पृ0–331
2. पी0वी0काणे, धर्म शास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग पृ0–344
3. हरिदत्त वेदालंकार, हिन्दू विवाह का संक्षिप्त इतिहास पृ0–348

महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सतुकाराम के दो पत्नियां थी । बंगाल के कुलीनवर्ग के लोग बहुविवाह करते थे, और बंगाल में ब्राह्मण द्वारा भी बहुविवाह किया जाना सम्मानजनक माना जाता था ।[1] यह प्रथा बंगाल के अतिरिक्त उत्तर–प्रदेश पंजाब में भी प्रचलित थी । यह प्रथा स्त्रियों पर सामाजिक प्रहार का द्योतक थी, इससे स्त्रियों की स्थिति असंतोषजनक हो जाया करती थी । कुलीन ब्राह्मणो द्वारा कई विवाह किए जाने पर पत्नियों को ज्यादातर मायके में ही रखता था और धनराशि या दहेज के लालच से ही उससे मिलने जाता था । ऐसी स्थिति में अधिकतर स्त्रियां विधवा का सा जीवन व्यतीत करती थी । समानता का व्यवहार नहीं होता था । ऐसी स्त्रियों के लिए दो ही विकल्प थे या तो वे भिक्षावृत्ति करें या वेश्यावृत्ति करें । बहुविवाह संबंधी सरकारी कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में इस प्रथा के द्वारा उत्पन्न ग्यारह बुराईयों का उल्लेख किया है, जिनमें वेश्यवृत्ति, व्यभिचार, गर्भपात, भ्रूणहत्या तथा शिशु हत्या मुख्य है ।[2]

पर्दा प्रथा का प्रचलन पूर्ण रुप से व्याप्त था । प्राचीन काल मे आवश्यकतानुसार या परिस्थितिवश ही पर्दा रहता था । पर्दा सदा नहीं रहा, इस संबंध में मेगस्थनीज का कहना है कि कोई स्त्री पर्दा नहीं करती थी, शाही परिवार की स्त्रियां पुरुषों के समान ही स्वतंत्रतापूर्वक घूम फिरसकती थी, वह राजा के साथ हाथी–घोड़ो पर चढ़कर शिकार पर जा सकती थीं । भास के प्रतिमानाटक के प्रथम अंक से भी ज्ञात होता है कि धनी वर्ग की स्त्रियां यज्ञ विवाह या वन में या विपत्ति पड़ने पर पर्दा नहीं रखती थीं ।[3]

इस प्रथा को मुस्लिम आक्रमणकारियों के फलस्वरूप बल मिला । मुस्लिम शासन के प्रभाव के कारण ही पर्दा और बुरका उत्तरी भारत में अपनाया । अतः ये दोनों मुस्लिम शासन की देन है । मुस्लिम विजेता व शासकों के कारण, दूसरे दीर्घकालिक मुस्लिम शासन की अराजकता व आतंक के कारण हिन्दू स्त्रियों ने स्वयं की स्वतंत्रता के घर की चहारदिवारों तक सीमित कर लिया इस प्रथा

---

1. एम0ए0बुश, राइज एंड ग्रोथ आफ इंडियन लिबरलिज्म पृ0–53
2. हरिदत्त वेदालंकार, हिन्दू विवाह का संक्षिप्त इतिहास पृ0–401
3. डा0 राम जी उपाध्याय, भारतीय सामाजिक क्रांति पृ0–88

के प्रचलन के पीछे यह भी कारण है कि पुरुष यह नहीं चाहता था, कि उनकी स्त्री के सौन्दर्य को देखकर अन्य व्यक्ति आकृष्ट हो । कालान्तर में यह प्रथा इतनी अधिक विकसित हो गयी कि परिवारों के मध्य भी महिलाएं पर्दें मे रहने लगीं । राजस्थान में पर्दा प्रथा एक अनिवार्य प्रथा बन गई है, वहाँ इसे आज भी सम्मान और प्रतिष्ठा की दृष्टि से देख जाता है ।[1] बुश के अनुसार हिन्दू और मुसलमानों के घरेलू जीवन मे पर्दा प्रथा बहुत बड़ी विशेषता रखती थी । उच्च जाति वर्ग की स्त्रियां अपने घरों से बाहर तक नहीं निकलती थी । वह समाज जिसमें वह जन्म लेती थीं, उसी में वह इस भाँति अपना जीवन यापन करती थी, जिस प्रकार एक अपराधी बहुत दिनों से जेल मे पड़ा रहता है । उनकी सहायता करने वाला कोई नहीं होता था । जिसके परिणामस्वरूप उनका स्वास्थ्य खराब हो जाता था, उनकी स्वभावतः तीव्र ज्ञानेन्द्रिया निष्क्रियता के कारण सुस्त पड़ जाती हैं और ज्ञान के प्रकाश के अभाव के कारण रीति–रिवाजों के इस अंधकार में वह घुट–घुट कर शहीद हो जाती थी ।[2] स्पष्ट है कि पर्दा प्रथा ने उन्नीसवीं शताब्दी में अपना उग्र रूप धारण कर हिन्दू समाज को दूषित कर रखा था ।

उन्नीसवीं सदी में भारतीय समाज स्त्री जाति के प्रति कितना हिंसक हो गया था, सती प्रथा के बाद शिशु वध की प्रथा इसका अद्वितीय उदाहरण है । पुत्रों को संरक्षित रखकर कन्याओं की बलि दे देना अत्यन्त नृशंसतापूर्ण था । यह प्रथा उत्तर प्रदेश, राजस्थान, पंजाब तथा गुजरात आदि प्रदेशों में सामाजिक प्रथा के रूप में दृढ़ हो चुकी थी । प्राचीन काल में नारी को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था, क्योंकि उनके चार रूप बताये गए हैं ।देवी रूप, माता रूप, पत्नी एवं कन्या रूप । मध्य युग में धार्मिक अंधविश्वास के कारण यह प्रथा दृढ़ हो गयी । हिन्दू के घर में कन्या का जन्म होना बड़ा अशुभ माना जाता था, इसलिए कन्या का जन्म होते ही उसे भूखा रखकर या गला घोटकर मार डाला जाता था, इसके बाद जिस कमरे में उसका जन्म होता था, उसी में उसे गाड़कर ऊपर से गोबर से लीप दिया जाता था । तेरहवे दिन शुद्धि के लिए कुल का पुरोहित वहाँ पर भोजन बनाकर खाता था । कई स्थानों में माँ–बाप अपनी पहली संतान को गंगा मैया को प्रसन्न करने के लिए उसमे समर्पित कर देते थे । इस प्रकार के धार्मिक अंधविश्वास के रूप में यह प्रथा प्रचलित हो गयी थी । इस प्रथा के पीछे राजपूती आन भी

---

1. वी0एन0 लूनिया प्राचीन भारतीय संस्कृति पृ0–725
2. एम0ए0 बुश, राइज एंड ग्रोथ ऑफ इंडियन लिबरलिज्म पृ0–54

काम करती थी। राजपूत लोग अपनी जाति को बड़ा ही श्रेष्ठ मानते थे, वे अपनी कन्याओ को निम्न जाति में देना अपमानजनक समझते थे, ऐसी स्थिति में दिल्ली के मुसलमान शासक राजपूतों से अपनी कन्याएं माँग बैठते थे, यदि राजपूत देने से इंकार करते, तो उन्हे युद्ध का सामना करना पड़ता था, अतः इस स्थिति से बचने के लिए कन्या के पैदा होते ही मार डालना उचित समझते थे। दहेज के कारण भी बाल–हत्या होती थी।[1] ए0आर0 देसाई का इस संबंध में कथन है कि 'गरीब माँ–बाप के लिए लड़की की शादी काफी महंगी पड़ती थी, इसलिए माँ–बाप प्रायः नवजात बच्चियों की हत्या कर देते थे।'[2] मोक्ष की प्राप्ति के लिए तथा वंश की निरंतरता को बनाए रखने के लिए पुत्र का अनिवार्य होना आवश्यक समझा जाता था जिसके कारण पुत्रों को संरक्षित रखकर कन्याओं की बलि दे देना अत्यन्त नृशंसपूर्ण प्रथा बन चुकी थी। 'अंग्रेजी शासकों का ध्यान इस कुरीति को रोकने की ओर गया था। इस प्रथा को समाप्त करने के लिए 1802 मे लार्ड वेलेजली ने महत्वपूर्ण प्रयास किए थे।'

समाज के कुछ वर्गों का इतना नैतिक पतन हो चुका था कि वेश्यावृत्ति अब जीविकोपार्जन का साधन बनता जा रहा था। पिछली शताब्दी में मंदिरों में पर्याप्त संख्या में देवताओं के मनोरंजन व सेवा के लिए पर्याप्त संख्या मे नर्तकियों की व्यवस्था थी। प्राचीन समय मे मंदिरों की स्थापना तथा मूर्ति प्रतिष्ठा के साथ देव सेवा हेतु कन्याओं का भी दान होता था इसलिए उन्हें धार्मिक नाम देवदासी दिया गया। इस धार्मिक कार्य के लिए पारिश्रमिक मिलता था, जो कि नाम–मात्र का होता था। विवश होकर उन्हें शारीरिक पवित्रता बेचनी पड़ती थी।[3] देसाई के अनुसार वेश्यावृत्ति की प्रथा नए भारत को विरासत मे मिली थी। यद्यपि इस तरह की प्रथा प्राचीन यूनान मे भी प्रचलित थी देवदासियों की वंशागत जाति ही थी। और ये बचपन में ही मंदिर की सेवा में समर्पित हो जाती थी। हाल में मद्रास में उनकी संख्या लगभग दो लाख रही होगी। धार्मिक मान्यता प्राप्त देवदासियों की प्रथा स्त्रियों के साथ सामूहिक अनैतिक संबंधों का प्रछन्न रूप बनती गई। उनकी संतानें भी अभिशप्त जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य थीं। भारत के कई भागों में विवाह का विकल्प कन्या

---

1. के0पी0 करूणाकरन, कन्टीन्यूटी एंड चेन्ज इन इण्डियन पालिटिक्स, पृष्ठ–159
2. ए0आर0 देसाई, भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठ भूमि, पृष्ठ–219
3. ऐबे0जे0ए0 दुबाय हिन्दू मैनर्स कस्टमस सेरेमनीज, पृष्ठ–586

का विवाह भौतिक पदार्थों से भी कर देना था । बालिकाओं का विवाह किसी मूर्ति, पूष्प, कृपाण या अन्य निर्जीव वस्तु से करते थे, ताकि उन्हें वास्तविक विवाह से बचाया जा सके । भौतिक वस्तुओं से विवाह की औपचारिकता पूरी करना स्त्री जाति के भविष्य को अंधकारमय करना था ।[1]

स्त्रियों को शिक्षा से वंचित रखा जाना उन्नीसवीं शताब्दी की प्रमुख बुराई थी । कुछ अपवादों को छोड़कर स्त्रियों को शिक्षा नहीं दी जाती थी । मध्यकाल की अपेक्षा प्राचीन काल में स्त्री शिक्षा संबंधी व्यवस्था कहीं उच्च थी । मध्ययुग में स्त्रियों को केवल गृहकार्य की जिम्मेदारी सौंपी गई थी । उनके लिए शिक्षा का उचित प्रबंध नहीं था । बालिका को शिक्षा से वंचित रखे जाने के कई कारण थे । प्रमुख कारण बाल विवाह माना जा सकता है । बाल विवाह के कारण उन्हें शिक्षा प्राप्त करने का अवसर ही नहीं मिल पाता था । पर्दा प्रथा का प्रचलन व्याप्त होने से बालिकाओं को शिक्षा प्राप्त करने मे बड़ी ही कठिनाई का अनुभव होता था । स्त्री शिक्षा निषेध के पीछे धार्मिक अंधविश्वास की भावना प्रमुख रूप से कार्य कर रही थी । समाज में यह अंधविश्वास व्याप्त हो गया था, कि जिस बालिका को शिक्षा दी जाएगी, वह विवाहोपरांत शीघ्र ही विधवा हो जाएगी । इस शताब्दी में स्त्री पुरुषों को समान नहीं समझा जाता था । स्त्री शिक्षा से तात्पर्य वेश्यावृत्ति से था । नाच–गाना तथा पढ़ने लिखने का कार्य वेश्याओं का समझा जाता था ।[2]

उन्नीसवीं सदी का भारत पूरी तरह निरक्षर था । उन व्यक्तियों की संख्या जिन्होंने किसी भी प्रकार की शिक्षा प्राप्त की थी, बहुत ही कम थी । अंग्रेजों ने भी प्रारम्भ में इस ओर ध्यान नही दिया । शिक्षा के प्रसार में बाधा पहुँचाने वाले कई कारण थे । विद्यालयों की संख्या बहुत ही कम थी । उचित वेतनमान के अभाव में कोई व्यक्ति शिक्षकबनने के लिए उत्सुक नहीं था । बंगाल एवं बिहार में वर्नाकूलर शिक्षकों का वेतन तीन रूपये माह था, जो कि कलकत्ते के किसी घरेलू नौकर के पारिश्रमिक का आधा भी नहीं था तथा छात्र उनके नैतिक व्यक्तित्व से प्रभावित नहीं होते थे । वर्नाकूलर भाषाओं मे प्रकाशित पुस्तकों का अभाव था ।[3] छात्रों को शिक्षकों के व्याख्यानों को

---

1. ए0आर0 देसाई, भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठ भूमि पृष्ठ–220
2. ए0एस0 अल्टेंकर : पोजीशन आफ वोमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन पृष्ठ–24
3. मजूमदार, आर0सी0 ग्लिम्पसेज आफ बंगाल इन नाइन्टीन्थ सेन्चुरी पृष्ठ–92

अक्षरशः रहना पड़ता था । पाठ्यक्रम बहुत ही निम्नस्तर का था । यह पाठ्यक्रम शैक्षणिक दृष्टि से कम और साहित्यिक दृष्टि में अधिक था । पुस्तकों में महाकाव्यों की कहानियां तथा देवी देवताओ की महत्ता का गुणगान रहता था । संस्कृत तथा फारसी की शिक्षा के लिए कुछ अव्यवस्थित पाठशालाएं तथा मदरसे थे, जिनमें पुराने ढंग से शिक्षा दी जाती थी, अंग्रेजों के आगमन से पाश्चात्य शिक्षा, ज्ञान विज्ञान का भी भारत में प्रवेश, ऐसे समय मे भारतीय शिक्षा का स्वरूप इस पश्चिमी शिक्षा से बिल्कुल भिन्न था । भारतीय शिक्षा जो कुछ पुराणों में लिखा था, अथवा बाप दादाओं से, अतिरंजित कथाओं के रूप में जो कुछ सुनने को मिल जाता था वहीं तक सीमित था । इसके विपरीत पाश्चात्य शिक्षा वैज्ञानिक, वस्तुपरक, आलोचनात्मक, बौद्धिक तथा युक्तिसंगत प्रक्रियाओं से परिपूर्ण थी । इसके अलवा भारत में शिक्षा कुछ चन्द वर्गों तक का विशेष हित समझी जाती थी ।[1] भारत में अंग्रेजी भाषा का आकर्षण बढ़ रहा था, वे लोग जो अंग्रेजी भाषा के टूटे–फूटे शब्दों का उच्चारण कर लेते थे, समाज में प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखे जाते थे ।

उन्नीसवीं शताब्दी में बंगाल के विश्व के सभी जिलों में विद्यालय जाने वालों की संख्या साढ़े सात प्रतिशत से अधिक नहीं थी । सन् 1880 में भारत की बढ़ती हुयी अशिक्षितों की संख्या निम्न अंकतालिका से ज्ञात होता है —

राज्य	पुरुषो की संख्या		महिलाओं की संख्या	
	अशिक्षित	शिक्षित	अशिक्षित	शिक्षित
अजमेर	867	33	992	8
आसाम	924	76	997	3
बंगाल	892	108	996	4
बेगर	916	84	998	2
बम्बई	860	140	990	10
सिन्ध	915	85	995	5

1. डा0 ताराचन्द, भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का इतिहास, पृष्ठ–159
2. के0सी0 यादव : आटो बायोग्राफी आफ दयानंद सरस्वती ।

राज्य	पुरुषों की संख्या		महिलाओं की संख्या	
	अशिक्षित	शिक्षित	अशिक्षित	शिक्षित
लोअर बर्मा	557	443	962	38
अपर बर्मा	538	462	985	15
सेन्ट्रल प्राविन्सेज	941	59	998	2
कुर्ग	844	156	986	14
मद्रास	851	149	990	10
न0वे0 प्राविन्सेज	937	63	997	3
अवध	942	58	998	2
पंजाब	926	74	997	3
हैदराबाद	928	72	997	5
बड़ौदा	856	144	995	7
मैसूर	835	105	993	5
बाम्बे स्ट्टेस	887	113	998	2
बंगाल स्ट्टेस	945	55	998	1
एन0डब्लू0पी0 स्ट्टेस	965	35	999	1
पंजाब स्ट्टेस	941	59	999	6
सारे भारत की कुल जनसंख्या =	891105	105	994	6

भारत में राष्ट्रवाद के मूलतत्वों का भी लोप हो गया था । भारतीयों की तात्कालिक राजनीतिक मनोवृत्तियों पर थामस मुनरो ने लिखा है 'राजनीतिक क्रांतियों या परिवर्तनों में उनकी कोई रुचि नहीं है, शासकों की विजय या पराजय से वे अपने को सम्बद्ध नहीं मानते, यह केवल शासकों के सौभाग्य या दुर्भाग्य का प्रश्न होता था, कि वे दूसरों को उतना ही सम्मान देते हैं,

जितना कोई उनके धर्मिक विश्वासों को मान्य करते है ।[1] इस संबंध में यह भी कहा जा सकता है कि जिस देश में जाति, धर्म संस्था व भाषा पृथक-पृथक हैं वहाँ राजनीतिक एकता का प्रश्न ही नही उठता है । विदेशी आधिपत्य के सयोग मात्र से समूहबद्ध हो गए थे । प्राचीनकाल की स्मृतियों को संजोए हुए पृथक तत्व की भावना से लोग रहते थे । दूर्बल शासकों महत्वाकांक्षी तथा निरंकुश सेनापतियों राजनीतिक विप्लवों लूटमार आदि के कारण जीवन में कोई व्यवस्था नही रह गयी थी । भारतीय समाज की इन सामाजिक धार्मिक कुरीतियों तथा फूट के कारण राजनीतिक दासता व साम्राज्यवादी आर्थिक शोषण संभव हुए । इन्हीं परिस्थितियों का लाभ उठाकर अंग्रेजों ने भारत में ब्रिटिश राज्य की नींव सुदृढ़ की ।

1757 के प्लासी के युद्ध में ब्रिटेन की विजय ने भारत की कमजोरियों को सिद्ध कर दिया था । भारत की रही-सही शक्तियों का पूर्णतया पतन हो गया था । अंग्रेजों ने अपने साम्राज्य-विस्तार के लिए समूचे राष्ट्र को एकता के सूत्र में बाँधने का प्रयास किया । 1757 से 1857 के काल में अंग्रेजों ने सारे देश के लिए समान शासन-नीति तथा प्रशासनिक व्यवस्था बनायी और समूचे राष्ट्र के ऊपर अंग्रेजों का राजनीतिक प्रभुत्व कायम हो गया ।

ब्रिटिश उपनिवेशवादियों ने आरम्भ से ही 'फूट डालो और शासन करो' की नीति अपनाकर भारत की राजनीतिक एकता को विनष्ट कर दिया था । उन्नीसवीं शताब्दी में अपने साम्राज्य का विस्तार करने के लिए अपनी इन्हीं कूटनीति चालभरी नीतियों से सामाजिक धार्मिक और राजनीतिक सभी क्षेत्रों में शोषण करना प्रारम्भ कर दिया । सन् 1821 में एक अंग्रेज अधिकारी ने लिखा 'राजनीतिक अथवा सैनिक हर क्षेत्र में हमारे प्रशासन का मूल सिद्धान्त फूट डालो और शासन करो होना चाहिए । सन् 1857 के पश्चात् एक उच्च सैनिक अधिकारी ने कहा हमारा प्रयास यह होना चाहिए कि भिन्न-भिन्न धर्मों और जातियों के लोगों में सौभाग्य से जो भेद-भाव उपस्थित हैं, उसे पूरे जोरों से कायम रखा जाए, हमें उन्हें मिलाने की कोशिश नहीं करनी चाहिए ।[2]

---

1. एच0एच0 ड्राइवेल द्वारा सम्पादित दी कैम्ब्रिज शार्टर हिस्ट्री आफ इंडिया, पृष्ठ-714
2. आर0पी0 दत्त : आज का भारत पृष्ठ-463

अंग्रेजो की इस नीति के कारण राजनीतिक दासता व साम्राज्यवादी शोषण संभव हुए, साथ ही अंग्रेजी राज्य ने अपनी ध्वंसात्मक भूमिका भी अदा की और भारत में राष्ट्रवादी भावना को जन्म दिया । अपने राज्य से संलग्न भारतीय राज्यों से मैत्री दिखाकर तथा अन्य पड़ोसी अथवा बाहरी शक्तियों के आक्रमण का भय बताकर अंग्रेजों ने उन राज्यों के शुभचिंतक होने का स्वांग रचा, जो आपस में अपनी–अपनी शक्ति को बढ़ाने का उपाय सोच रहे थे । इन राज्यों को सैनिक सहायता का आश्वासन देकर अपने ऊपर आश्रित कर लिया इस प्रकार अंग्रेजों ने भारतीय नरेशों की नीति पर नियंत्रण स्थापित किया । धीरे–धीरे अंग्रेजों ने अपनी सेना के खर्चे का बोझ राज्यों पर लाद दिया और अंग्रेजी साम्राज्य के विस्तार का बोझ भी भारतीय नरेशों पर डाल दिया । यह आक्रमक नीति वेलेजली की सहायक संधि के नाम से जानी जाती है । इस प्रकार की नीति के फलस्वरूप भारतीय राज्यों की समानता तथा आंतरिक प्रभुता का निरन्तर अतिक्रमण होता था । इस प्रकार उन्नीसवीं सदी के मध्य तक अंग्रेजी हस्तक्षेप व्यापक हो गया, जिसके फलस्वरूप प्रशासनिक अव्यवस्था फैलती गयी, क्योंकि यह हस्तक्षेप बिना उत्तरदायित्व के थे ।[1]

अंग्रेजों ने किसी न किसी बहाने से भारत के शेष राज्यों को अंग्रेजी साम्राज्य मे मिलाना प्रारम्भ कर दिया था । उदाहरण के लिए सतारा एक सुव्यवस्थित राज्य था, लेकिन चार वर्षों से प्रशासनिक और आर्थिक दृष्टि से यह राज्य कमजोर हो गया था । 1848 मे राजा की मृत्यु हो गयी, अतः राजा के काई पुत्र न होने के कारण अंग्रेजों ने उसे अपने साम्राज्य में मिला लिया । इसी प्रकार झांसी, पंजाब आदि शेष राज्यों को भी अपने कब्जे मे कर लिया । जिन राज्यों का अपहरण किया गया, उनके उच्च पदाधिकारियों को पदच्यूत कर दिया गया, क्योकि अंग्रेजों की यह नीति थी, कि उच्च पद भारतीयों को न दिए जाएं ।[2] देशी नरेशों के शासनकाल में उच्च पदो के लोगो को विशेषाधिकार तथा सुविधाएं प्राप्त थीं, लेकिन कम्पनी के शासन स्थापित होने से वे उनसे वंचित कर दिए गए । इससे भारत में बड़ा ही असंतोष फैला । ब्रिटिश राज्य की राजनीतिक व प्रशासनिक संस्थाओं में भारतीयों को नहीं रखा जाता था, क्योकि अंग्रेज अधिकारी भारतीयों को लालची बेईमान व

---

1. दीनानाथ वर्मा, आधुनिक भारत पृष्ठ–191
2. एम0एस0 जैन, आधुनिक भारत का इतिहास पृष्ठ–129

रिश्वतखोर मानते थे ।[1] 1802 मे ढाका के मि0 पैटरसन ने भारतीयो के संबंध में अपने भाव इस प्रकार व्यक्त किए हैं, वे जड़ से नैतिक विचार शून्य अत्यधिक चालाक व नीच हैं, वे निरुधमी फुहड़ रूप से असंमयी क्रूर एवं डरपोक हैं । संक्षेप मे उनमें किसी प्रकार के गुण नहीं हैं ।[2] लार्ड वेलेजली ने सभी नेटिव अधिकारियों के स्थान पर अंग्रेज अधिकारियों की नियुक्ति कर भारत में ब्रिटिश नौकरशाही के लौह, ढाँचे की नींव रखी । वामसराय की कार्यकारिणी में पांच अंग्रेजों को ही रखा जाता था, भारतीयों को नहीं । विधायी सभा में अवश्य ही भारतीयों को मनोनीत कर लिया जाता था । शिक्षित भारतीय अंग्रेजी शासन से बड़े ही रुष्ट थे, प्रारम्भ में उनको आशा थी कि शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ उन्हें राजनीतिक प्रशासनिक अधिकार प्राप्त होगें, लेकिन अंग्रेज ऊँचे पद भारतीयों को देना नहीं चाहते थे ।

अंग्रेजों की न्याय व्यवस्था भारतीयों के अनुकूल नहीं थी । भारतीय न्यायधीशों की अदालत में अंग्रेजों के मुकदमें पेश नहीं किए जा सकते थे, और अंग्रेज न्यायाधीश अपनी जाति के साथ पक्षपात करते थे । न्याय प्रणाली में निर्णय भी अनिश्चित होता था । गरीब व्यक्ति का मुकदमे मे बेकार धन व्यय होता था और समय भी नष्ट होता था । विधि प्रणाली तथा सम्पत्ति के अधिकार पूरी तरह से नए थे ।

अंग्रेजों ने देश को राजनीतिक एकता के सूत्र में बांध कर भारत में नयी समाज व्यवस्था का भौतिक आधार तैयार किया । उसने भारत का सम्पर्क विश्व बाजार के साथ किया । आधुनिक संचार व्यवस्था खास तौर से रेल व्यवस्था और टेलीग्राफ प्राणाली की स्थापना की इसके बाद आधुनिक उद्योग-धन्धों तथा वैज्ञानिक योग्यताओं वाले आवश्यक कर्मचारियों को प्रशिक्षित किया, हॉलाकि ये सारे काम उतने पूर्णरूप मे नहीं किए गए जितने पूर्णरूप में अंग्रेजी राज ने अपनी ध्वंसात्मक भूमिका अदा की थी ।[3]

---

1. डा0 ताराचन्द : हिस्ट्री आफ फ्रीडम मूवमेण्ट्स इन इंडिया : प्रथम खण्ड पृश्ठ-299 मे उद्धृत
2. एन0एस0बोस0 इंडियन अवेकनिंग एन्ड बंगाल पृष्ठ-4
3. आर0पी0 दत्त : आज का भारत पृष्ठ-316

ब्रिटिश पूँजीपति वर्ग ने लूट–खसोट की नीति के फलस्वरूप भारत के परम्परागत कृषि व्यवस्था, उद्योग धन्धों, राजस्व की पुरानी प्रणाली को तोड़ दिया था, जिसकी बुनियादी ईकाई ग्राम समुदाय था। प्लासी के युद्ध मे विजय के परिणामस्वरूप उन्होंने भारत के किसी भी राष्ट्रीय उद्योग को पनपने न देने और उसकी वृद्धि को कुंठित करने की नीति अपनायी। 1793 का इस्तमरारी बन्दोबस्त कानून और 1818 का रैयतवारी प्रथा कानून ये ऐसे कानून थे जिन्होंने ग्राम समुदाय वाली पुरानी प्रणाली पर सीधे चोट की और भारत में बड़े जमीदारों के नए वर्ग की रचना की। रैयतवारी कानून से वे किसान जो पहले ग्राम समुदायों के सदस्य थे, अब सरकारी जमीन के किराएदार बन गए, इन जमीनों के किराए चूँकि, बहुत ऊँचे थे, इसलिए जमीन धीरे–धीरे मुनाफाखोरों और सूदखारों के हाथों में पहुँच गयी, वे इस जमीन को हथियाकर खुद जमींदार बन गए। ईस्ट इंडिया कम्पनी की भूमि संबंधी नीतियों के फलस्वरूप परम्परागत पट्टेदार किसान चौपट हो गए, कारीगरो, के धन्धे चौपट होने लगे। गाँव के दस्तकार तबाह हो गए। समूचा देश असंतोष से उबल रहा था, जब कि सूदखोर और बड़े--बड़े जमींदार किसानों को गरीब बनाकर मौज मस्ती कर रहे थे।[1] अंग्रेजों ने अपनी इस लूट की उत्प्रेरक शक्ति के फलस्वरूप ही इंग्लैंड मे औद्योगिक क्रांति को आगे बढ़ाया। भारत को एक ऐसा खेतिहर उपनिवेश बना दिया जिसका काम ब्रिटेन को कच्चा माल सप्लाई करना और वहां से आए हुए तैयार माल को खरीदना था। 1795 से पूर्व के बन्दरगाहों की ओर इंग्लैंड के सूती माल का निर्यात कई गुना बढ़ गया था। ब्रिटिश उत्पादन की खपत के लिए भारत ही मुख्य बाजार था। कृषि का काम अब विदेशी बाजारों की आवश्यकताओं के अनुसार माल तैयार करना हो गया था। 1813 में ईस्ट इंडिया कम्पनी का चार्टर परिवर्तित करते समय ब्रिटिश संसद ने कम्पनी को भारत के साथ व्यापारिक एकाधिकार समाप्त कर सभी अंग्रेज व्यापारियों को भारत के साथ उन्मुक्त व्यापार करने की अनुमति दे दी, क्योंकि नेपोलियन बोनापार्ट ने ब्रिटेन निर्मित वस्तुओं को यूरोपीय बन्दरगाहों में जाने से रोक दिया था, अतः अंग्रेज उद्यमियो व व्यवसायियों को अपनी वस्तुओं की खपत के लिए नवीन बाजारों की आवश्यकता थी। इसी के साथ उन्मुक्त व्यापार से आर्थिक लूट की प्रक्रिया तेज हो गयी।[2] उन्होंने भारत में दोहरी शोषण पद्धति अपनायी। एक

---

1. के0 दामोदरन भारतीय चिंतन परम्परा पृष्ठ 343–344
2. आर0सी0 दत्त ब्रिटिश भारत का आर्थिक इतिहास पृष्ठ–108

ओर परम्परागत उद्योगो का विनाश और दूसरी ओर सरकारी मशीनरी के बढ़ते हुए खर्च को पूरा करने के लिए नित्य नये करों की वृद्धि की जिसके फलस्वरूप भारत में अकालों और महामारियों का प्रकोप छा गया । भारतीय जन–जीवन अस्त–व्यस्त हो गया था ।

इस शताब्दी के पूर्वाद्ध में सात बार अकाल पड़े थे, जिनमें अनुमानतः पन्द्रह लाख व्यक्ति मृत्यु के शिकार हो गए थे तथा शताब्दी के उत्तरार्ध में ही चौबीस बार दुर्भिक्ष पड़े थे । रजनी पामदत्त ने डब्लू0एस0 लिली की पुस्तक भारत और उनकी समस्याएं से उद्घृत करते हुए लिखा है कि सरकारी आँकड़ों के अनुसार अकालो मे मरने वालो की संख्या उन्नींसवीं शताब्दी में इस प्रकार रही ––

वर्ष	अकालों से होने वाली मौतों की संख्या
1800–1825	1,00,000
1825–1850	4,00,000
1850–1875	5,00,000
1875–1900	15,00,000

भारत में ब्रिटेन उपनिवेश नियंत्रण दिनों दिन सुदृढ़ होता जा रहा था । ब्रिटिश शासन की आर्थिक निर्गत की नीति ने भारत की अर्थ–व्यवस्था को झकझोर दिया था, जिससे देश परावलम्बी होता जा रहा था व उस पर विदेशी ऋण की वृद्धि होती जा रही थी, क्योंकि जब किसी भी देश में जब विदेशी वस्तुओं का आयात–निर्यात की तुलना में अत्यधिक बढ़ जाता है, तो यही स्थिति उत्पन्न होती है । इस संबंध मे दूसरी बात यह भी कही जा सकती है कि भारत के आर्थिक स्त्रोतों को उसे दीर्घकाल तक परतंत्र रखने के उद्देश्य से प्रयुक्त किया गया । अंग्रेजी राज की आर्थिक नीति के कारण निरन्तर बढ़ती हुयी धनराशि प्रतिवर्ष इंग्लैंड को पहुँच रही थी, दूसरे ब्रिटिश भारतीय प्रशासन के सभी महत्वपूर्ण पदों में अंग्रेज ही थे, अवकाश प्राप्ति के बाद अंग्रेज अधिकारी इंग्लैंड चले जाते थे, साथ ही साथ जीवन की सारी बचत व आय भी ले जाते थे । पेंशन के रूप मे भी

---

1. रजनी पामदत्त भारत वर्तमान और भावी पृष्ठ–56

अत्यधिक धनाराशि उन्हे भारत से दी जाती थी । भारत के प्रशासकीय, तकनीकी व राजनीतिक अनुभव भी इंग्लैंड चले जाते थे, यह भारत का नैतिक निर्गम था ।[1] सामन्तवाद पर उन्होंने जो घातक हमले किए उनके फलस्वरूप भारत को आधुनिक प्रगति की दिशा मे आगे बढ़ने में मदद मिली ।

ब्रिटिश सत्तारूढ़ वर्ग ने ब्रिटिश व्यापार और उद्योगों की रक्षा के लिए इस देश के दरवाजे खोलना आवश्यक समझा । इसके लिए भारत में रेले शुरू करने पर मजबूर होना पड़ा । इसका उद्देश्य यह भी था कि जब कभी भी स्थानीय विद्रोहो का खतरा हो, तो ब्रिटिश सेना को शीघ्रता से एक जगह से दूसरी जगह पहुंचाना था । भारत में पहली रेलवे लाइन 1853 में विछायी गयी । इस संबंध में मार्क्स ने लिखा है, "मैं जानता हूँ कि ब्रिटिश उद्योगपति महज इसी उद्देश्य से रेले बना रहे हैं, ताकि वे कम खर्च में अधिक कपास और दूसरे कच्चे माल अपने उद्योग–धन्धों के लिए निकाल सकें । लेकिन एक बार यदि आप किसी देश के संचार–साधनों मे मशीनों का इसतेमाल शुरू कर देते हैं, तो फिर आप उस देश को मशीनों का निर्माण करने से रोक नहीं सकते । यह संभव नहीं है, कि आप किसी देश में रेलों का जाल विछाएं और उन औद्योगिक प्रक्रियाओं को वहाँ शुरू न होने दें, जो रेल यातायात की तात्कालिक और दैनिक आवश्यकता पूरा करने के लिए आवश्यक होती है इसलिए रेल व्यवसथा से हिन्दुस्तान मे आधुनिक उद्योग–धन्धों की शुरुआत हो गयी है । रेल व्यवस्था से उत्पन्न ये उद्योग–धन्धे कई पुश्तों से चले आ रहे उस क्रम विभाजन को भंग कर देंगे जिन पर भारत की वर्ण–व्यवस्था टिकी हुयी है, जो भारत की प्रगति और उसकी ताकत के रास्ते में सबसे बड़ी रूकावटे हैं ।"[2]

विदेशी उपनिवेशवादियों ने आर्थिक शोषण और राजनीतिक अपमान के फलस्वरूप जनता में निराशा और निष्क्रियता की भावना पैदा की, तो भी ब्रिटिश शासन के विरुद्ध आक्रोध धीरे–धीरे बढ़ रहा था । भारत का इतिहास उस मंजिल की ओर अग्रसर हो रहा था, जो भारत की जनता और विदेशी शासकों के बीच संघर्ष की मंजिल थी । 1857 की असफल क्रांति इसी का परिणाम थी ।

---

1. दादा भाई नौरोजी, पावर्टी एण्ड अन ब्रिटिश रूल इन इंडिया पृष्ठ–50
2. के0 दामोदरन भारतीय चिंतन परम्परा पृष्ठ–345

रेलों के बनने के परिणामों के संबध में मार्क्स ने जो भविष्यवाणी की थी, वह बाद की घटनाओं से पूर्णतः सिद्ध हुयी है। रेल व आधुनिक परिवहन साधनो के विकास ने राष्ट्रवादी भावना को विकसित करने मे महत्वपूर्ण योग दिया। यातायात के द्रुतगामी साधनों से पाश्चात्य सम्पर्क बढ़ा। रेल और बसों की यात्रा ने विभिन्न प्रांतों के व्यक्तियो को एक दूसरे के निकट ला दिया, लोग एक दूसरे के विचारों और समस्याओं से परिचित होने लगे, लगातार मिलने जुलने और सामाजिक आदान-प्रदान से सामाजिक पृथकता के पुराने भेद-भाव विलुप्त होने लगे। अस्पृश्यता की भावना का अंत हुआ क्योकि रेलगाड़ी से यात्रा करना उनके लिए लाभकारी था, अत अछूत के साथ यात्रा करने के लिए उन्होंने समझौता कर लिया।[1] मिशाहों के वर्ग को इस बात का ज्ञान हो गया कि भारत को एक उत्पादन करने वाले देश में बदलना होगा और इसके लिए सिंचाई के साधनों की व्यवस्था की जाय।[2]

शान्ति प्रसाद वर्मा के अनुसार हमने देखा, कि जो अंग्रेज अपने देश में एक आदर्श शासन-तंत्र की स्थापना करने में सफल हुए हैं, वही हमारे देश में शोषण मे लगे हुए हैं। टैक्सों में वे हमसे इतना कर वसूल कर लेते हैं, जितना देश की किसी अन्य सरकार ने कभी नहीं किया था, परन्तु उसका अधिकांश अंग्रेजों के हित में ही खर्च होता है। इस प्रकार एक ओर तो हममे पश्चिम की इन प्रगतिशील विचारधाराओं के सम्पर्क में आने से आत्म-विश्वास की भावना बढ़ रही थी, और दूसरी तरफ हमे अपनी गरीबी, बेबसी और भूखमरी का सामना करने से अंग्रेजी शासकों की नीति के प्रति कड़वाहट आती जा रही थी। अपने प्राचीन गौरव के प्रति हममें ज्यों-ज्यों ममत्व और अहकार बढ़ता गया, अंग्रेजों के इस अमानुषिक व्यवहार के प्रति हममें खीझ, क्रोध, विद्रोह की भावना का बढ़ते जाना स्वभाविक था। इन विभिन्न परिस्थितियों में हमारे देश में राष्ट्रीयता की भावना ने जन्म लिया।

उन्नीसवीं शताब्दी मे अंग्रेजों ने ब्रिटिश शासन को सुदृढ़ बनाने के लिए ईसाई मिशनरियों के क्रिया-कलापों को प्रोतसाहित किया। अंग्रेज राजनीतिज्ञ यह समझने लगे थे, कि भारत के

---

1. ए0आर0 देसाई भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि पृष्ठ-106-107
2. के0 दामोदरन भारतीय चिंतन परम्परा पृष्ठ-352

बाजारों को विकसित करने के लिए आधुनिक शिक्षा और समाज सुधारकरना आवश्यक है । किसी भी देश को अपने अधीन बनाए रखने के लिए यह आवश्यक हे कि उसमे राष्ट्रीयता की भावना को न आने देना । भारतवासियों को सर्वाधिक गर्व अपने धर्म पर है, अतः उसके धर्म पर कुठराघात करना व उसे मिथ्यापूर्ण बताना श्रेयस्कर होगा । भारतवासियों को ईसाई धर्मावलम्बी बनाने मे ही ब्रिटिश राज की स्थिरता संभव है । ईस्ट इंडिया कम्पनी के अध्यक्ष मि0 मैगल्स ने सन् 1857 में पार्लियामेंट के अन्दर कहा कि परमात्मा ने हिन्दुस्तान का विशाल साम्राज्य इंग्लिस्तान को सौंपा है, इसलिए ताकि हिन्दुस्तान के एक सिरे से दूसरे सिरे तक ईसा मसीह का विजयी झंडा फहराने लगे हममे से हर एक-एक को अपनी पूरी शक्ति इस काम मे लगा देनी चाहिए, ताकि सारे भारत को ईसाई बना लेने के महान् काम में देश भर के अन्दर कहीं भी किसी कारण जरा भी ढील न आने पाए ।[1]

अंग्रेज विद्वान रेवेण्ड कैनडी ने भी ईसाई धर्म को आवश्यक माना । उसके अनुसार हम पर कुछ भी विपत्तियाँ क्यों न आएं, जब तक भारत में हमारा साम्राज्य कायम है, तब तक हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि हमारा मुख्य कार्य उसे देश (भारत में) ईसाई मत को फैलाना हे, जब तक कन्याकुमारी से लेकर हिमालय तक सारा हिन्दुस्तान ईसा के मत को ग्रहण न कर ले और हिन्दू व मुसलमान अपने धर्मों की निन्दा न करने लगे, तब तक हमें लगातार प्रयत्न करते रहना चाहिए । इस काम के लिए हम जितने भी प्रयत्न कर सकें हमें करने चाहिए और हमारे हाथों में जितने अधिकार और जितनी सत्ता है, उसका इसी के लिए उपयोग करना चाहिए ।[2]

शासक वर्ग ने देखा कि ईसाई धर्म के माध्यम से वे भारतीयों मे साम्राज्य के प्रति आस्था और सेवा की भावना को बढ़ा सकते हैं । अतः हिन्दू धर्म की निन्दा की जाने लगी और ईसाई धर्म को श्रेष्ठ बताया जाने लगा ईसाई धर्मावलम्बी अपनी पुस्तकों व अपने भाषण में हिन्दू धर्म की निन्दा करने लगे, प्राचीन मंदिरों को दी जाने वाली जागीरें समाप्त कर दी गई, उसके स्थान पर भारतीय खजाने से ईसाई धर्मावलम्बियों को आर्थिक सहायता दी जाने लगी । जिन सरकारी कर्मचारियों ने

---

1. के0 दामोदरन भारतीय चिंतन परम्परा पृष्ठ 353-354
2. पं0 सुन्दरलाल भारत में अंग्रेजी राज द्वितीय खण्ड पृष्ठ-813

ईसाई धर्म को अपनाया उनकी पदोन्नति कर दी गई । इससे हिन्दुओं और मुसलमानों की धार्मिक भावनाओं को आघात पहुँचा । लार्ड बिलियन बेन्टिंग ने ऐबे0 दुबाय नामक एक फ्रांसीसी पादरी को 8,000 रूपये नगद देकर भारतवासियों के धार्मिक और सामाजिक रस्मो रिवाज पर एक पुस्तक लिखवाई जिसमें भारतवासियों को जी भरकर गालियां दी गई हैं जिसमें अनेक झूठ भरे हुए हैं और जिसका भारत के खर्च पर इंग्लिस्तान में खूब प्रचार कराया गया । इस पुस्तक मे यह साबित करने की कोशिश की गई कि भारतवासी बिल्कुल जंगली हैं, और उनके उद्वार के लिए अंग्रेजों का शासन आवश्यक है ।[1]

ईसाई धर्मावलम्बियों ने हिन्दू धर्म में आ गई कुरीतियों पर आक्षेप किया, उसकी आलोचना की । उन्होंने जाति प्रथा, अस्पृश्यता एवं अछूतपन, मूर्तिपूजा, बाल विवाह, सती प्रथा आदि धर्मिक रीति–रिवाजों के विरुद्ध अपना आंदोलन चलाया । उन्होंने 1800 मे सिरामपुर वेप्टिस मिशन की स्थापना के साथ प्रथम बार अपने कार्यों का प्रारम्भ किया ।[2] यद्यपि यह कार्य ईसाई ने अपने धर्म के प्रचार हेतु किया । परन्तु ईसाईयत् रौद्र रूप में हिन्दू धर्म व संस्कृति के मर्मस्थलों पर आघात कर रही थी । ईसाई धर्मावलम्बियों के धर्म परिवर्तन संबंधी प्रयास तथा भारतीय धर्म को तिरस्कृत करने के परिणामस्वरूप भारतीयों में एक प्रतिक्रिया का होना स्वभाविक था । हिन्दुओं की तन्द्रा टूटी सर्वप्रथम उत्तरी भारत में हिन्दू संस्कृति की रक्षा की आवश्यकता को तीव्रता से अनुभव किया गया । इस प्रतिक्रिया का प्रतिनिधित्व मुख्य रूप से स्वामी दयानन्द सरस्वती ने किया तथा भारतीय समाज में शुद्धि व संगठन की रणनीति के साथ एक नवीन आन्दोलन ने जन्म लिया ।

हमें यह मानना होगा, कि अंग्रेजों ने ईसाई मिशनरियों के क्रिया–कलापों को प्रोत्साहन अपने हितों की पूर्ति के लिये किया था,लेकिन भारत में उन्होंने नए प्रचार तथा नयी कार्य प्रणाली के ढाँचे का श्रीगणेश किया । इस प्रकार ईसाई धर्म प्रचारकों के कार्य भारतीय सामाजिक धार्मिक आन्दोलन के सन्दर्भ में दोहरी भूमिका अदा करते हैं । डी0एस0 शर्मा ने लिखा है "हमें यह स्वीकार करना होगा कि हमारे धार्मिक नेताओं विशेषकर समाजियों और रामकृष्ण मिशन से सम्बद्ध नेताओं ने समाज सेवा पर जोर दिया है, वह ईसाई मिशनों से प्राप्त शिक्षा का सुपरिणाम है । राजा राममोहन

---

1. पं0 सुन्दर लाल, भारत में अंग्रेजी राज पृष्ठ–813
2. एन0एस0 बोस, अवेकनिंग इन बंगाल पृष्ठ–78

राय पर 'नई इंन्जील' में प्रतिपादित नैतिक शिक्षाओं का प्रभाव पड़ा। भारत के समाज सुधारकों का ध्यान भी अपनी सामाजिक कुरीतियों को समाप्त करने की ओर गया।"[1] भारत के कुछ महानतम् सामाजिक और धार्मिक सुधारकों ने जैसे स्वामी विवेकानन्द ने, ईसाई कालेजों में शिक्षा प्रापत की थी।

अंग्रेजों ने भारत में अंग्रेजी सभ्यता व संस्कृति का तेजी से प्रसार करना प्रारम्भ कर दिया। प्रारम्भ में ईस्ट इंडिया कम्पनी ने आधुनिक शिक्षा के प्रसार को प्रोत्साति नहीं किया, इसकी आवश्यकता ही नहीं समझी गई। भारत में अंग्रेजों की राजनीतिक, प्रशासनिक एवं आर्थिक आवश्यकताओं के कारण आधुनिक शिक्षा की शरूआत हुयी। ए0आर0 देसाई के अनुसार यह महज संयोग की बात नहीं कि उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में खासकर लार्ड डलहौजी के शासनकाल में भारत में आधुनिक शिक्षा का बड़े पैमाने पर प्रारम्भ हुआ। कुछ और कारण थे जिनके चलते ब्रिटिश राजनीतिज्ञों और अग्रणी विचारकों ने भारत में आधुनिक शिक्षा को प्रश्रय दिया। प्रबुद्ध अंग्रेजों का विश्वास था कि ब्रिटिश संस्कृति संसार में सर्वश्रेष्ठ और सबसे अधिक उदार थी और अगर भारत दक्षिणी अफ्रिका और फिर सारा संसार सांस्कृतिक तौर पर अंग्रेज हो जाए, तो सारे संसार में सामाजिक और राजनीतिक एकीकरण का मार्ग प्रशस्त होगा।[2]

जैसे–जैसे भारत में अंग्रेजों ने अपनी साम्राज्यवादी नीतियों का विस्तार किया, वैसे–वैसे अंग्रेजों को सरकारी कार्यों व अदालतों के लिए योग्य व शिक्षित व्यक्तियों की कमी महसूस हो रही थी। अंग्रेज प्रशासक भारत में आंग्ल सभ्यता से रंगा हुआ एक ऐसा वर्ग तैयार करना चाहते थे, जो न केवल प्रशासनिक निकाय की गति को ही त्वरित करें वरन् भारत की विशाल जनसंख्या व ब्रिटिश शासकों के मध्यकाल का भी कार्य करें। अर्थात् शासन के कार्यों के लिए उन्हें अंग्रेजी पढ़े लिखे सस्ते भारतीय बाबू मिल जाएं। अंग्रेजों ने यह भी सोचा कि अंग्रेजी शिक्षा की नई प्रणाली जिसके अन्तर्गत साहित्य इतिहास तथा विज्ञानों की शिक्षा देने की व्यवस्था थी, भारतवासियों में

---

1. डी0एस0 शर्मा : रेनासां आफ हिन्दुइज्म, बनारस, 1944, पृष्ठ–639
2. ए0आर0 देसाई भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि पृष्ठ–112–113

अपने ओछेपन की भावना को जागृत करेगी ।[1] इन्हीं सब कारणो से भारत मे अग्रेजी शिक्षा का प्रचार व्यापक पैमाने पर हुआ । यद्यपि यह कार्य अंग्रेजो ने अपने स्वार्थों की पूर्ति हेतु भारतीय समाज को स्वस्थ बनाने की दृष्टि से किए थे, इसमें उन्हें सफलता भी मिली थी कुछ भारतीय पाश्चात्य रंग में रंग गए विदेशी संस्कृति से चकाचौंध हो गए, उनके प्रशंसक बन गए थे, जिसके फलस्वरूप प्रतिक्रिया होना स्वभाविक था । यह प्रतिक्रिया कुछ शिक्षित वर्ग जिन्होंने पाश्चात्य शिक्षा के फलस्वरूप ही शिक्षा पाई थी, उन्हीं के फलस्वरूप हुयी । भारतीय शिक्षित वर्ग ने भी अंग्रेजी शिक्षा का जोरदार समर्थन किया, वे इससे परिचित हो चुके थे, कि अंग्रेजी शिक्षा से भारत को असीम लाभ हुआ है । भारत की ओर से जोरदार समर्थन राजा राममोहन राय ने किया ।

अग्रेजी शिक्षा के फलस्वरूप पाश्चात्य सम्पर्क बढ़ा, लोग पाश्चात्य विचारों के सम्पर्क में आए, वहाँ के विचारों को, क्रांतियों को, प्रशासन के विषय में जानने का सुअवसर प्राप्त हुआ । कुछ जागरूक शिक्षित वर्ग ने जब अपने देश की तुलना दूसरे देश से की, तो वह पराधीन भारत के प्रति सचेत हो उठे, राजनीतिक चेतना का संचार हुआ । अंत में मैकाले का तर्क गलत साबित हुआ । ब्रिटिश शासकों ने जो आशा की थी कि पश्चिमी शिक्षा भारतीय अंध-विश्वासों को ढहा देगी, शिक्षा के उत्पन्न ज्ञान जनता को ब्रिटिश शासन का सम्मान करना सिखायेगा और उसमें एक हद तक शासन के प्रति अपनत्व की भावना भी पैदा करेगा, जैसा कि एलफिन्स्टन ने कहा, 'ब्रिटिश शिक्षा, भारतीय जनता को ब्रिटिश शासन को प्रसन्नता से स्वीकार करने योग्य बनायेगी ।' सब आशाओं पर पानी फिर गया । इसका परिणाम हुआ पुनर्जीवन इसने एक ऐसे आन्दोलन का बीज बोया जिसने स्वयं ब्रिटिश शासन को ही उखाड़ फेंका ।[2]

आधुनिक शिक्षा से भारत में एक ऐसे बुद्धिजीवी मध्यम वर्ग का जन्म हुआ, जिसका मस्तिष्क पश्चिमी था, किन्तु सामाजिक परिवेश मध्ययुगीन था । जिसके पास एक तरफ जहाँ बुद्धिवाद वैज्ञानिक प्रगति के अस्त्र, स्वतन्त्रता तथा प्रजातंत्र के आधुनिक आदर्श थे, वहीं दूसरी तरफ

---

1. के0 दामोदरन भारतीय चिंतन परम्परा पृष्ठ-356
2. के0 दामोदरन भारतीय चिंतन परम्परा पृष्ठ-358

प्राचीन धार्मिक तथा सामाजिक मान्यताएं थी । इस युग का प्रारम्भ एक ओर तो केन्द्रीय ब्रिटिश साम्राज्य शक्ति से जिसका निवास स्थान लदन था, तथा जो लोहे के समान कठोर ब्यूरोक्रेसी द्वारा संचालित होती थी, और दूसरी ओर भारत का निर्धन अशिक्षित अबल तथा असंगठित जन समुदाय से होता है । इन दोनो के मध्य भारत का मध्यवर्ग था, जो संख्या में अत्यन्त न्यून तथा सम्पूर्ण देश मे बिखरा हुआ था, परन्तु अधिक नगर निवासी था । जहाँ आधुनिक विचारो तथा राजनीतिक एवं आर्थिक समस्याओं के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण जाग्रह हो चुका था ।[1] यह मध्यम वर्ग परिवर्तन की मांग करने लगा था । यह परिवर्तन उन्नीसवीं शताब्दी के द्वितीय चरण में प्रारम्भ हो गया था । इसी समय भारत ने मध्ययुगीन परम्पराओं को तोड़कर आधुनिक युग का आहवान किया । इन परम्पराओं को तोड़ने में भारतीयों को उन स्त्रोतोंसे अत्याधिक सहायता प्राप्त हुयी, जिन स्त्रोतो से अंग्रेजों ने अपने साम्राज्य का विस्तार किया था । यातायात एवं परिवहन, वाणिज्य, व्यापार, डाकतार तथा अंग्रेजी साहित्य ने भारत में आधुनिक युग का सूत्रपात किया ।

विदेशी उपनिवेशवादियों की लूट–खसोट की नीति ने जिस नए राज्य को जन्म दिया, वह मूलतः ब्रिटिश पूंजी की राजनीतिक, आर्थिक और युद्धनीतिक आवश्यकताओं और उसके हितों की पूर्ति के लिए बनाया गया था, लेकिन इस नए राज्य को बनाने के लिए अपनाए गए प्रत्येक कदम मे उसके विनाश के बीज छिपे हुए थे । आर्थिक शोषण और राजनीतिक अपमान के फलस्वरूप जनता में निराशा और निष्क्रियता छा गयी, ब्रिटिश शासन के विरुद्ध आक्रोश धीरे–धीरे बढ़ता रहा और भारत का इतिहास उस मंजिल की ओर अग्रसर हुआ, जो भारत की जनता और विदेशी शासकों के बीच संघर्ष की मंजिल थी । शासकों और शासितों के बीच संघर्ष की खाई अधिकाधिक गहरी और स्पष्ट होती गयी और भारतीयों में भाईचारे की भावना, राष्ट्रीयता की भावना शुरू हो गई । ए0आर0 देसाई के शब्दों में – 'अंग्रेजों ने सारे भारतीयों को कार्यक्षम राज्य व्यवस्था के अधीन लाकर और उन्हें पश्चिम के विचारों से परिचित कराकर तो उनमें राष्ट्रीय चेतना जगाई ही, साथ ही एक विदेशी जाति के साथ संपर्क का, जो स्वयं अपनी राष्ट्रीयता और वर्ण–भाव से उत्प्रेरित थी, यह

---

1. ताराचन्द, हिस्ट्री , आफ फ्रीडम मूवमेण्ट् इन इंडिया, द्वितीय भाग पृष्ठ–254

स्वभाविक असर पड़ा कि विजित जाति मे भी ऐसे ही भावों का उद्भव हुआ .... ब्रिटिश शासन से भारतीयों को यह जानकारी प्राप्त हुयी थी कि उनकी अपनी कुछ सम्मिलित स्वार्थ भी बने और विरोध का सम्मिलित आधार भी प्रस्तुत हुआ ।[1]

---

1. एO आरO देसाई, भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, पृष्ठ–138

द्वितीय अध्याय

अंग्रेजी शिक्षा तथा पाश्चात्य विचारों का प्रभाव

भारतीय राष्ट्रवाद के उद्‌भव व विकास में अंग्रेजी शिक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। अंग्रेजी शिक्षा एक सूक्ष्म अस्त्र था, जिसे अंग्रेजों ने भारत में अपने प्रभुत्व को सुदृढ़ बनाने के लिए इस्तेमाल किया। यह भारत के लोगों को ब्रिटिश सम्राट के प्रति वफादारी में प्रशिक्षित करने और साथ ही जीवन के सम्बंध में पाश्चात्य विचारों तथा पद्धतियों को प्रचारित करने की एक व्यवस्था थी। अंग्रेजों के अनुसार अंग्रेजी शिक्षा, जिसके अन्तर्गत साहित्य इतिहास तथा विज्ञान की शिक्षा देने से भारतीयों में अंधविश्वास की भावना को दूर करना और उनकी संस्कृति की बुराइयों पर दृष्टि डालकर जनता में अंग्रेजी शासन के प्रति अपनत्व की भावना को जन्म देना था। ब्रिटिश शिक्षा भारतीय जनता को ब्रिटिश शासन को प्रसन्नता से स्वीकार करने योग्य बनाएगी।[1] किन्तु यह अनुमान से गलत साबित हुआ।

मैकाले की अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से जिस नवीन युग का सूत्रपात हुआ, उसने बाद की सम्पूर्ण भारतीय विचार की प्रवृत्ति को निर्धारित किया। प्रथम बार एक विदेशी संस्कृति ने भारतीय जीवन के सूक्ष्म से सूक्ष्म क्षेत्रों में प्रवेश कर सामाजिक ढांचे को बदलने तथा आधुनिक प्रगति के पथ को प्रशस्त करने में अपूर्व सहयोग किया। यद्यपि इस शिक्षा पद्धति तथा इसकी विषय वस्तु में अनेक दोष तथा अभाव थे, तथापि यह एक आश्चर्यजनक बात है, कि इसी शिक्षा प्रणाली में पले - पोषे भारतीय महापुरूषों ने भारतीय पुनर्जागरण में योगदान किया और राष्ट्रीय चेतना की जाग्रति तथा भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के संचालन में सक्रिय भाग लेकर अन्ततः देश को राजनीतिक स्वतन्त्रता दिलायी।

प्राक् ब्रिटिश भारत में शिक्षा का क्षेत्र बहुत ही संकुचित था। यद्यपि जनसाधारण के लिए गाँव और शहर में स्थानीय स्कूल थे, जहां पढ़ना - लिखना सिखाया जाता था, धार्मिक शिक्षा भी दी जाती थी, लेकिन यह शिक्षा केवल ब्राह्मण वर्ग तक ही सीमित थी। इस शिक्षा पद्धति का उद्‌देश्य व्यक्ति, समाज की श्रेणीबद्ध संरचना को स्वीकार करके उसी के अधीन

---

1. ओ मैली, मार्डन इण्डिया एण्ड दि वेस्ट पृष्ठ 658

स्वयं को समर्पित करना था। इस प्रकार की संकुचित शिक्षा से न तो छात्रों के व्यक्तित्व का विकास हो सकता था और न ही बुद्धिवादियों का ही। इस शिक्षा के पीछे छात्रों को कट्टर हिन्दू या मुसलमान बनाने की भावना निहित थी।[1]

अठाहरवीं शताब्दी के अन्त में जब पाश्चात्य शिक्षा, ज्ञान तथा विज्ञान ने भारत में प्रवेश किया, तो उस समय भारतीय शिक्षा का स्वरूप पाश्चात्य से बिल्कुल ही भिन्न प्रकृति का था। पाश्चात्य शिक्षा किसी वर्ग विशेष तक ही सीमित नहीं थी। पाश्चात्य शिक्षा आवश्यक रूप से वैज्ञानिक, वस्तुपरक आलोचनात्मक बौद्धिक तथा युक्तिसंगत प्रक्रियाओं से परिपूर्ण थी।[2]

उन्नीसवीं सदी में जब कि भारत में वैज्ञानिक युग आरम्भ हो चुका था, तो भारतीय शिक्षा पद्धति उपयुक्त नहीं रह गयी थी।

भारत में अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार का श्रेय तीन तत्वों को दिया जा सकता है:-

विदेशी ईसाई मिशन

ब्रिटिश सरकार

प्रगतिशील भारतीय ।

विदेशी ईसाई मिशन भारत में अंग्रेजी शिक्षा के प्रथम प्रचारक थे। भारत में अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार के लिए ईसाई मिशनरियों ने बहुत सारे रचनात्मक कार्य किए, लेकिन इनकी मूल प्रेरणा थी, भारत में ईसाई धर्म का प्रचार करना। ईसाई धर्म प्रचार के निमित्त भारतवासियों की सहानुभूति प्राप्त करने तथा उनके साथ सम्पर्क बनाने के लिए मिशनरियों द्वारा कई शिक्षण संस्थाओं, अस्पतालों, अनाथालयों, सेवा गृहों आदि की स्थापना की। ईसाई धर्म के प्रचार के

---

1. ए. आर. देसाई, भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि पृ0 112-113
2. डॉ0 ताराचन्द, भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का इतिहास, भाग दो पृ0 159

उद्देश्य से उन्होंने एक छापाखाना स्थापित करके बाइबिल का भारत की विभिन्न भाषाओं में अनुवाद प्रकाशित कराया । शब्दकोषों का भी निर्माण किया ।[1]

मिशनरियों के द्वारा अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार-प्रसार में विलियम केरी तथा उसके दो साथियों का महत्वपूर्ण योगदान था । आधुनिक शिक्षा के प्रसार में केरी द्वारा किए जाने वाले कार्यो में उसके दो साथी मार्शमैन तथा वार्ड ने पूरे उत्साह से साथ दिया । मार्शमैन तथा उसकी पत्नी ने मिलकर लड़को तथा लड़कियों के लिए स्कूल खोले, जो आधुनिक शिक्षा के केन्द्र बन गए । मार्शमैन की पत्नी ने लड़कियों का पहला स्कूल श्रीरामपुर तथा दूसरा कलकत्ता में स्थापित किया । सेरामपुर बापटिस्ट मिशनरियों द्वारा स्थापित 'बेपटिस्ट फिमेल स्कूल सोसायटी' ने कलकत्ता, ढाका, चटगाँव तथा अन्य शहरों में अनेक विद्यालय स्थापित किए ।[2]

उन्होंने अपने स्कूलों में अंग्रेजी शिक्षा तो दी ही, साथ ही ईसाई धर्म की शिक्षा भी दी । इनका मूल लक्ष्य संस्थाओं के माध्यम से भारतीयों को ईसाई धर्म की शिक्षा देना था, लेकिन इन संस्थाओं में जो लड़के आए, उनमें अधिकांश ने अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त की, बहुत कम ही लोग ईसाई हुए ।

सन् 1813 के अधिकारपत्र के बाद मिशनरियों द्वारा अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार का दूसरा चरण प्रारम्भ हुआ ।अलेक्जन्डर डफ नामक पादरी ने इस कार्य पर अपनी गहरी छाप छोड़ी । उसने देखा कि ईसाई बने भारतीयों को समाज के अन्य लोगों के द्वारा घृणा मिलती थी, क्योंकि ये लोग प्राय: निम्न जाति के होते थे । डफ के सामने सबसे बड़ा प्रश्न यहथा कि क्या भारत के प्रभावशाली वर्ग यानि भारत के उच्चतर जातियों के लोगों के साथ सम्पर्क स्थापित करने का कोई संभव तरीका नहीं है ? उसके सामने एक उत्तर यह आया कि शायद शिक्षा के माध्यम से कोई रास्ता निकल आए और अंग्रेजी भाषा के माध्यम से विश्वास योग्य ढंग से पाश्चात्य ईसाई संस्कृति को भारतीयों तक पहुँचाया जा सकता है।[3] डफ ने अंग्रेजी भाषा

---

1. ए. आर. देसाई, भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठ भूमि, पृ. 112
2. डा0 ताराचन्द, भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का इतिहास-भाग दो पृ. 159
3. डा0 ताराचन्द, भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का इतिहास, भाग दो, पृ. 159

को भारत के लिए समस्त ज्ञान का वाहक कहा । उसने कहा कि मैं कहता हूं कि अंग्रेजी भाषा वह उपकरण है, जो समस्त ज्ञान का वाहन बनकर समस्त भारत को हिलाकर रख देगा इसलिए अंग्रेजी का ज्ञान भारत के लिए आवश्यक होगा । क्या भारत के उच्चतर वर्ग के लोग, जिन्होंने अब तक बौद्धिक मामलों में नेतृत्व किया है? उदासीन रहकर अंग्रेजी से अलग रहेगें ? इसका उत्तर था नहीं ।[1]

इस परिपेक्ष्य में डा0 ताराचन्द का विचार है कि प्राचीन उच्चतर वर्ग विदेशी भाषा से नफरत कर सकते थे, परन्तु नया मध्यमवर्ग, उन सुविधाओं का लाभ उठाने के लिए अधीर हो रहा था, जो नयी व्यवस्था के कारण सामने आयी थी । उन्हें अंग्रेजी वह ताबीज़ जान पड़ती थी जो धन, प्रभाव, भौतिक लाभ के लिए नए रास्ते एवं सामाजिक हेसियत और वैयक्तिक मर्यादा में वृद्धि के नये द्वार खोल रही थी ।' डफ ने इस तरह से विद्यालयों एवं महाविद्यालयों के द्वारा भारत के युवकों को ईसाई प्रभाव में लाए जाने का ध्येय रखा । मिशनों का यहां पर एक लक्ष्य ईसाईयत का प्रचार था । यहां पर यह कहना उचित होगा कि डफ ने अपने इस कार्य की पूर्ति के लिए तत्कालीन भारतीय समाज के उन नेताओं से सम्पर्क किया, जो भारत में अंग्रेजी शिक्षा एवं ज्ञान के प्रचार प्रसार के हिमायती थे। इस कड़ी में सर्वप्रथम आधुनिक भारत के जनक राजाराममोहन राय से सम्पर्क हुआ । यह मिलन दो प्रतिकूल धाराओं का था, जिनका उद्देश्य अलग-अलग था, किन्तु उस उद्देश्य की प्राप्ति का साधन एक ही था । इस मेल के संबंध में डा0 ताराचन्द का विचार उल्लेखनीय है 'भारत के काफिरों को अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से ईसाई बनाने के लिए उत्साही पश्चिम का प्रतिनिधि उस युग के प्रथम भारतीय एक नवयुग के अग्रदूत से मिला जो इतने उत्साह के साथ यह मानते थे कि आधुनिक ज्ञान विज्ञान का भारत में विस्तार, मातृभूमि से खोए हुए बड़प्पन की पुनः प्रतिष्ठा के लिए आवश्यक है । यद्यपि दोनों के उद्देश्य परस्पर कोसों दूर थे, एक तो यह चाहता था कि हजारों वर्षों के दौरान भारत ने जो मूल्य संजोकर पुष्ट किए थे, उनका विनाश हो,

---

1. जनरल असेम्बली में जनरल डफ का भाषण, 25 मई, 1835
पी.सेन कृत : वेस्टर्न [illegible] इन बंगाल लिटरेचर (कलकत्ता विश्व.) 1932
पृष्ठ 75

और दूसरा यह चाहता था कि प्राचीन अवस्था को उसके ऊपर लगी हुयी धूल और युग-युग के भ्रष्टाचार को दूर करके उसे शुद्ध एवं चिरस्थायी बना दिया जाए । दोनों ने तत्कालीक उद्देश्य के लिए यानि तत्कालीन पाश्चात्य ज्ञान के प्रचार के लिए सहयोग करना स्वीकार किया ।[1]

अपनी शिक्षा प्रसार योजना के तहत डफ ने मिशन स्कूलों का एक जाल सा संगठित कर दिया । मिशनरियों ने इस प्रकार की समाज सेवी संस्थाओं की स्थापना करके जनता को अपने धर्म की ओर आकृष्ट करना और भारतीय धर्मो तथा सामाजिक परम्पराओं के अन्तर्गत जो अन्धविश्वासिता, ढोंग तथा अवैज्ञानिकता आ गयी थी उनका उपहास करना आरम्भ किया ।

ईसाई धर्म प्रचारक एक तरफ जहां आर्थिक सहायता, धार्मिक शिक्षा तथा ईसाई धार्मिक ग्रन्थों व पुस्तकों के वितरण द्वारा जन साधारण को ईसाई बनाने का प्रयत्न कर रहे थे, वहीं दूसरी तरफ भारतीय समाज की धार्मिक व सामाजिक रूढ़िया भी हिन्दुओं को ईसाइं बनाने पर विवश कर रही थीं । भारतीय धर्म, संस्कृति व दर्शन की ईसाई प्रचारक कटु आलोचना कर रहे थे । ईसाई धर्म प्रचारकों ने मूर्तिपूजा का उपहास करते हुए कहा कि तुम्हारे सब देवता शैतान के अतिरिक्त कुछ भी नहीं, मूर्तिपूजा के अपराध के प्रायश्चित के लिए तुम नर्क की ज्वालाओं में जलोगे ।' ईसाई धर्म प्रचारकों ने हिन्दू धर्म पर प्रहार करते हुए उसके दोषों की ओर संकेत किया । सतीप्रथा, जातिप्रथा, बहुविवाह, बाल विवाह, कुलीनवाद आदि जेसी कुरीतियों पर प्रहार किया, उन्हें दूर करने के लिए प्रयत्न भी किया । और अन्त में यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि ईसाई धर्म ही सच्चा धर्म है ।[2]

मिशनों द्वारा चलाए गए शिक्षा संबंधी कार्यो में कुछ आपत्तिजनक तत्वों के होते हुए भी एक आवश्यकता की पूर्ति अवश्य हुयी, जिसकी अनुभूति अधिकाधिक भारत का उदीयमान नवीन वर्ग कर रहा था । भारत के इस वर्ग ने भी अपने धर्म के मूल तत्वों की ओर आकर्षित

---

1. डा0 ताराचन्द भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का इतिहास भाग दो, पृ. 160
2. एन.एस.बोस, इंडियन अवेकनिंग इन बंगाल, पृ. 8

होने का प्रयास किया, जिसे उन्होंने पश्चिमी सभ्यता के चकाचौंध में विस्मृत कर दिया था । डा0 ताराचन्द के अनुसार 'यद्यपि इन मिशनों द्वारा अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार के पीछे लक्ष्य दूसरे थे, किन्तु इन्होंने पाश्चात्य ज्ञान की बढ़ती हुयी सम्पत्ति से भारत को मध्ययुगीन ज्ञान से निकालकर आधुनिक ज्ञान के आलोक में आलोकित करने का मार्ग प्रशस्त किया । उनकी साहित्यिक उपलब्धि का मानक कुछ भी रहा हो- यह तथ्य है कि उन्होंने भारतीय चिंतन को एक शक्तिशाली उत्तेजना दी और मध्ययुगीन जंजीरों को तोड़ने में सहायता दी।[1]

ईसाई मिशनरियों ने सती प्रथा को समाप्त करने का पूरा प्रयास किया । जेम्स पेग्स ने सती प्रथा की ओर समुचित ध्यान दिया । उन्होंने सती प्रथा को शास्त्रों के विरूद्ध बताया और उसके ऊपर बन्धन लगाने की मांग की । अपने विचारों को व्यवहारिक रूप देने के उद्देश्य से उन्होंने 'दी सोसायटी फार प्रमोटिंग दी अबालिशन आफ ह्यूमन सेक्रीफाइसेस इन इन्डिया' नामक संस्था की स्थापना की ।[2]

इन ईसाई मिशनरियों ने जाति व्यवस्था की कठोरता व अस्पृश्यता की ओर भी ध्यान दिया तथा इसका दृढ़तापूर्वक विरोध करते हुए सेरामपुर कालेज के पंडितों से कहा कि 'शुद्रों को भी पवित्र धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन कराया जाए, जिसका परम्परागत रूप से निषेध था । मि`शनरियों ने बहुविवाह, बालविवाह, कुलीनवाद जिसमें स्त्रियों को खरीद लिया जाता था, जैसी प्रथाओं की आलोचना की । इन दोषों को दूर करने के लिए सरकार के पास प्रार्थना पत्र भी भेजा।[3]

ईसाई प्रचारकों ने समाज में जो भी रचनात्मक कार्य किए, वह भारतीय सामाजिक आन्दोलन के सन्दर्भ में दोहरी भूमिका अदा करते हैं । इस संबंध में वी.ए. नारायण का कथन है कि 'इस तथ्य को कभी भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि ईसाई मिशनरियों के आदर्श व क्रियाकलाप आधुनिक भारत में अन्ततः समाज सुधार की चेतना शक्ति बन गए।

---

1. डा0 ताराचन्द, भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का इतिहास, भाग 2, पृ. 159
2. के. इर्घम: रिफार्म इन इंण्डिया, पृ. 48
3. के. इर्घम : रिफार्म इन इण्डिया , पृ. 48

ईसाई मिशनरियों के द्वारा हिन्दू धर्म की इतनी निन्दा की गई, इसके प्रतिक्रिया स्वरूप हिन्दुत्व की तन्द्रा टूटी । भारतीयों में उत्तेजना फेली ।[1]

शिक्षा के क्षेत्र में ईसाई मिशनरियों ने जो कार्य किए वे भारतीय समाज के लिए वरदान सिद्ध हुए । इन मिशनरियों ने समाज में शूद्रों व स्त्रियों के लिए शिक्षा की व्यवस्था की । परिणाम स्वरूप अनेक भारतीयों ने भी भारत में हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता का प्रचार किया इस संदर्भ में स्वामी दयानंद सरस्वती, स्वामीरामकृष्ण परमहंस तथा उनके महान् शिष्य स्वामी विवेकानन्द और ऐनी वेसेंट आदि के नाम उल्लेखनीय हैं । विवेकानन्द ने हिन्दू धर्म के अतीत की गरिमा व गौरव को पुनः प्रतिष्ठित किया ।

भारत में आधुनिक शिक्षा के विकास पर दृष्टिपात करते हैं तो ज्ञात होता है कि भारत में अंग्रेजी शिक्षा का प्रश्न 1757 से 1857 तक ब्रिटिश अधिकारियों के मध्य विचाराधीन व विवादग्रस्त रहा । इसका प्रमुख कारण है कि ईस्ट इंडिया कम्पनी की रूचि प्रारम्भ में मूलतः भारत की आर्थिक लूट में अधिक थी । कम्पनी अपने व्यापारिक हितों में संलग्न रही थी उसके ऊपर भारतीयों की कुशलक्षेम का कोई दायित्व नहीं था । इसलिए शिक्षा का प्रश्न कम्पनी के लिए प्रशासकीय आवश्यकता नहीं बन पाया था । इसके अलावा इस नीति में वह मुस्लिम नीति का अनुकरण करना चाहते थे, जिस प्रकार मुस्लिम शासकों ने भारतीयों की शिक्षा के लिए कोई ध्यान नहीं दिया था इसी कारण वे निरंकुशता के साथ लगभग सात सो वर्षो तक शासन करते रहे थे । अतः प्रारम्भ में अंग्रेजों ने अपने स्वार्थवश अंग्रेजी शिक्षा को भारतीयों के लिए आवश्यक नहीं समझा ।

अठाहरवीं शताब्दी के अन्त तक भारत में अंग्रेजी लाने की आवश्यकता इसलिए प्रतीत होने लगी थी, क्योंकि प्रशासनिक व न्यायिक कार्यो में विस्तार के साथ-साथ यह संभव नहीं था कि निम्न से लेकर उच्च सभी पदों पर अंग्रेजी कर्मचारी ही काम करते । साधारण

---

1. वी.ए.नारायणः सोशल हिस्ट्री आफ माडर्न इण्डिया, पृ. 21

पदों पर 'नेटिव' लोगों की नियुक्ति से कोई हानि नहीं थी । साधारण पदों पर काम करने, कर्मचारियों को भारतीयों को मानसिकता, भाषा परम्परा आदि का ज्ञान होने से प्रशासनिक सुविधा भी होती थी साथ ही ब्रिटिश अधिकारी यह समझ रहे थे कि यदि भारतीयों को शासकीय कार्यो में कुछ अवसर दे दिये जाएगें, तो ऐसा स्वामिभक्त वर्ग तैयार हो जायेगा, जो शासन को भारतीयों के असंतोष से अवगत कराता रहेगा ।[1] प्रशासनिक आवश्यकताओं के अलावा अंग्रेजी शिक्षा की आवश्यकता के पीछे आर्थिक कारण भी कार्य कर रहे थे । भारत के साथ बढ़ते हुए व्यापार तथा छोटे उद्योग अंग्रेज लोग भारत में स्थापित कर रहे थे , उसके लिए अंग्रेजी जानने वाले बिचौलिये मेनेजरों तथा एजेन्टों की आवश्यकता थी।[2]

एक लम्बे काल तक भारतवासियों को किसी भी प्रकार की शिक्षा देने का प्रबल विरोध किया जाता रहा, परन्तु बाद में अंग्रेज शासकों के विचारों में परिवर्तन आया । भारतीयों को प्राचीन भारतीय साहित्य, संस्कृत, अरबी फारसी आदि अन्य देशी भाषाओं में शिक्षा दी जाए या आंग्ल साहित्य व विज्ञान की । इस विचार के समर्थकों में चार्ल्स ग्रान्ट थे, जो कि यह समझते थे कि अज्ञान में फँसे हुए भारतीयों का उद्धार करने का एक मात्र उपाय यह है कि अंग्रेजी भाषा के माध्यम से पश्चिम का आलोक एवं ज्ञान पहुँचाना चाहिए । 'ग्रान्ट' ने भारत में अंग्रेजी भाषा के प्रसार एवं प्रचार का बहुत समर्थन किया । उसे इस बात का कोई भय नहीं था कि भारत में अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार से ब्रिटिश शासन का लोप हो सकता है । उसके अनुसार पाश्चात्य साहित्य एवं विज्ञान के ज्ञान से न केवल भारतीयों की दासता ही समाप्त होगी वरन् समस्त मामलों में युक्ति का प्रयोग होगा, और सही ढंग से जीवन की सुख सुविधाओं का लाभ उठा सकेंगे । पाश्चात्य शिक्षा से शासक एवं शासितों में एक दूसरे को अधिक अच्छी तरह से समझने का सुअवसर मिलेगा और भारत में ब्रिटिश व्यापार का अधिक विस्तार होगा । उस समय चार्ल्स ग्रान्ट के इस प्रस्ताव को अस्वीकृत किया गया ।[3] इसका

---

1. पं. सुन्दर लाल, भारत में अंग्रेजी राज, द्वितीय खण्ड पृ. 688
2. ए.आर.देसाई, भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठ भूमि, पृ. 113
3. एन.एस.बोस, इंडियन अवकनिंग इन बंगाल पृ. 57

कारण यह था कि उन्हें इस बात का भय था कि भारत में अंग्रेजी शिक्षा से भारतीय जनता शिक्षित होकर, कालान्तर में वही स्वाधीनता की मांग करेगी । उनके मध्य साम्प्रदायिक व धार्मिक विद्वेष शेष नहीं रहेगें । ब्रिटिश आधिपत्य के प्रति विद्रोह की भावना उत्पन्न हो जाएगी । अमेरीकी उपनिवेशों का स्वतन्त्र हो जाना ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के लिए एक चेतावनी थी, जिसकी पुनरावृत्ति वे भारत में नहीं करना चाहते थे । उनके अनुसार जिस भी दिन सुषुप्त भारत शिक्षित होकर जागृत होगा उसी दिन इस देश में एक भी सफेद चेहरा दृष्टिगत नहीं होगा । उनके लिए भारतीयों के मध्य शिक्षा का प्रसार एक ऐसा प्रश्न था, जो उनकी विभाजन और शासन की नीतियों से संगति नहीं रखता था । इससे ब्रिटिश राजनीतिक शक्ति स्वभाविक रूप से न्यूनतम हो सकती है ।

इस प्रकार के वाद-विवाद के फलस्वरूप उन्नीसवी सदी के प्रारम्भिक वर्षो में भारत में अंग्रेजी शिक्षा के प्रचलन की मांग तथा पूर्ति के प्रयास होने लगे । अर्थात् अंग्रेजों को भारत में अंग्रेजी शिक्षा की आवश्यकता महसूस होने लगी थी । 1816 में कलकत्ता में हिन्दू महाविद्यालय की स्थापना की गयी, जो कालान्तर में प्रेसीडेंसी कालेज में परिणत हुआ।[1] लार्ड मैकाले का तर्क निर्णायक सिद्ध हुआ । सन् 1834 में लार्ड मैकाले 'काउन्सिल आफ एजूकेशन' का अध्यक्ष बनकर भारत आया । मैकाले ने अंग्रेजी भाषा के प्रसार पर पूरा बल दिया ।कुछ ब्रिटिश अधिकारियों के प्रारम्भिक प्रयासों के फलस्वरूप 1813 में प्रथम बार ब्रिटिश संसद ने भारत में शिक्षा पर व्यय के लिए एक लाख रूपये की धनराशि की स्वीकृति दी थी । यही धनराशि 1833 में दस लाख कर दी गयी ।

लार्ड विलियम बेन्टिक (1828-35) के काल में भारत में अंग्रेजी शिक्षा की व्यवस्था के निमित्त कुछ कदम उठाए गए । लार्ड मैकाले का प्रतिवेदन भारत में अंग्रेजी शिक्षा के विकास की एक महत्वपूर्ण घटना थी । मैकाले ने सुझाव दिया कि भारत में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी भाषा होना चाहिए । उसने जो तर्क दिए, उसके आधार पर मैकाले की शिक्षा योजना

---

1. एन.एस.बोसः इंडियन अवेकनिंग इन बंगाल, पृ. 58

आरम्भ कर दी गई, लेकिन इसका अधिकाधिक लाभ भारत को होने लगा।[1]

मैकाले की शिक्षा नीति के पीछे भी अपनी दृष्टि थी । मैकाले का विश्वास था कि आंग्ल साहित्य व विज्ञान से भारतीयों का एक ऐसा वर्ग तैयार होगा, जो कि कालान्तर में आंग्ल पद्धति की संस्थाओं की भारत में आवश्यकता को अनुभव करेगा । उसने कहा कि यूरोपीय ज्ञान में दीक्षित होने के पश्चात् यह संभव है कि कालान्तर में वे यूरोपीय संस्थाओं की मांग करेंगे मुझे यह ज्ञात नहीं कि ऐसा दिन कभी आएगा, लेकिन जब भी वह समय आएगा अंग्रेजी इतिहास में सर्वाधिक गर्व का दिन होगा।[2] उसने अपनी इच्छा को इन शब्दों में स्पष्ट रूप से कहा 'हमें इस समय एक ऐसा वर्ग पैदा करने में पूरी शक्ति लगानी चाहिए, जो हमारे और उन लाखों लोगों के बीच जिन पर हम शासन करते, दुभाषियें का काम कर सके ऐसे लोगों का एक वर्ग; जिनका रक्त और रंग भारतीय हो, किन्तु जो रूचि, विचारों, नैतिकता और बुद्धि की दृष्टि से अंग्रेज हो।[3]

मैकाले की इस शिक्षा नीति के पीछे यह उद्देश्य भी था कि वह भारत के थोड़े से शिक्षित वर्ग को पूर्णतया पाश्चात्य परस्त बना लेना और इसी प्रक्रिया को जारी रखना था, ताकि भारतवासी भारतीयता को भूलकर सदा के लिए अंग्रेजों के दास बन जाएं और ब्रिटिश शासकों में भारतीय प्रशासन के संचालन में निम्नतर पदों पर कार्य करने के लिए सस्ते बाबू लोग उपलब्ध हो सके । इसके परिणाम स्वरूप प्रत्येक जिले में एक जिला स्कूल खोलने का काम तुरन्त आरम्भ हो गया और उनकी होड़ से और भी स्कूल खुलने लगे । 1844 में गर्वनर जनरल हार्डिंग ने एक घोषणा में प्रतियोगी परीक्षाओं के लिए आंग्ल भाषा के ज्ञान को आवश्यक कर दिया । तत्कालीन ब्रिटिश सरकार ने यह घोषणा की थी कि सरकारी नौकरियां, उन्हीं भारतीयों को दी जाऐंगी जो अंग्रेजी पढ़े लिखे होगें । इसका परिणाम यह हुआ कि अंग्रेजी स्कूलों की संख्या में वृद्धि होने लगी , और व्यक्तिगत प्रयासों से भी ऐसे स्कूल खोले जाने लगे

---

1. पं. सुन्दर लाल, भारत में अंग्रेजी राज्य द्वितीय खण्ड पृ. 529
2. के. दामोदरन, भारतीय चिन्तन परम्परा पृ. 356
3. मैकाले: प्रोज एण्ड प्रेवटी, पृ. 724-29

अब भारतीयों में उच्च शिक्षा की आकांक्षा बढ़ने लगी ।[1]

सन् 1835 से 1838 के मध्य अनेक अंग्रेजी संस्थाएं खोली गई । 'समाचार दर्पण' के अनुसार बंगाल में दो सौ भारतीयों ने अपनी मातृभाषा की तरह अंग्रेजी भाषा को स्वीकार किया । इसके अतिरिक्त चार सो भारतीयों ने मिलकर संसद में एक प्रार्थना पत्र दिया, जिसमें सरकार से अनुरोध किया गया था कि अंग्रेजी भाषा को प्रशासनिक सेवाओं के लिए अनिवार्य कर दिया जाय ।[2]

प्रगतिशील भारतीयों द्वारा भी भारत में अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार एवं प्रसार पर बल दिया गया । जहां पूर्व की दो संस्थाओं का अंग्रेजी शिक्षा के विस्तार के पीछे उनकी धार्मिक एवं प्रशासनिक आवश्यकतायें थीं, वहीं पर इस तीसरे तत्व द्वारा अंग्रेजी शिक्षा का विस्तार भारत को मध्ययुगीन परम्पराओं से छुटकारा दिलाने तथा भारत को आधुनिकता के प्रकाश में प्रकाशित करने के लिए किया गया । यद्यपि भारतीयों के पास सुविधाएं एवं साधन कम थे, तथापि वे इस मामले में सौभाग्यशाली रहे कि उन्हें अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार एवं प्रसार में सरकारी तथा गैर सरकारी अंग्रेजों का शक्तिशाली समर्थन प्राप्त हुआ ।

भारत में अंग्रेजी शिक्षा के प्रचलन की जोरदार माँग सबसे पहले भारतीयों की ओर से राजा राम मोहन राय ने की । भारत में उस समय जो सांस्कृतिक, सामाजिक पतन हो रहा था, उस पतन को रोकने के लिए राजा राम मोहन राय ने एक नवीन शिक्षा प्रणाली की आवश्यकता को महसूस किया । वे भारतीय दर्शन और पाश्चात्य विज्ञान का अध्ययन साथ-साथ चाहते थे, उन्होंने नैतिक शिक्षा पर भी बल दिया, जिससे युवकों का चरित्र निर्माण हो सके । अतः उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा का पश्चिम के देशों के वैज्ञानिक एवं प्रजातांत्रिक विचारों के आगार के रूप में स्वागत किया । राजा राम मोहनराय ने अंग्रेजी विद्यालयों के स्थान पर संस्कृत विद्यालय खोलने की निन्दा की । उन्होंने कहा था कि 'नौजवानों को अपने जीवन

---

1. एन.एस.बोस. अवेकनिंग इन बंगाल, पृ.71

2. डा0 ताराचन्द, भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का इतिहास , भाग दो, पृ. 197

में सबसे महत्वपूर्ण एक दर्जन वर्ष व्याकरण बारीकियों या संस्कृत व्याकरण को जानने में खर्च कर देने से कोई लाभ नहीं हो सकता और न वेदान्त की अटकलबाजियों के लगाने से ही लाभ होगा। इससे युवकों को समाज का बेहतर सदस्य बनने में मदद नहीं मिलेगी, और न मीमांसा एवं न्याय को पढ़ने से ही लाभ होगा । इस कार्य में उन्हें उनके दो अंग्रेज मित्रों सर हाईड ईस्ट जो कलकत्ता हाईकोर्ट के जज थे तथा डेविड हेयर नामक एक घड़ी साज से प्रेरणा तथा सहायता मिली।[1]

भारत पर अंग्रेजी शिक्षा एवं पाश्चात्य सम्पर्क के प्रभाव हानिकारक भी पड़े और लाभप्रद भी । ये प्रभाव देश के सामाजिक एवं आर्थिक, राजनीतिक एवं शैक्षणिक सभी क्षेत्रों में पड़े । आधुनिक भारत के जो भी विचारक हुए और विद्वान हुए वे किसी न किसी रूप में पश्चिम के चिन्तन से प्रभावित रहे । उन्होंने पश्चिम का अन्धानुकरण नहीं किया, लेकिन पश्चिम की अच्छाइयों की उपेक्षा भी नहीं की । यह स्वीकार करना होगा कि पाश्चात्य शिक्षा ने भारत में एक नए प्रकार के बौद्धिक और राजनीतिक जीवन की नींवडाली ।[2] भारतीय विचारकों और विद्वानों ने पश्चिमी प्रभाव से प्राचीन भारतीय संस्कृति को एक नवीन दृष्टि से देखा और नए विचारों तथा नए ज्ञान के प्रकाश में उसे एक नया सुन्दर रूप देने का प्रयास किया । निःसन्देह विदेशी शासन ने भारत के अतीतकालीन गौरव पर पर्दा डालने और उसकी छिछौलेदरी करने में कोई कसर नहीं छोड़ी और प्रत्येक संभव रूप में भारत का अपने हितों के लिए शोषण किया तथापि यह भी सच है कि पाश्चात्य राजनीतिक संस्थाओं तथा पाश्चात्य चिन्तन ने भारत में प्रशासनिक और राजनीतिक स्वरूप पर, सामाजिक मूल्यों पर अपनी क्रांतिकारी छाप छोड़ी । पाश्चात्य सुधारवादी आन्दोलनों ने भारत में नए और उन्नत सुधारों का सूत्रपात किया । पाश्चात्य बुद्धिवाद, उदारवाद तथा पुनर्जागरण की लहरों से भारत का सामाजिक आर्थिक एवं राजनीतिक चिन्तन अप्रत्याशित रूप से प्रभावित हुआ ।

यद्यपि पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली के प्रसार में अंग्रेजों के मौलिक हितों की पूर्ति का

---

1. जे.सी.घोष इंगलिश वर्क्स आफ राजाराममोहन राय भाग 2,पृ.326
2. वी.पी.वर्मा, आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, पृ. 9

उद्देश्य निहित था, लेकिन कालान्तर में इसने भारतीयों को सही मार्ग का ज्ञान कराया और उनमें राष्ट्रवादिता की लहर पैदा की । पर राष्ट्रवादिता के वाहक की यह भूमिका अप्रत्यक्ष ही रही, वह इस रूप में कि इसने शिक्षार्थियों को भौतिक तथा सामाजिक विज्ञान तथा कलाविषयक आधारभूत साहित्य उपलब्ध किया, जिससे उनकी सामाजिक विश्लेषण करने की क्षमता को प्रोत्साहन मिला । अन्यथा उस प्रणाली का ढाँचा, स्वरूप, उद्देश्य ढंग और विषय वस्तु तथा पाठ्यक्रम सभी कुछ इस तरह तैयार किए गए थे, जिससे उपनिवेशवाद के हितों की सिद्धि होती थी । पाश्चात्य शिक्षा ने अनेक प्रतिगामी प्रभावों के बावजूद भारत में एक नवीन बौद्धिक एवं राजनीतिक जीवन का संचार किया । आधुनिक भारतीय चिन्तकों में से अधिकांश ने पाश्चात्य शिक्षा संस्थाओं में में शिक्षा पाई थी। भण्डारकर, रानाडे, चिपूलाणकर तिलक, गोखले आदि के पास उच्च शैक्षिक उपाधियाँ थीं । बंगाल में राजाराममोहन राय, टैगोर परिवार के सदस्य अरविन्द, विवेकानन्द, जे.सी.बोस आदि अंग्रेजी शिक्षा के उपज थे । यद्यपि गाँधी जी ने पाश्चात्य शिक्षा की उच्च स्वर में निन्दा की, किन्तु उनके पास भी लन्दन की उपाधि थी ।

अंग्रेजी शिक्षा के कारण भारत विज्ञान एवं तकनीकी विश्व के सम्पर्क में आया । जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में भारतीयों का दृष्टिकोण अधिक वैज्ञानिक और व्यवहारिक होता गया । अंग्रेजी शिक्षा के फलस्वरूप बहुत से भारतीय अपनी आध्यात्मिक धरोहर गँवाकर पाश्चात्य संस्कृति के पुजारी बन बैठे, वहाँ देशवासियों में यूरोप की सामाजिक तथा राजनीतिक जागृति का ज्ञान भी फैला । यूरोप के स्वातन्त्र्य संघर्षो और उदारवादी लोकतांत्रिक आन्दोलनों के ज्ञान ने हमें जागृत किया । देश में सामाजिक सुधारों और राजनीतिक अधिकारों की मांग उठी । तथा सम्पूर्ण भारत में श्वेत साम्राज्य के विरूद्ध आन्दोलन उठ खड़ा हुआ ।

पाश्चात्य लेखकों ने जब भारतीय सभ्यता और संस्कृति का विश्लेषण कर उसकी महानता के गीत गाए, तो भारतीय भी अपनी सभ्यता और संस्कृति की ओर उन्मुख हुए । यूरोप के भारत-विद्या विशारदों तथा दार्शनिकों ने भी प्राचीन संस्कृत साहित्य का अध्ययन करके भारतीयों में आत्मविश्वास की भावना का विकास करने में महत्वपूर्ण योग दिया। अंग्रेजी शिक्षा

और साहित्य के सम्पर्क में आने से भारतीयों को अन्य देशों के राष्ट्रीय विचारों को पढ़ने-समझने का अवसर प्राप्त हुआ और उनमें स्वतन्त्रता, समानता और राष्ट्रीयता के प्रति अनुराग की भावना तीव्रतर हुयी । उन्हें मिल्टन, लाक, रूसो, वाल्टेयर, मिल, बर्क आदि के राजनीतिक विचारों का ज्ञान हुआ । पश्चिम के विचारों को जानकर भारतीय विचारकों के सामने एक नया क्षितिज खुला । देसाई के शब्दों में अंग्रेजी अनुवाद के माध्यम से ही वे डेमोक्राइटस, हेराक्लाटस, प्लेटो, अरिस्टोटल, स्पिनोजा, डेकार्ब, कांट, काम्टे, नित्शे, हीगल, कार्लमार्क्स आदि की दार्शनिक पद्धतियों का अध्ययन कर सके । आइस्टाइन, डिराक, श्रेडिंगर, हाइसबर्ग जैसे गैर अंग्रेजी भाषा-भाषी विश्वश्रुत गणितज्ञों, भौतिक शास्त्रियों और दार्शनिकों की रचनाओं के अनुवाद पढ़ने से भारतीयों का वैज्ञानिक ज्ञान बढ़ा ।[1]

जहां एक ओर पाश्चात्य भौतिकवादी संस्कृति से चकाचौंध भारतीय नवयुवकों ने देश की आध्यात्मिक सत्ता को चुनौती दी और पश्चिम आचार व्यवहार को ही सब कुछ समझा, वहां भारतीय विचारकों और सुधारकों के एक बड़े वर्ग ने ढकोसलों, कुरीतियों और अंधविश्वासों के विरूद्ध आन्दोलन किया । पश्चिमी विचारों के भौतिकवादी अनीश्वरवादी विचारों से ओत-प्रोत पश्चिमी साहित्य के अध्ययन से भारतीय नुवयुवक और विचारक भारतीय धर्म और समाज के दोषों के विरूद्ध बड़ी संख्या में ताल-ठोककर खड़े हो गए । भारत की युगों पुरानी अस्वस्थ रूढ़ियों और परम्पराओं पर कटु प्रहार किया जाने लगा । समाज की सती-प्रथा, अस्पृश्यता, विदेश यात्रा तथा भोजन आदि पर प्रतिबन्ध आदि कुरीतियों पर तीक्ष्ण आघात किया । और भारत के प्राचीन धर्म को पुनः प्रतिष्ठित किया । पश्चिमी साहित्य केवल अंग्रेजी भाषा द्वारा ही जाना जा सकता था, ईसाई मिशनरियों तथा ब्रिटिश सरकार के अंग्रेजी शिक्षा के व्यापक प्रंचार के फलस्वरूप अनेक स्कूल कालेजों में व्यापक रूप में भारतीय शिक्षित हुए, थे अतः इन शिक्षित भारतीयों में चिंतन करने की शक्ति थी, इन्होंने दोनों सभ्यताओं की तुलना की, अपनी संस्कृति की कमियों को जाना । अंग्रेजी शिक्षा ने भारतीयों में आलोचनात्मक

---

1. ए.आर.देसाई, भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, पृ. 130

दृष्टिकोण का उदय किया। पाश्चात्य दर्शन तथा विज्ञान के अध्ययन ने भारतीयों को कूपमंडूकता तथ संकीर्ण विचारों को परिवर्तित करने पर बाध्य किया। उन्हें तार्किक शक्ति से सिद्ध करने की कोशिश की, कि अनेक परम्परागत प्रथाएँ अप्रगतिशील तथा असार्थक हैं।[1] बुश के अनुसार 'अंग्रेजी शिक्षा ने सदियों से सुसुप्ता अवस्था में पड़े संकीर्णता से त्रस्त, बंद भारतीय मानस पटल को स्वतंत्र किया। सदियों से पिटी-पिटायी धारणाओं पर विश्वास करने वाली हमारी बुद्धि नवचेतना के प्रकाश में प्रकाशित हुयी। इतिहास, तर्कशास्त्र, साहित्यकला विज्ञान दर्शन एवं धर्म महत्वपूर्ण मानवीय विचारों को नवजीवन मिला। [2] अंग्रेजी शिक्षा का प्रभाव, भारतीय समाज की बहुमुखी चेतना के लिए वरदान सिद्ध हुआ। आधुनिक शिक्षा ने एक ऐसे क्रांतिकारी विस्फोट का कार्य किया, जिसने शताब्दियों से सामाजिक धार्मिक परम्पराओं से आबद्ध भारतीय समाज को मुक्त किया। अंग्रेजी शिक्षा व साहित्य ने भारतीयों को जनतांत्रिक व बुद्धिवादी बनाने में पूरा सहयोग दिया। बुद्धिवादी दर्शन ने अन्धविश्वास, रूढ़िवाद तथा भाग्यवाद आदि की प्रवृत्ति को चुनौती दी। राजा राममोहन राय, स्वामी विवेकानन्द, ऐनी बेसेन्ट, अरविन्द गाँधी आदि ने भारतीय जनजीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने में कोई कसर नहीं छोड़ी। बुद्धिवाद ने भारत के वैज्ञानिक चिंतन का सूत्रपात किया।

यूरोपीय बुद्धिवाद के साथ-साथ यूरोपीय उदारवाद भी भारतीय चिंतन के सभी क्षेत्रों में प्रवेश कर गया। भारत में भी राज राममोहन राय, रानाडे, दादाभाई नोरोजी, सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी, गोपाल कृष्ण गोखले आदि महानुभावों ने इस उदारवाद में गहरी आस्था प्रकट की। उदारवादी चिन्तन के विकास के फलस्वरूप भारत में व्यक्ति के मौलिक अधिकारों की मांग को बल मिला, और इस विचार को अधिक मान्यता मिली कि धर्म और राजनीति का पृथक्करण होना चाहिए। संसदीय लोकतंत्र, धर्म निरपेक्षता, कल्याणकारी राज्य और मौलिक अधिकार आदि की धारणाओं को भारतीयों ने पाश्चात्य सम्पर्क के प्रभाव से भली-प्रकार समझा और अपनाया।

वर्तमान शताब्दी में भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन पर पाश्चात्य समाजवाद

---

1. लाला लाजपात राय, यंग इंडिया, पृ0 114
2. एम.ए. बुश, राइज एण्ड ग्रोथ आफ इण्डियन लिबरलिज्म, पृ0 46

की छाप भी पड़ी। रूस में हुयी साम्यवादी क्रांति और मार्क्सवादी व्यवस्था की स्थापना के प्रभाव से ब्रिटेन, भारत आदि राष्ट्र अछूते न बचे, लेकिन जिस तरह भारत ने पाश्चात्य बुद्धिवाद और उदारवाद का अन्धानुकरण नहीं किया, उसी तरह पाश्चात्य समाजवाद को भी आँख मींचकर नहीं अपनाया। भारतीय विचारकों ने पाश्चात्य बुद्धिवाद, उदारवाद तथा समाजवाद को देश की प्राचीन आध्यात्मिक पृष्ठभूमि और उपस्थित तथा आवश्यकताओं के अनुकूल बनाने की चेष्टा की अर्थात् उनका भारतीयकरण करने की दिशा में योगदान दिया[1] एक गंभीर प्रभाव भारत में पाश्चात्य राजनीतिक संस्थाओं के सूत्रपात के रूप में प्रकट हुआ। विधि आयोग, सर्वोच्च न्यायालय, कार्यकारी परिषद, नियंत्रणकारी निकाय आदि इसके कतिपय उदाहरण हैं। भारतीय राष्ट्रवाद तथा भारतीय राजनीतिक चिंतन का उदय पश्चिम की इन्हीं तथा इसी प्रकार की अन्य संस्थाओं के प्रसंग में ही हुआ। और इस बात की मांग उत्तरोत्तर बढ़ती गई, कि देश में ब्रिटेन की तरह की प्रतिनिधि संस्थाओं को स्थापित किया जाय। उस समय इंग्लैंड तथा भारत में भी राजनीतिक संस्थाएं पनप रहीं थीं, उनकी पृष्ठभूमि में राजा राममोहन राय, दादाभाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी, गोखले तथा अन्य प्रारम्भिक नेताओं एवं विचारकों के विचारों का उदय हुआ। पश्चिमी प्रभाव के फलस्वरूप विदेशी कम्पनियों ने भारत में यूरोपीय पूँजीवाद के गहरे बीज बो दिए जिनका वाणिज्यिक साम्राज्यवाद भारतीय अर्थतंत्र के लिए विनाशकारी सिद्ध हुआ। भारतीय सामाजिक व्यवस्था को जिन आर्थिक बुनियादों ने दीर्घकाल से स्थिरता प्रदान कर रखी थी, वे हिल गई। आर्थिक क्षेत्र में कल्याणकारी मनोभावना को जबरदस्त ठेस पहुंची और आधुनिक व्यक्तिवादी दृष्टिकोण विकसित हुआ जिसने विभिन्न रूपों में भारतीय सामाजिक जीवन को क्षति पहुँचायी। संयुक्त पारिवारिक व्यवस्था पर घातक प्रहार किया। अंग्रेजों ने भारतीय राष्ट्रवादिता की बढ़ती हुयी चुनौतियों का मुकाबला करने के लिए 'फूट डालो और शासन करो' की नीति अपनायी। अंग्रेजों की इस सामाजिक राजनीतिक नीति ने देश में साम्प्रदायिकता और जातिवाद को प्रबल प्रोत्साहन दिया। परिणामस्वरूप समाज की

---

1. डा0 बिपिनचन्द्र, अमलेश त्रिपाठी एवं बरूणडे, स्वतन्त्रता संग्राम पृ0 20

प्रतिक्रियावादी शक्तिां प्रभावशाली हुयी, हिन्दुओं तथा मुसलमानों में कुछ संकीर्ण चिन्तनधारा पनपी, जिसने भारतीय सामाजिक शक्ति को आघात पहुँचाया और राष्ट्रीयता की भावनाओं पर कुठाराघात किया। डा0 बिपिनचन्द्र, अमलेश त्रिपाठी, एवं बरूण दे के शब्दों में "ब्रितानी लेखकों और कूटनीतिज्ञों ने भी भारतीय समाज और संस्कृति की आलोचना भारत पर अपने राजनीतिक और आर्थिक शासन का औचित्य सिद्ध करने के लिए की। उन्होंने घोषणा की कि क्योंकि भारत के समाज और संस्कृति में ही बुनियादी दोष हैं अतः वहाँ के लोगों की नियति ही यही है कि वे अनन्तकाल तक विदेशियों द्वारा शासित होते रहें। इन दोनों ही चीजों की भारत में गहरी प्रतिक्रिया हुयी। बहुत से भारतीयों के स्वशासन संबंधी अपनी योग्यता को सिद्ध करने के लिए भारत के दूरस्थ अतीत को महिमा-मण्डित करना आवश्यक समझा। दूसरों ने पश्चिमी सभ्यता की नकल करने वालों को विषय बनाकर उनकी खिल्ली उड़ाई और आधुनिक विचार और संस्कृति के अवस्थापन का विरोध किया। उनका विश्वास था, कि अपनी सांस्कृतिक स्वायत्तता को सुरक्षित रखने का सबसे अच्छा तरीका होगा एक बार फिर अपने ही भीतर झाँकना। हालांकि इस तरह से सोचने वालों की संख्या कम थी, लेकिन उनका एक निश्चित प्रभाव, लोगों पर (खास तौर से शहरों के निम्न मध्य वर्ग पर) रहा।[1]

अंग्रेजी के माध्यम से जिन बुद्धिवादी भारतीयों ने विश्व का आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान आत्मसात् किया था, यह ज्ञान वह जनता के उस वर्ग को भी देने लगे थे, जो पढ़ा लिखा तो था लेकिन जिसे अंग्रेजी का ज्ञान नहीं था, उन्हें संसार के ज्ञान से परिचय कराने में मदद दी। यह ज्ञान उन्होंने देशी भाषाओं में पुस्तकों का अनुवाद करके दी तथा वार्ताओं और व्याख्यानों द्वारा नए विचार और तथ्य निपढ़ और निरक्षर लोगों को भी दिए। इससे भारत में ज्ञान का दृष्टिकोण व्यापक हुआ। अंग्रेजी शिक्षा व पाश्चात्य विचारों के भारतीय जनता में प्रवेश करने के फलस्वरूप प्राचीन वर्गों के स्थान पर कुछ नवीन वर्गों का उदय हुआ। देसाई के शब्दों में "नये सामाजिक वर्गों का उदय अंग्रेजी शासन काल में नए सामाजिक अर्थतंत्र, नई राज्य व्यवस्था, नए प्रजातंत्र और नई शिक्षा का सीधा परिणाम थी। यह वर्ग यद्यपि शिक्षा, सम्पत्ति पेशे आदि

---

1. डा0 बिपिनचन्द्र, अमलेश त्रिपाठी एवं बरूणडे, स्वतन्त्रता संग्राम पृ0 28

में एक दूसरे से भिन्न था, परन्तु कुछ सम्मिलत विचारों के कारण एक वर्ग के रूप में देखा जा सकता है। इस वर्ग में नया, उत्साह, क्षमता तथा व्यक्तिवाद के नए विचारों का विकास हो चुका था। यही वर्ग भारतीय समाज का मध्यम वर्ग था, जिसे तत्कालीन प्रगति व जागरण के क्षेत्र में भारतीय समाज का रीढ़ कहा जा सकता है। परन्तु यहाँ का भारतीय, मध्यम वर्ग अपनी उत्पत्ति, स्वरूप दर्शन में पाश्चात्य मध्यम वर्ग अथवा बुर्जआ से भिन्न था।[1] डा0 ताराचन्द्र के अनुसार दोनों देशों के मध्यमवर्ग में केवल एक ही समानता थी, यूरोप का मध्यमवर्ग सामन्तवादी व्यवस्था के पतन, राजा तथा चर्च की निरंकुश शक्ति के ह्रास का कारण तथा साथ ही साथ व्यक्तिवाद की धारा को, प्रवाहित करने वाला था। भारतीय मध्यम वर्ग को, जनता में राष्ट्रीय भावना विकसित करने वाला, उदारवादी राष्ट्रीय आन्दोलन को संगठित करने वाला तथा अंततः देश को विदेशी सत्ता के चुंगल से छुड़ाने वाला कहा जा सकता है।[2]

इस वर्ग के ऊपर फ्रेंच क्रांति तथा रूसों, वाल्टेयर, मैज्मी आदि का प्रभाव अधिक पड़ा। अंग्रेजी पढ़े लिखे इन भारतीयों ने जब अपने देश की तुलना पाश्चात्य देशों से की, जहाँ उदारवाद, स्वतन्त्रता, समानता आदि का साम्राज्य था, तब उनको विदेशी सत्ता के अधीन होने का अभास हुआ। उन्होंने पाश्चात्य विचारों को अपने देश में व्यावहारिक रूप देने का संकल्प किया तथा स्वतन्त्रता के मार्ग में बाधा पहुँचाने वाली शक्तियों के दमन का बीड़ा उठाया। चेतना की स्वतंत्रता, विचारों की स्वतंत्रता, व्यक्तिगत स्वातंत्र्य, कमाने और सम्पत्ति एकत्र करने का अधिकार, मजदूरों को रखने और उनसे काम कराने आदि नारे सुनाई पड़ने लगे, जो भारत केलिए इस समय आवश्यक थे। पश्चिमी शिक्षा ने भारत में नये प्रकार की विचारधारा के विकास को सुगम बनाया। इस विचारधारा के मुख्य तत्व थे : युक्तियुक्तता, उदारतावाद, स्वतन्त्रता और जनवाद, मानवतावाद तथा समानता के विचार । वास्तव में आधुनिक भारत के मस्तिष्क को बायरन, कोबडन, मिल, स्पेंसर कार्लाइल, रस्किन, मोर्ले, मिल्टन, लाक तथा बर्क आदि के पश्चिमी विचारों ने परिपक्व करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।[3]

---

1. ए.आर. देसाई, भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि पृ0 140
2. डा0 ताराचन्द्र हिस्ट्रीआफ द फ्रीडम मूवमेण्टम इन इण्डिया, द्वितीय भाग पृ0 109
3. ओ मैली, मार्डन इण्डिया एण्ड वेस्ट पृ0 4

पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित उत्साहित एक नवीन मध्यम वर्ग ने यह अनुभव किया देश का ढॉचा एकाएक नहीं बदला जा सकता, जब तक देश राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र नहीं होगा, स्वतन्त्रता समानता तथा प्रगति निरर्थक शब्द मात्र होगें परन्तु राजनीतिक प्रगति बहुत कुछ सामाजिक प्रगति से संबंधित होती है और जब तक समाज में चेतना उत्पन्न नहीं की जायेगी, तब तक कोई भी सुधार कार्य संभव नहीं होगा। निस्सन्देह पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव के फलस्वरूप ही भारतीय शिक्षित वर्ग पाश्चात्य विद्वानों की विचारधाराओं के अनुसार चिन्तन मनन करने लगा, इस शिक्षित वर्ग ने गैर शिक्षित वर्ग को भी पुस्तकों के अनुवाद करके पाश्चात्य विचारों से अवगत कराया था, परन्तु यह वर्ग पाश्चात्य विचारों का भारतीय सन्दर्भ में चिन्तन करने लगा। वास्तव में भारत जिस प्रकार पश्चिम का आर्थिक और राजनीतिक उपनिवेश तथा सांस्कृतिक प्रान्त बना दिया गया, उसके विरूद्ध एक तीव्र प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था। पश्चिम ने पूर्व के आधारभूत विचारों और संस्थाओं को जो चुनौती दी थी, वह अभूतपूर्व थी। जिस प्रकार यह लगता था, कि राजनीतिक क्षेत्र में इग्लैंड का अधिकार नहीं मिट सकेगा और उसे हटाने का कोई प्रयास कारगर नहीं हो सकेगा, उससे स्वाभाविक रूप से लोगों का ध्यान पाश्चात्य अधीनता के सांस्कृतिक और सामाजिक पहलुओं की ओर गया। वेसे तो उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक दशकों मे ही पाश्चात्य प्रभाव के कारण आत्मालोचना एवं धार्मिक सुधार की प्रक्रिया का श्रीगणेश हो गया, लेकिन शताब्दी के उत्तरार्ध में यह प्रक्रिया और तेज हो गयी, तथा शीघ्र ही महान् सामाजिक धार्मिक आन्दोलनों के रूप में प्रस्फुटित हुयी। [1] देसाई के शब्दों में अंग्रेजी शासन के दिनों में भारत में जो सामाजिक एवं धर्म सुधार आन्दोलन हुए वे भारतीय जनता की उदीयमान राष्ट्रीय चेतना एवं उनके बीच पश्चिम के उदारवादी विचारों के परिणाम थे। [2] उन्नीसवीं शताब्दी के धार्मिक तथा सामाजिक सुधार आन्दोलन बौद्धिक तथा साहित्यिक अभिव्यक्ति आदि सब इसी परिवर्तन के, जो पाश्चात्य संपर्क से आया था, विभिन्न रूप थे। इसका प्रथम रूप राजा राममोहन राय के 'ब्रह्म समाज'

---

1. डा0 ताराचन्द्र, भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का इतिहास, भाग दो पृ0 346
2. ए0आर0 देसाई, भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि पृ0 191

आन्दोलन में देखने को मिलता है। इसी मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवी नेता ने भारत में प्रथम बार आधुनिक धार्मिक आन्दोलन का सूत्रपात कर सम्पूर्ण देश में अपने अनुयायियों को संगठित किया।

ब्रह्म समाज :

ब्रह्म समाज आन्दोलन के अनुयायी पाश्चात्य शिक्षा की उपज थे। अंग्रेजों द्वारा रोपित शिक्षा की पहली पोध राजा राममोहन राय थे। यह वह प्रथम भारतीय थे, जिन्होंने भारत के सामाजिक तथा राजनीतिक चिंतन में उदारवादी तथा बुद्धिवादी परम्परा का सूत्रपात किया। राजा राममोहन राय ने ब्रह्म समाज की स्थापना 20 अगस्त 1828 में की थी। ब्रह्म समाज धर्म सुधार आन्दोलन का सर्वप्रथम संगठन था। इसका प्रारम्भिक उददेश्य धार्मिक था। इसके अलावा सामाजिक सुधार आन्दोलनों का केन्द्रीकृत रूप से पथ-प्रदर्शन करना था। उनके जीवन का मुख्य उद्देश्य समाज तथा धर्म में सुधार लाना था। उस समय हिन्दू धर्म तथा समाज के अन्तर्गत जो बुराइयां आ गयीं थी, ठीक इसी समय राजा राममोहन राय ने ब्रह्म समाज के द्वारा हिन्दू धर्म तथा समाज की बुराइयों को समाप्त करने का बीड़ा उठाया। ब्रहम समाज के संस्थापक के रूप में राजा ने भारतीय सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों में एक नवीन जीवन प्रदान करने का कार्य किया। धर्म के क्षेत्र में इसने अपने विचारों को वेदों तथा उपनिषदों पर आधारित करते हुए बताया कि ईश्वर एक है, मूर्तिपूजा तथा कर्मकाण्ड व्यर्थ हैं।

ब्रह्म समाज समस्त धर्मों एवं समग्र जाति के एक ईश्वर के उपासकों का समाज था। इस संस्था का आधार भूत विश्वास यह है, कि ईश्वर निराकार है, शाश्वार है, अज्ञेय तथा नित्य है, वही इस विश्व का सृष्टा एवं रक्षक है [1] राममोहन राय ब्रह्म समाज को सभी धर्मों के प्रति सहिष्णु बनाना चाहते थे। यद्यपि इसकी स्थापना के चार वर्ष के बाद ही उनकी मृत्यु हो गई, तथापि ब्रह्म समाज के विचार क्रमशः बंगाल से बाहर दूर-दूर तक फैल गए

कालिदास नाग एण्ड बर्मन,
इंग्लिश व्कर्स आफ राजा राममोहन राय पंचम भाग पृ0 7। तथा द्वितीय भाग पृ0 4।

और उन्होंने उदारवाद तर्कवाद तथा आधुनिकता का वह वातावरण तेयार किया जिसने भारतीय चिंतन में क्रंाति उत्पन्न कर दी। अपने विकास के दोर में ब्रह्म समाज तीन अवस्थाओं से होकर गुजरा। प्रथम तथा इसके प्रारम्भिक अवस्था का प्रतिनिधित्व राजा राममोहन राय के द्वारा किया गया। द्वितीय अवस्था में इसका प्रतिनिधित्व देवेन्द्रनाथ टेगोर द्वारा किया गया, और तीसरे चरण में यह केशवचन्द्र सेन के नेतृत्व में चला। ब्रह्म समाज में एक चौथा चरण भी आया, जिसे 'सधर्म ब्रह्म समाज' के नाम से पुकारा गया और इसका विकास केशवचन्द्र सेन के कुछ नीतियों के विरूद्ध हुआ।

राजा राममोहन राय वास्तविक रूप में सम्पूर्ण आधुनिक भारत के सामाजिक धार्मिक एवं राजनीतिक आन्दोलन के एक मिश्रित प्रतिनिधि थे, किन्तु युक्तिवाद तथा जातीयतारहित भाव उनके सम्पूर्ण प्रमुख विचारों के केन्द्रबिन्दु थे। देवेन्द्रनाथ टेगोर ने ब्रह्म समाज के कुछ निशचित धर्म विरोधी नीतियों के विरूद्ध आवाज उठायी और हिन्दुत्व के उन पूर्णत्व भावों को स्थापित करने का प्रयत्न किया, जिनका प्रतिनिधि उपनिषदों में मिलता हे। उनका पूर्ण धार्मिक आन्दोलन हिन्दू धर्म को मानव एवं ईश्वर के मध्य संबंधों के रूप में शुद्ध करने की ओर अभिप्रेरित था, तथा इसे विस्तृत करना था। केशवचन्द्र सेन में धार्मिकता एवं युक्तिवाद दोनों का भाव था, किन्तु उनकी धार्मिकता एक दुर्लभ रूप की थी। उनके हाथों ब्रह्म समाज का विकास हुआ, तथा विचारों को साँचे में कसने का प्रयत्न किया।

ब्रह्म समाज ने भारतीय सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्र में फेली हुयी बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न किया। राममोहन राय ने सर्वप्रथम आधुनिक भारत में पुरोहितवाद के अधिनायकत्व तथा कथित धार्मिक दस्तावेज के अधिनायकत्व तथा एक मात्र निशचित मत के विरूद्ध विद्रोह की आवाज को उठाया। राजा राममोहन राय ने अपने सिद्धान्तों में तर्क शक्ति के सिद्धान्त को वृहद रूप में अपनाया। इसीलिए उन्हें प्राचीन युग एवं नव भारत के मध्य का पुल कहा गया।

ब्रह्म समाज एक बुद्धिवादी धार्मिक आन्दोलन था, जिसने व्यक्ति की सामाजिक-धार्मिक स्वतन्त्रता व सामाजिक संबंधों में जनतांत्रिक मूल्यों की घोषणा कर कालान्तर में राष्ट्रीय आन्दोलनों के लिए पृष्ठभूमि तैयार की । यद्यपि ब्रह्म समाज का प्रभाव शिक्षित वर्गो तक ही सीमित था, फिर भी इस आंदोलन ने भारतीयों के समक्ष एक सामान्य लक्ष्य उपस्थित किया । दीर्घकाल के पश्चात् एक सामान्य लक्ष्य का अनावरण ब्रह्म समाज के द्वारा किया जाना अत्यन्त महत्वपूर्ण है । यह आंदोलन पश्चिमीकरण से प्रभावित था । इसका कोई राजनीतिक उद्देश्य नहीं था, लेकिन जिन सिद्धान्तों का जन्म ब्रह्म समाज से होता है, उनका परोक्ष रूप में राष्ट्रीय राजनीतिक आंदोलन में योगदान है एकता, समानता, बन्धुत्व, आत्मनिर्णय के बुद्धिवादी उदारवादी विचार पुनरूत्थानवादी तथा उग्र राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन में भी दृष्टव्य है । ईसाई धर्म से अधिक सामीप्त होने के कारण पुनरूत्थानवादी आंदोलनों ने प्रतिक्रिया के रूप में ब्रह्म समाज से प्रेरणा ग्रहण की थी । पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर पर पाश्चात्य एवं प्राच्च विचारों का प्रभाव पड़ा था । वे संस्कृत के विद्वान थे तथा उनकी गहरी रूचि प्राचीन भारतीय ज्ञान व संस्कृति में थी । पश्चिमी साहित्य में शेक्सपियर, मिल्टन स्काट हक्सले मिल व स्पेन्सर उनके प्रिय लेखक थे । पश्चिम के अध्ययन ने उनकी समाज सुधार की व्यग्रता को तीव्र व व्यापक बना दिया था । तथा उस समय की सामाजिक समस्याओं की वास्तविक प्रकृति को भली - भाँति ग्रहण करने में सहायता दी थी । ऐसा कहना उचित नहीं होगा, कि पश्चिम के मानवतावाद, उदारवाद के कारण ईश्वरचन्द्र ने समाज - सुधार के कार्यक्रमों को अपनाया । यदि उन्होने केवल संस्कृत का ही अध्ययन किया होता तथा गांव से कलकत्ता न आते सम्भवत: तब भी उनके सामाजिक धार्मिक विचारों में कोई कमी नहीं आती।

ईश्वरचन्द्र का ध्यान सबसे पहले हिन्दू समाज की नारी समस्या विशेष रूप से विधवा पुनर्विवाह निषेध की ओर गय।[1] तत्वबोधनी पत्रिका में उन्होने विद्वतापूर्ण लेख लिखे थे । इसमें उन्होने नारी वेदना व अनुभूतियों के संवेदना के साथ सूक्ष्मता से उडेला था ।

---

1. शिवनाथ शास्त्री, मेन आइ हैव सीन पृ0 8

अद्वितीय विद्वता के साथ तार्किक ढंग से शास्त्रीय मान्यताओं के सामांतर विधवा पुनर्विवाह की विवेचना की । सन् 1855 में बंगाल के गणमान्य व्यक्तियों के हस्ताक्षर से विधवा विवाह की वैदिक मान्यता के लिए तथा पुनर्विवाह विधवाओं पुत्रों के उत्तराधिकार के मार्ग में बाधाओं के उन्मूलन हेतु विधायी कौंसिल में याचिका प्रस्तुत की गयी । इश्वरचन्द्र के द्वारा सामाजिक क्षेत्र में 987 व्यक्तियों के हस्ताक्षर अभियान को प्रथम जनआंदोलन की अभिव्यक्ति कुछ विद्वानों ने नहीं माना हे । 26 जुलाई 1856 को विधवा पुनर्विवाह को स्वीकृत करते हुए अधिनियम पारित कर दिया गया । इस अधिनियम का विरोध राजा राधाकान्त देव के नेतृत्व में सनातनी हिन्दुओं ने काफी संख्या में हस्ताक्षर करके याचिका प्रस्तुत की थी । लेकिन यह व्यर्थ सिद्ध हुयी । इस आंदोलन को उतनी सफलता नहीं मिली जितनी ईश्वरचन्द्र चाहते थे लेकिन इसने समाज मन्थन किया तथा जनमानस को कुछ क्षण विचारने के लिए बाध्य किया।[1]

यह बाल विवाह तथा बहुविवाह के विरोधी थे, उनका विचार था कि बालिकाओं की समुचित शिक्षा - दीक्षा होनी चाहिए, और प्रत्येक स्थिति में योग्यवर को ही कन्या सौंपी जानी चाहिए । बाल व बालिका की विवाह की आयु कम से कम 18 व 11 वर्ष होनी चाहिए । बालिकाओं के 11 वर्ष से भी अधिक अविवाहित रहने पर भी ईश्वरचन्द्र को कोई आपत्ति नहीं थी।[2]

शिक्षा के लोकतांत्रिक प्रसार तथा साम्प्रदायिक संकीर्णताओं से मुक्त ज्ञान पर उनका विश्वास था । बंगाल के चार जिलो में 34 बालिका विद्यालयों तथा 20 माडल विद्यालयों का संयोजन ईश्वरचन्द्र ने किया था । दलितों व अस्पृश्यों को भी वे उच्चवर्गो के समान शिक्षा प्राप्त करने का अवसर प्रदान करने के पक्ष में थे, इसी लिए जब वे कलकत्ता संस्कृत कालेज के प्राचार्य हुए, तब गैर ब्राह्मण छात्रों के प्रवेश के लिए भी अनुमति प्रदान की गई ।

---

1. विमन बिहारी मजूमदार 'हिस्ट्री आफ इंडियन सोशल एण्ड पालिटिकल आइडियाज फ्राम राम मोहन राय टू दयानन्द पृ0 12
2. शिवनाथ शास्त्री ' मेन आई हेव सीन' पृ0 189
3. के0 पी0 करूणाकरण - विवेका नन्द चरित पृ0 49

अंग्रेजी शिक्षा को वे उदार दृष्टिकोण निर्मित करने के लिए आवश्यक समझते थे । उनके लिए संस्कृत में लिखा गया प्रत्येक ग्रंथ पवित्र व ग्राह्य था । वे मानते थे, कि अधिकांश हिन्दू धार्मिक साहित्य अपनी विषय वस्तु की दृष्टि से युगानुरूप नहीं रह गया, फिर भी संस्कृत भाषा के विद्वतापूर्ण ज्ञान के लिए इनका अध्ययन अपरिहार्य है । भारतीय दर्शन व पश्चिमी वेज्ञानिक मान्यताओं को वे परस्पर विरोधी नहीं समझते थे । वेदान्त के मायावाद में उनका विश्वास नहीं था तथा वे भौतिकता को आध्यात्मिक मार्ग में अवरोध स्वरूप नहीं मानते थे ।

अस्पृश्यता व जाति - पाति के समर्थक ईश्वरचन्द्र नहीं थे । अवश्य ही उन्होने केशंवचन्द्र की भाँति जाति व्यवस्था का विराध नहीं किया । ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के जीवन में व्यक्तिवाद, मानवतावाद, यथार्थवाद तथा भौतिक दृष्टिकोण के अंश प्राप्त होते हैं । सामाजिक आदर्शवाद तथा सामाजक यथार्थवाद का समिश्रय उनमें मिलता है । उनमें समाज सुधार का दृढ़ विश्वास - स्पष्अवादिता तथा लक्ष्य को प्राप्त करने की तल्लीनता थी । देवेन्द्रनाथ ठाकुर की भाँति सम्पूर्ण जगत को ब्रह्मय देखकर एकान्त में उपासना व योग का अभ्यास ईश्वरचन्द्र ने नहीं किया बल्कि सामाजिक वास्तविकता को स्वीकार करते हुए सामाजिक सम्बन्धों की न्याय पर आधारित करने के लिए उन्होने समाज से अपील की । रवीन्द्रनाथ टेगोर के शब्दों में 'विद्यासागर जैसे व्यक्ति ने चारो ओर के उपेक्षारूपी पाषाणखंडों से बार - बार टकराते हुए अपने कर्मसंकुल जीवन को

मानो चिरकाल व्यथापूर्ण क्षुब्धता के साथ इसलिए बिताया हे कि वे परमार्थिकता से श्रृष्ट हुए बंगाल में पैदा हुए थे । वे मानों सेना विहीन विद्रोही की तरह अपने चोमुखी वातावरण की परवाह न करते हुए जीवन के अन्त तक जयध्वजा को अपने कन्धे पर अकेले उठाते रहे । उन्होने न किसी को पुकारा ओर न किसी ने उन्हें सुना, परन्तु बाधा की पग - पग पर वे जिस शवसाधन में प्रकृत हुए थे, उसके उत्तर साधक भी स्वयं ही थे।[1]

आर्य समाज :

ब्रह्म समाज के समान ही स्वामी दयानंद सरस्वती ने 1875 में आर्य समाज की नींव डाली। ब्रह्म समाज का कार्यक्षेत्र बंगाल और बिहार था, तो आर्य समाज का पंजाब, उत्तर प्रदेश और समीपवर्ती प्रान्त। स्वामी दयानंद का मार्ग राममोहन राय, देवेन्द्रनाथ एवं केशवचन्द्र इन तीनों से भिन्न था । उन्होने पाश्चात्य प्रभाव की बढ़ती हुयी शक्ति को रोका और वैदिक मत की श्रेष्ठता का प्रतिपादन कर भारतीय समाज में आत्मगोरव की भावना को जागृत किया। अपने सारे क्रियाकलाप में आर्य समाज राष्ट्रीयता और प्रजातंत्र की भावना से अनुप्रेरित था। इसने उपजातियों को समाप्त कर हिन्दुओं के समन्वय की चेष्टा की । इसने लोगों में शिक्षा का प्रसार किया, जाति, धर्म, सम्प्रदाय लिंग की एकता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। गुलाम देश की प्रजा होने के नाते उनमें अनिवार्यतः जो हीनभावना घर कर गई थी, उसे समाप्त करने की भी आर्य समाज ने बहुत प्रयत्न किया। आर्य समाज एक प्रकार से भारतीय जनता के

केoपीo करूणाकरन 'रिलीजन एण्ड पालिटिकल अवेकनिंग इन इण्डिया' पृ0 28

राष्ट्रीय जागरण का ही एक रूप था । प्रारम्भ के दिनों में जब राष्ट्रीय जागरण का अभी उद्भव ही हो रहा था, उस समय आर्य समाज की भूमिका प्रगतिशील थी । उसकी सफलता के कारणों पर प्रकाश डालते हुए रोम्यॉरोला कहते हैं-'केशव के ब्रह्म समाज के प्रतिकूल आर्य समाज की आकस्मिक और अत्यन्त सफलता का कारण यह था, कि दयानंद की शिक्षा भारतीय विचारों और भारतीय राष्ट्रीयता के मेल में थी । पाश्चात्यीकरण अतिवाद की सीमा पर पहुँच चुका था, और विचारों की स्वतन्त्रता का विरोधी था । यह भारतीय प्रबुद्ध वर्ग को अपनी जाति की प्रतिभा से घृणा करना सिखाता था ।' जहां तक आध्यात्मिक व नैतिक जीवन का संबंध है उनका नारा वेदों की ओर लौट चलो था, लेकिन वे समाज की भौतिक दशा को बेहतर बनाने के लिए विज्ञानों की शिक्षा तथा पश्चिमी तालीम के पक्ष में थे । आधुनिक शिक्षा तथा बेरोजगारी ने दयानंद को आकृष्ट किया । उनके अनुसार आधुनिक विज्ञान व तकनीकी में अधिकार के बिना आज का कोइ भी समाज उन्नति नहीं कर सकता । राष्ट्रों की प्रगति की होड़ में आगे आने के लिए वैज्ञानिक आविष्कारों व अनुसन्धानों के क्षेत्र में निजी प्रतिमा का प्रयोग आवश्यक है । दयानंद ने वेदों में सम्पूर्ण सकरात्मक विज्ञानों के अस्तित्व को स्वीकार किया है । दयानंद सरस्वती ने सदा इस बात पर बल दिया कि 'वेदों का दृष्टिकोण सत्य के वैज्ञानिक अन्वेषण का रहा है ।'[1] वेदकाल के मनीषियों ने भौतिक जीवन की उपेक्षा करके आध्यात्मिक जीवन के विकास पर कभी बल नहीं था । उन्होंने भौतिक जीवनके सत्यों के अनुसंधान में वैसी ही प्रवृत्ति दिखायी है, जैसी आत्मिक सत्यों के आत्मानुभव के स्तरों के खोज की । सत्य का यह समस्त अनुसन्धान ज्ञान के प्रत्यक्ष अनुभव, विवेकशील चिंतन और आत्मसाक्षात्कार के आधार पर हुआ है अतः वे इसे वैज्ञानिक स्वीकार करते हैं । प्रत्यक्ष जीवन के अनुभव के आधार पर ज्ञान की खोज में प्रवृत्त होने के कारण इन मनीषियों ने अनेक भौतिक सत्यों की खोज की थी । दयानंद ने व्यवसायिक शिक्षण की आवश्यकता के संबंध में लिखाः अब यह स्पष्ट है कि बहुत से पढ़े लिखे लोगों को भी नोकरी नहीं मिलती या वे

---

1. श्री राम गोपालः भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का इतिहास, पृ. 57

जीवन निर्वाह का प्रबंध नहीं कर सकते । ऐसी अवस्था देखकर मैं एक कलाकोशल के स्कूल की आवश्यकता विचारता हूं । विद्यार्थी कलाकोशल सीखने जर्मनी जायें या वहां से अध्यापक बुलाए जाएं। भारत में शिक्षित बेरोजगारों की समस्या आधुनिक शिक्षा पद्धति का दुष्परिणाम है । अविकसित व विकासशील देशों में बेरोजगारी उग्र व हिंसक रूप लेती जा रही है । दयानंद ने तकनीकी शिक्षा में जीविका-निर्वाह का विकल्प देखा, विदेशी शासन में यह दृष्टि उचित ही थी । इस समस्या का संबंध राजनीतिक व्यवस्था के प्रकार तथा समाज में सम्पत्ति के स्वामित्व की स्थितियों से है, क्योंकि आज अनेक अविकसित राष्ट्रों में जो युवा बेरोजगार हैं, उनमें अधिकांश तकनीकी प्रशिक्षण प्राप्त ही तो हैं ।

इस प्रकार आर्य समाज जो कि पंजाब और यूनाइटेड प्राविन्स में फेल रहा था, एक ओर तो यह परम्परावादी हिन्दू धर्म पर आघात करता है, तो दूसरी ओर पाश्चात्य विचारों पर आक्षेप करता है ।

आर्य समाज आधुनिक भारत के सुधार-आंदोलन में सबसे अधिक शक्तिशाली एवं प्रभावशाली सिद्ध हुआ । अंग्रेजी सभ्यता से अप्रभावित और हिन्दू समाज के पुनरूत्थान के लिए कटिबद्ध आर्य समाज ने भारतीय जन-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका अदा की । इसने बाल विवाह, अन्धविश्वास, अशिक्षा, पर्दा प्रथा, छूआछूत तथा समुद्रयात्रा-निषेध के विरूद्ध आवाज उठाई एवं विधवा विवाह तथा स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहित किया । दयानंद ने उन हिन्दुओं को अपने प्राचीन धर्म की याद दिलाकर स्वालम्बी बनाने का प्रयास किया जो पाश्चात्य प्रभाव से चकाचोंध हो रहे थे । आर्य समाज के प्रयत्नों से ही हिन्दू धर्म विभिन्न आघातों से बच पाया । स्वामी दयानन्द ने सती-प्रथा को पाप और क्रूरता बतलाया तथा समाज में स्त्रियों की समानता पर बल दिया ।[1]

आर्य समाज ने हिन्दुओं में प्रचलित सम्प्रदायवाद, मत-मतान्तरों, मूर्ति पूजा, श्राद्ध,

---

1. डा. सत्यकेतु विद्यालंकार व हरिदत्त वेदालंकार आर्य समाज का इतिहास पृ.25।

जाति-पाँति , अस्पृश्यता, कन्यावध आदि का विरोध करते हुए वैदिक धर्म तथा प्राचीन आर्य सभ्यता के पुनरूत्थान का प्रयत्न किया । आर्य समाज के अनुसार ईश्वर निराकार है, अतः उसकी मूर्तियां बनाकर पूजा करना उचित नहीं है । आर्य समाज ने अनेकेश्वरवाद और अवतारवाद का विरोध करके एकेश्वरवाद को सम्मानित किया और बताया कि ईश्वर की उपासना सत्कर्म एवं ब्रह्मचर्य व्रत के द्वारा मोक्ष प्राप्ति की जा सकती है । आर्य समाज ने हिन्दू धर्म की कुरीतियों का जनाजा निकाला । मृतकों के श्राद्ध का विरोध करके इसे काल्पनिक मूर्खतापूर्ण बताया ।

आर्य समाज ने समाज में सुधारवादी विचारों के प्रचार में बड़ी सहायता दी । इसका सबसे बड़ा योगदान यह रहा कि भारत के भूतकाल में गौरव बोध जागृत हुआ और आर्य धर्म के प्रचार के लिए जोश उत्पन्न हुआ इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आर्य समाज ने शिक्षा संबंधी संस्थाओं की स्थापना की यानि उच्चतर शिक्षा के लिए कालेज, माध्यमिक शिक्षा के लिए विद्यालय स्त्रियों की शिक्षा के लिए संस्थाएं और प्राचीन भारतीय तरीकों के अनुसार शिक्षा देने के लिए गुरूकुल स्थापित किए ।[1] दयानंद ने जो आन्दोलन शुरू किया उससे देश में आत्म-निर्भरता और आत्म-विश्वास की भावना जागृत हुयी ।

प्रार्थना समाज :

प्रार्थना समाज की स्थापना बम्बई में केशवचन्द्र सेन के द्वारा सन् 1867 में की गयी थी । प्रार्थना समाज के नेताओं में डा0 आत्माराम पाण्डुरंग, रामबालकृष्ण, एन.एम.परमानन्द, भारे महाजन, डब्लू.वी.नौरंगी, वी.ए.मोदक, वी.एम.बाग्ले थे । 1870 में आर.जी.भण्डारकर व महादेव गोविंद रानाडे भी प्रार्थना समाज में सम्मिलित हो गए । 1873 तक प्रार्थना समाज में एस.पी.केलकर, एन.जी.चन्दावरकर, पंडित रामाबाई, के नटराजन, एस,एम.गोखले, वी.आर.शिन्दे, वी.ए.सुखान्तर व एन.जी.वेलिन्कर आदि ने सम्मिलित होकर सक्रिय

---

1. डा. ताराचन्द्र : भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का इतिहास भाग द्वितीय पृ. 378

समाजसुधार व सेवा का कार्य किया । प्रार्थना समाज को ब्रह्म समाज का ही निष्पंद कहा जा सकता है ।[1]

साधारण ब्रह्म समाज की भाँति ही प्रार्थना समाज के भी धार्मिक विश्वास थे । प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों व महाराष्ट्र के सन्त कवियों विशेषकर तुकाराम के गीतों का प्रयोग प्रार्थना ने अपने धार्मिक कार्यक्रमों में किया । मूर्तिपूजा, पुनर्जन्म में अनास्था, जाति-उन्मूलन, विधवा विवाह , स्त्री, शिक्षा का प्रसार , बाल-विवाह निषेध प्रार्थना समाज की रिपोर्ट में कहा गया है कि ईश्वर इस जगत का सृजनकर्ता है, उसके अतिरिक्त अन्य कोई सत्य ईश्वर नहीं है । परमेश्वर निराकार, अद्वितीय सर्वव्यापी व सर्वशक्तिमान है । मात्र उसी की भक्ति से अभ्युदय व निःश्रेयस की प्राप्ति हो सकती है । प्रार्थना, प्रेम, सत्कार आध्यात्मिक गुणगान ईश्वर को प्रसन्न करने के उपाय हैं । मूर्तिपूजा व अन्य स्वनिर्मित देवी-देवताओं की पूजा व प्रार्थना वास्तविक ईश्वर की भक्ति नहीं है । परमेश्वर अवतार नहीं लेता तथा कोई ऐसा ग्रन्थ नहीं है जिसका प्रकाशन ईश्वर ने किया हो, तथा जिसमें अंतिम सत्य ही संकलित हो । सभी मनुष्य उस परमपिता की संतान हैं, इसीलिए बिना भेद-भाव के प्रत्येक के साथ बंधुत्व आचरण करना चाहिए यही मानव-मात्र का कर्तब्य है, जिससे ईश्वर आह्लादित होता है।[2]

प्रार्थना समाज ने हिन्दू धर्म व समाज से अपने को पृथक नहीं किया । उसकी मान्यता थी कि हिन्दू समाज व धर्म के अतीत के सम्बन्ध-विच्छेद किए बिना धर्म व समाजसुधार का कार्य पृथक-पृथक किया जा सकता है । प्रार्थना समाज अनेकों सामाजिक संस्थानों में परिवर्तन आवश्यक समझता था । लेकिन परिवर्तन की नीति के संबंध में समाज का यह विचार था कि हिन्दू धर्म का मूल रूप अपरिवर्तित रहे । प्रार्थना समाज की मान्यताएँ संरक्षणशील थीं । उपनिषदों व वेदों को प्रार्थना समाज ने अंतिम सत्य के रूप में स्वीकार नहीं किया । इसने प्रार्थना व भक्ति को ही ईश्वर से साक्षात्कार का एक उचित मार्ग समझा तथा ईश्वर की वैयक्तिक दिव्यता व नैतिक उद्देश्यों से सम्पन्नता को सांसारिक न्यायपरायणता से

---

1. जे.एन. फर्कुहर, माडर्न रिलीजिस मूवमेन्ट्स इन इण्डिया , पृ. 76-77
2. पृ. 80

संयुक्त किया । जब व्यक्ति ईश्वर के रूप व गुणों की कल्पना उसे नैतिकता का पुंज व संरक्षक मानकर करता है, उसकी भक्ति व अनुराग में सच्चे हृदय से विह्वल होता है, तो उसका लौकिक आचरण भी नैतिक व न्याय संगत हो जाता है ।

यद्यपि प्रार्थना समाज एक धार्मिक संगठन था, लेकिन समाज सुधार के क्षेत्र में यह निष्क्रिय नहीं रहा । डा० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा के अनुसार 'समाज ने श्रद्धा तथा शान्तिपूर्ण चिन्तन के स्थान पर सामाजिक कार्य को अधिक महत्व दिया । उसकी दिशा सुधारवादी थी उसने समाज के अधिकारहीन तथा दरिद्रवर्गों के उद्धार को भी अपने कार्यक्रम में सम्मिलित किया । प्रार्थना समाज पर ईसायत् के आस्तिकवाद का भी कुछ प्रभाव था । जहां तक सामाजिक संबंधों की बातें थी ब्रह्म समाज की तुलना में उसकी जड़े हिन्दुत्व में अधिक गहरी थी ।[1] रानाडे, भण्डारकर व चन्दावरकर के प्रभावों के कारण प्रार्थना समाज ने विशेष रूप से शिक्षा के प्रसार के लिए कार्य किया । प्रार्थना समाज ने 'सुबोध' पत्रिका का सम्पादन व प्रकाशन किया । 1870 के पश्चात् बम्बई में श्रमिकों के लिए रात्रि विद्यालय व निःशुल्क वाचनालय , महिलाओं की शिक्षा के लिए महिला संगठनों की स्थापना विभिन्न स्थानों में प्रार्थना समाज द्वारा की गयी । 1906 में वी.ए.शिन्दे ने 'डिस्प्रेस्ड कलासेज मिशन सोसायटी आफ इंडिया' की बम्बई में स्थापना की । ईसाई मिशनरियों की भांति प्रार्थना समाज ने भी मानव-सेवी कार्य करके ईसाइयों के द्वारा के द्वारा भारतीयों के धर्म परिवर्तन कराये जाने की रणनीति को कुण्ठित किया । पश्चिमी व दक्षिणी भारत में सामाजिक समानता व न्याय के लिए प्रार्थना समाज ने कार्य करके आगामी आन्दोलनों के सेवा संगठनों के लिए प्रेरणा का मार्ग प्रशस्त किया । उन्नीसवीं शताब्दी के भारत की सर्वांगीण पतनावस्था का प्रभाव रानाडे के विचारों में परिलक्षित होता है । ब्रिटिश आधिपत्य व भारतीय सामाजिक दशा रानाडे के समाज सुधार दर्शन की पृष्ठभूमि तैयार करते हैं । रानाडे हिन्दू समाज के पाँच आधारभूत पतन के कारणों को दूर करने के पक्ष में थे ।

---

1. वी.पी.वर्मा, आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन, पृ. 7

1. पृथकत्व की भावना, बाह्य जगत से सम्पर्क न रखने की प्रवृत्ति के कारण स्वभाविक रूप से व्यक्ति असमाजिक व स्वार्थी हो जाता है ।

2. अन्तःकरण की पुकार न सुनकर वाह्य शक्तियों के समक्ष समर्पण की प्रवृत्ति।

3. वंश व जन्म के आधार पर सामाजिक विषमता।

4. कुरीतियों व दुष्कृत्यों को निष्क्रियता के साथ सहन करते जाना ।

5. भाग्यवाद, ऐहिक जीवन से परामुखता ।[1]

रानाडे समाज सुधार को राष्ट्रीय कार्यक्रम मानते थे । रानाडे समाज को जटिल अवयवी मानते थे तथा सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा धार्मिक समस्याओं को वे एक दूसरे से सम्बद्ध व आत्मनिर्भर मानते थे । विभिन्न समस्याओं की पारस्परिक आत्मनिर्भरता में समाज सुधार का स्थान राजनीतिक उपलब्धि या आर्थिक विकास से कम नहीं है । एक ही साथ राष्ट्रीय जीवन के विकास के लिए विभिन्न क्षेत्रों में जैसे राजनीति, धर्म, साहित्य, शिक्षा, उद्योग, अर्थशास्त्र तथा सामाजिक पुर्नसंरचना के कार्य होने चाहिए । रानाडे ने स्वयं सभी क्षेत्रों में उत्थान के लिए काम किया । उनकी धारणा थी कि राजनीति के क्षेत्र में ही नहीं बल्कि स्त्रीशिक्षा, विधवा-विवाह का उन्मूलन तथा जाति बन्धनों की शिथिलता के लिए कार्य किया जाना चाहिए । देश के औद्योगिकरण वर्नाकूलर भाषाओं के प्रोत्साहन, सहानुभूतिपूर्ण प्रशासनिक व्यवस्था, उपासना की विशुद्ध पद्धति के लिए भी आन्दोलन होना चाहिए ।[2]

रानाडे क्रांति के द्वारा सामाजिक परिवर्तन लाना चाहते थे । उनके अनुसार एक स्वस्थ समाज तभी निर्मित हो सकता है, जब व्यक्ति बौद्धिक दृष्टिकोण व नवीन ज्ञान को उपलब्ध करके समानता के सिद्धान्त के अनुसार आचरण करेंगे । अब सामाजिक संबंधों को न्याय व बुद्धि पर आधारित किया जायेगा । रानाडे के विचार से भारतीय समाज की दुर्गति पराधीनता काल के धर्म व रूढ़ियों को अपनाने के कारण हुयी है । अतः अन्तरात्मा की पुकार

---

1. डी.एस. शर्मा, द रिनेसां आफ हिन्दुइज्म, पृ. 155

2. के. दामोदरन, भारतीय चिन्तन परम्परा, पृ. 383

के अनुसार ही किया गया आचरण औचित्यपूर्ण व न्यायपूर्ण है । रानाडे का विश्वास था कि व्यक्ति को विवेक के अनुसार आचरण करना चाहिए । भावना के अनुसार नहीं । किसी पुस्तक या व्यक्ति के आदेशों का मूक पालन करने के स्थान पर आत्मा से परामर्श करके कार्य करना आन्तरिक अनुशासन है । यदि व्यक्ति आन्तरिक अनुशासन में रहता है, तो वह निरंकुशता व उत्पीड़न से मुक्त हो जायेगा । चाहे वह निरंकुशता धर्म की हो, या समाज की । रानाडे को भारत के अतीत से गहरा अनुराग था, लेकिन वे कट्टर अर्थ में पुनरूत्थानवादी नहीं थे ।[1] पश्चिम के विचारों का प्रभाव रानाडे पर पड़ा था, वे अवश्य ही एक उदारवादी विचारक थे, लेकिन वे उग्रव्यक्तिवादी व उपयोगितावादी नहीं थे, क्योंकि जो वास्तव में आस्तिक है, वह भौतिकवादी नहीं हो सकता है । आध्यात्मिकता तथा उपयोगितावादी कार्यसाधकता परस्पर विरोधी है । रानाडे का सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक उदारवाद संकीर्ण व्यक्तिवाद व बैंथम के सुखवाद से प्रभावित नहीं है ।

थियोसाफिकल सोसाइटी:

नये देशी और अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव के कारण भारत में जो धर्म सुधार आन्दोलन उदित हुए, उनमें एक थियोसफी भी था । 1875 में न्यूयार्क में एक रूसी महिला हेलना पेट्रोवना बलेवात्सकी और अमेरिका के कर्नल ओल्काट के सम्मेलन से इस सोसायटी की स्थापना की गई थी । 1879 में ये दोनों भारत आये और उन्होंने भारत में हिन्दू धर्म तथा समाज में आ गयी कुरीतियों को दूर करने का सन्देश दिया । बाद में श्रीमती एनी बेसेंट ने इसका प्रचार किया और इस संस्था की अध्यक्षा नियुक्त हुई । यह आंदोलन इस अर्थ में महत्वपूर्ण था कि यह हिन्दू धर्म के महान् प्रशंसक एक गैर भारतीय द्वारा शुरू किया गया था । जिस समय भारत के अनेक शिक्षित लोग पाश्चात्य सभ्यता का अन्धानुकरण करने में ही अपने को गौरवान्वित समझकर भारतीय धर्म तथा संस्कृति को घृणा की दृष्टि से देखने लगे थे, उस समय एनी बेसन्ट

---

1. सी.वाई.चिन्तामणि, इंडियन सोशल रिफार्म, भाग दो,पृ. 89

ने हिन्दू धर्म तथा संस्कृति की महानता का संदेश देकर उनमें स्वधर्म तथा स्वदेश के प्रति निष्ठा उत्पन्न कराने का कार्य किया । इसने भारतीयों में राष्ट्रीय भावना के विकास का प्रयत्न किया ।

थियोसफी आन्दोलन के धार्मिक शिक्षा के मुख्य बिन्दु थे । ईश्वर की एकता, ईश्वर का क्रिया रूप आत्माएं, विश्वबन्धुत्व जिनमें यह भी माना गया था कि कुछ जातियां अधिक उन्नत हैं कुछ कम।[1] एनी बेसेन्ट ने गीता का अनुवाद किया और रामायण तथा महाभारत पर संक्षिप्त भाष्य लिखे । इसके द्वारा ही यूरोप और अमेरिका में भगवद्गीता तथा उपनिषदों का प्रचार हो सका । थियोसफी ने पुरातन हिन्दू धर्म के आध्यात्मिक दर्शन और उनके पुर्नजन्मवाद को स्वीकार किया । इस सोसायटी ने अन्य सुधार संस्थाओं की भाँति बाल विवाह, छुआछूत आदि बुराइयों को दूर करने के प्रयत्न किए । इसके लिए अनेक स्थानों पर स्कूल, कालेज छात्रावास स्थापित किए । इसने जाति, धम्र, प्रजाति और योन भेद से दूर विश्वबन्धुत्व के सिद्धान्त का प्रचार किया ।थियोसोकिस्टों का घोषित उद्देश्य नस्ल, धर्म, लिंग जाति अथवा वर्ण के भेदभाव के बिना मानवता में सार्वजनिक भ्रातत्व का केन्द्र स्थापित करना, तुलनात्मक धर्म, दर्शन और विज्ञान के अध्ययन को प्रोत्साहन देना और मनुष्य में छिपी शक्तियों तथा प्रकृति के गुप्त नियमों का अन्वेषण करना था।[2]

1905 में श्रीमती एनीबेसेन्ट ने लिखा और बातों के अतिरिक्त, भारतीय आदेशों पर आधारित और पश्चिम की विचारधारा और संस्कृति के समिश्रण से संभव शिक्षा पद्धति और राष्ट्रीय भावना का विकास भारत के लिए आवश्यक है ।[3] दर्शन एवं धर्म की प्राचीन भूमि भारत में थियोसफी सोसायटी कभी धर्म व दर्शन के नेतृत्व में अग्रणी नहीं हो सकी । लेकिन भ्रातत्व दर्शन, विज्ञान धर्मो के तुलनात्मक अध्ययन व प्राकृतिक नियमों के खोज संबंधी सिद्धान्तों का भारतीय बुद्धिजीवियों पर उदारवादी प्रभाव पड़ा। हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता का

---

1. डा0 ताराचन्द, भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का इतिहास, भाग-दो,पृ. 375
2. के.दामोदरन, भारतीय चिन्तन परम्परा, पृ. 391-2
3. ए.आर.देसाई, भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, पृ. 235

प्रतिपादन करते हुए भी थियोसाफिकल विचारकों ने धार्मिक सहिष्णुता को प्रोत्साहन दिया और वर्गों में भ्रातत्व की भावना उत्पन्न करने का प्रयत्न किया । आर्य समाज की भाँति इस सोसायटी ने भारतीयों में अपने अतीत के प्रति और धार्मिक विरासत के प्रति स्वाभिमान जागृत करके भारतीय राष्ट्रवाद के विकास में महत्वपूर्ण ढंग से हाथ बँटाया।[1]

रामकृष्ण मिशन:

स्वामी रामकृष्ण परमहंस भी उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय पुनर्जागरण के महान् चिन्तक दार्शनिक एवं समाज सुधारक हुए हैं ।स्वामी रामकृष्ण परमहंस का सन्देश था कि विभिन्न धर्म एक ही लक्ष्य पर पहुँचने के विभिन्न मार्ग हैं । भारतीयों को पाश्चात्य संस्कृति की नकल नहीं करनी चाहिए, उनका यह सन्देश राष्ट्रीयता की भावना जगाने वाला था । स्वामी रामकृष्ण की शिक्षाओं से प्रभावित हो उनके शिष्यों ने अपने गुरू के नाम पर 'रामकृष्ण मिशन' नामक संस्था की स्थापना की । स्वामी रामकृष्ण की मृत्यु के बाद उनके प्रमुख शिष्य विवेकानन्द ने इसकी स्थापना की । यह आज भी स्वतन्त्र भारत में तथा अन्तर्राष्ट्रीय जगत में रामकृष्ण मठ व मिशन के रूप में स्वयं को गतिशील बनाए हुए है ।

स्वामी विवेकानन्द रामकृष्ण मिशन की आत्मा थे । देश-विदेश में उन्होंने अपने गुरू, अपने धर्म, अपनी संस्कृति और अपने देश का नाम उज्जवल किया । विवेकानन्द ने विभिन्न धर्मावलम्बियों में किसी वेमनस्य का सन्देश नहीं दिया किन्तु उन विदेशी तत्वों और उनसे प्रभावित व्यक्तियों की आँखे खोल दी, जो हिन्दू धर्म को भारतीय संस्कृति को हेय बताते थे । विवेकानन्द ने हिन्दू धर्म की महानता का प्रभावशाली प्रदर्शन किया, उन्होंने अपने भाषण से लोगों को बता दिया कि संसार में कोई भी धर्म मनुष्यता की गरिमा को इतने उच्च स्वर में प्रकट नहीं करता जैसे कि हिन्दू धर्म प्रकट करता है ।[2] उनके अनुसार हिन्दू

---

1. के.पी.करूणाकरन: कन्टीन्यूटी एण्ड चेन्ज इन इण्डियन पालिटिक्स, पृ. 26
2. रोमन रोलान्ड, विवेकानन्द, पृ. 70

सभ्यता संस्कृति सबसे प्राचीन, सत्य शिवं और सुन्दरं है, इसलिए प्रत्येक हिन्दू को अपने इस धर्म की पाश्चात्य विचारों व सभ्यता से रक्षा करनी चाहिए । लेकिन उनके विचारों में संकीर्णता नहीं थी उन्होंने यह भी कहा कि पाश्चात्य सभ्यता आध्यात्मिक न होकर भौतिक व स्वार्थपूर्ण है, परन्तु हिन्दुओं को पाश्चात्य शिक्षा तथा काम करने के ढंग को सीखना चाहिए क्योंकि इसके बिना परिवर्तित परिस्थितियों में उत्थान नहीं हो सकता है । इस प्रकार विवेकानन्द ने पश्चिमी विज्ञान को अपनाते हुए स्वयं को भारतीय आध्यात्मिक परम्पराओं से विलग नहीं किया है । संघ का विश्वास है कि विज्ञान व आध्यात्मिकता का सम्मिश्रण ही आधुनिक युग की मांग है । 'स्वामी विवेकानन्द ने अपनी दूर दृष्टि से देखा था कि पूर्व के वेदान्त और पश्चिमी के समवाय से निकट भविष्य में एक ऐसी महान् संस्कृति का उद्भव होगा जो विविध धर्मो और संस्कृतियों के वैशिष्ट्य की रक्षा करती हुयी एकत्व के आधार पर अनन्त विस्तार का मार्ग उन्मुक्त रखेगी, जो आपसी हिंसा और ध्वंसात्मक स्वार्थवृत्ति को जन्म न देकर मानव जाति को विश्व भ्रातत्व के स्वर्ण सूत्र में गूँथ देगी और इस प्रकार उसे क्रमोन्नति के पथ पर आगे बढ़ने में सब प्रकार से सहायता देगी । यह अभेद ज्ञान अथवा एकत्व अनुभूति ही अनन्त प्रेम, विश्व भ्रातृत्व और नैतिक धर्म का मूल स्त्रोत है । शान्तिप्रिय मानव आज वेदान्त की इस उदार गंभीर अभयवाणी को सुनने के लिए उद्ग्रीव से उठा है । वेदान्त व विज्ञान का विवाद आज तिरोहित हुआ है । कुरूक्षेत्र के समरांगण में जिस प्रकार श्री भगवान के कण्ठ से एक दिन साम्य और मैत्री. की वाणी उद्घोषित हुयी थी, आज भी इस संकटमय परिस्थिति में उसी प्रकार विश्वासियों को वेदान्त और विज्ञान के समन्वय पर आधारित एकत्व और शांति की वाणी सुननी होगी।[1]

विवेकानंद ने समाज सेवा को ही सर्वोपरी स्थान दिया है । स्वामी जी ने कहा है कि 'प्रत्येक नर-नारी को सभी को ईश्वर बुद्धि से देखों, तुम किसी की सहायता नहीं कर सकते, तुम केवल सेवा कर सकते हो । प्रभु की संतानों को और यदि सौभाग्य मिले तो स्वयं

---

1. स्वामी तेजसानन्दः रामकृष्ण संघ-आदर्श व इतिहास, पृ. 64-65

प्रभु की सेवा करो । तुम धन्य हो कि सेवा करने का अधिकार तुम्हें मिला है, जबकि औरों को वह नहीं मिला । उसे पूजा की ही दृष्टि से देखो । मैं अपने सामने कुछ दरिद्र और पीड़ित व्यक्तियों को देखता हूं, मैं अपनी मुक्ति के लिए उनके समीप जाऊँगा और उनकी पूजा करूंगा, वहाँ ईश्वर का वास है । कुछ लोग जो दु:ख कष्ट भोग रहे हैं, वह हमारी तुम्हारी मुक्ति के लिए दी-जिससे कि हम रोगी, पागल, कोढ़ी, पापी आदि के रूपों में अपने सामने आने वाले प्रभु की पूजा कर सके । यदि हम इन सारे अलग-अलग रूपों में प्रभु की सेवा कर सकें, तो यही हमारे जीवन का सर्वश्रेष्ठ भाग होगा । यह धारणा मन से निकाल दो कि तुम किसी का कल्याण कर सकते हो । तुम्हें शुद्ध चित्त होना होगा, और जो भी तुम्हारे पास आकर उपस्थित हो उसकी यथा शक्ति सेवा करनी होगी । दूसरों की इस प्रकार सेवा करना शुभ कर्म है । ऐसे सत्कर्मो से चित्त शुद्ध होता है , और सबके अभ्यन्तर में जिन शिव का वास है वे प्रकाशित होते हैं ।[1]

स्वामी विवेकानन्द ने भारतवासियों को आत्म विश्वास और आत्म निर्भरता का सन्देश दिया तथा उन्हें स्वाभिमान का पाठ पढ़ाया । उनके इन विचारों से भारतीयों में हीनता की भावना दूर होने लगी, उनमें नवजीवन का संचार होने लगा ।

स्वामी विवेकानन्द ने सक्रिय रूप से राजनीति में भाग नहीं लिया, और न ही राजनीतिक आन्दोलन के पक्ष में थे, फिर भी उन्होंने गतिशील राष्ट्र के निर्माण की कामना की थी । उनकी शिक्षाओं ने भारतीय समाज में राष्ट्रीयता को जन्म दिया, राष्ट्र का सम्मान करना सिखाया । रामकृष्ण मिशन ने शिक्षा, नारी उत्थान, चिकित्सा, ग्रामीण विकास, आध्यात्मिक व सांस्कृतिक आदि कल्याणकारी कार्यो में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी । आज भी यह संस्था अस्पताल खोलना, आश्रम चलाना, अनाथालय स्थापित करना, विद्यालय तथा वाचनालय चलाना आदि कार्य करके समाज सेवा में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रही है ।[2]

---

1. स्वामी तेजसानन्द:श्री रामकृष्ण संघ आदर्श व इतिहास, पृ. 38-40
2. रोमन रोलान्ड, विवेकानन्द, पृ. 70

पारसी सुधार आंदोलन :

राजा राम मोहनराय ओर रानाडे के प्रभाव से प्रारम्भ किए गए सामाजिक सुधार आंदोलन ने पारसियों में भी नयी जागृति उत्पन्न की ।[1] पारसियों की सामाजिक स्थिति में उत्थान लाने के लिए 1851 में नौरोजीफरदून जी ने पारसी धर्म सुधार सभा की स्थापना की । पारसी सुधारकों के प्रयासों से 1865 में विशेष पारसी विवाह व विवाह विच्छेद अधिनियम निर्मित हुआ । पारसी समुदाय हिन्दुओं की भांति स्त्रियों के प्रति अनुदार नहीं था । इस अधिनियम के अनुकूल वातावरण पारसी समाज में उपस्थित था । हिन्दू पुनरूत्थान की भांति जरथुस्त्र धर्म की प्राचीन शुद्धता को फिर से स्थापित करने के प्रयास किए गए । पारसी समाज धर्म सुधार आंदोलन पारसी समाज से प्रारम्भ होकर पूरे भारतीय समाज तक व्यापक हो गया । हिन्दू समाज के वातावरण का पारसी समाज में प्रभाव पड़ा हिन्दू सामाजिक धार्मिक परम्पराओं का अनुसरण पारसी समाज ने किया । पारसियों का पुरोहित वर्ग एक वंशानुगत जाति बन गया था उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में पारसी समुदाय अशिक्षा सामाजिक रूढ़ियों व धार्मिक कर्मकाण्डों से ग्रसित था।[2]

बेहराम जी मालाबारी (1853-1912) ने नारी उत्थान हेतु प्रभावशाली ढंग से कार्य किया उन पर बम्बई विश्वविद्यालय के प्रथम कुलपति डा0 विल्सन का गहरा प्रभाव पड़ा था।[3] आंग्ल साहित्य में दासता के कारण बम्बई के आंग्ल समुदाय में उनकी सराहना की जाती थी । लेकिन धार्मिक प्रश्नों में दृढ़ पारसी थे । 1887 में मालाबारी ने 'इनफेन्ट मेरिज एन्ड इनफोर्सड विडोहुड' नामक पुस्तिका का प्रकाशन किया । 1890 में इग्लैंड प्रवास के समय 'अपील आन बिहाफ आफ द डाटर्स आफ इंडिया' नामक पुस्तिका मालाबारी ने प्रकाशित की । 1880 के दशकों में मालाबारी का समाचार पत्र 'इंडियन स्पेक्टेटर' नारी उत्थान के लिए उत्साह के साथ संघर्ष कर रहा था । 1901 में ईस्ट एन्ड वेस्ट' नामक पत्र मालाबारी ने आरम्भ

---

1. के. दामोदरन, भारतीय चिन्तन परम्परा पृ. 393-394
2. जे.एन. फर्कुहर, माडर्न रिलीजियस मूवमेण्ट्स इन इंडिया, पृ. 83
3. सी.एच. हाइमसेथ, इंडियन नेशनलिज्म एण्ड हिन्दू सोशल रिफार्म्स, पृ. 149

किया , जो कि बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में समाज सुधार के लिए वेचारिक क्रांति कर रहा था । मालाबारी ने पत्रकारिता के माध्यम से साहस व कुशलता के साथ समाज का ध्यान स्त्री समस्याओं की ओर केन्द्रित किया । नारी समस्याओं के चित्रण व विवेचन में मालाबारी की प्रतिभा अद्वितीय थी । उनके प्रयासों से ऐसा ज्ञात होता है कि उन्होंने नारी वेदना की जीवन्त अनुभूति की थी ।

बेहराम जी मालाबारी सामाजिक सुधार को राजनीतिक सुधार की पूर्वदशा समझते थे . जनमत के माध्यम से उन्होंने शासन के ऊपर नारी सुधार के लिए विधेयन हेतु दबाव आरोपित किया । पारसी होते हुए उन्होंने हिन्दू सामाजिक समस्याओं में गहरी अभिरुचि प्रदर्शित की । उन्होंने घोषित किया कि हिन्दू धर्मशास्त्रों में बलात् वेधव्य को अनुमोदित नहीं किया गया है ।[1] 1891 में शासन ने 'द एज आफ कान्सेन्ट एक्ट' (स्वीकृति आयु अधिनियम) पारित किया जिसके द्वारा विवाह सुधारों को लागू किया गया था । यह अधिनियम भारतीय राष्ट्रीय उग्रवादियों की अनिच्छा के कारण विवादग्रस्त हो गया था । मालाबारी व उनके सुधारक सहयोगियों ने इस अधिनियम के निर्माण काल के बाद विवाद व मतसंग्रह में अत्याधिक उत्साह के साथ भाग लिया था । नारी उत्थान के प्रश्नों में वे सेद्धान्तिक ही नहीं थे । 1908 में बम्बई में मालाबारी व दयाराम गिडुमल ने 'सेवा सदन' की स्थापना स्त्री शिक्षा, चिकित्सा सेवा के लिए की । मालाबारी एक सक्रिय भारतीय समाज सुधारक पत्रकार व मानवतावादी थे । उनके लिए भारतीय विवाह पद्धति में सुधार का प्रश्न जीवशास्त्रीय किस्म का सुधार था, जिसका प्रत्यक्ष संबंध राष्ट्रीय शक्ति व क्षमता से था । विधि निर्माण के द्वारा समाज सुधार राज्य के दायित्वों के साथ ही समाज की आधी जनसंख्या नारी दुर्बलता की समाप्ति की दिशा में मालाबारी की प्रगतिशील भूमिका रही थी । पारसी व हिन्दू समाज के मध्य घनिष्ठता इस तथ्य से भी दृढ़ हुयी, क्योंकि पारसी समाज सुधार ने, मुस्लिम सुधार की भाँति हिन्दू सुधारों से अपने को पृथक नहीं रखा बल्कि पारसी सुधारक हिन्दू सुधार के लिए अधिक प्रयत्नशील थे।

---

1. सी.एच. हाइमसेथ इंडियन नेशनलिज्म एन्ड हिन्दू सोशल रिफार्म, पृ. 155

देव समाज व राधास्वामी सत्संग जैसे कुछ लघु सामाजिक, धार्मिक आंदोलन भी हुए - इनमें से कुछ आन्दोलनों ने राष्ट्रीय जागरण के साथ सहयोग नहीं किया । इन लघु आंदोलनों ने भी किसी न किसी रूप में ब्रह्म समाज , प्रार्थना समाज थियोसाफी आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन की भांति , लेकिन छोटे पैमाने पर हिन्दू धर्म के मूल सिद्धान्तों की परिधि में नवीन आदर्शो के लिए कार्य किया ।

मुस्लिम सुधार आंदोलन :

हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों के मध्य सुधार कार्य कुछ विलम्ब से हुए, क्योंकि पश्चिमी संस्कृति व साहित्य के प्रति प्रारम्भ में वे अधिक आकृष्ट नहीं हुए । मुस्लिम समुदाय अंग्रेजों से इसलिए भी असंतुष्ट था, क्योंकि 1857 के प्रथम भारतीय स्वाधीनता संग्राम काल में भारत के विधानतः अन्तिम मुगल सम्राट बहादुरशाह को नृशंसतापूर्ण ढंग से अपदस्थ करके अंग्रेज शासकों ने भरत में मुस्लिम राजनीतिक सत्ता की इतिश्री कर दी थी । भारतीय वस्त्र उद्योग के विनाश की प्रक्रिया में मुस्लिम जनसंख्या अधिक प्रभावित हुई थी । कट्टर मध्ययुगीनता तथा निर्धनता के कारण पश्चिमी संस्कृति व साहित्य को आत्मसात् करने में मुस्लिम समुदाय हिचकिचा रहा था । इस्लाम धर्म अस्पृश्यता व जाति विभाजन को स्थान नहीं देता । यह हिन्दू धर्म की तुलना में अधिक समतावादी तथा जनतांत्रिक रहा है, क्योंकि अरब में इस्लाम का जन्म विशेषाधिकार प्राप्त सामाजिक श्रेणियों के अन्याय,अत्याचार व शोषण के विरूद्ध जनसामान्य की आवाज का प्रतिकलन था । इस्लाम, हिन्दू धर्म की अपेक्षा जातिभेद व अस्पृश्यता से मुक्त होने के कारण अधिक साम्य व एकता पर बल देता है लेकिन अन्धविश्वास व अशिक्षा के कारण मुसलमानों का दृष्टिकोण इस्लाम के प्रति आधुनिक होने के स्थान पर पुरातन तथा बौद्धिक वैज्ञानिक व आलोचनात्मक की आह कट्टर, संकीर्ण व रूढ़िवादी हो गया था । इस्लाम के लोकतांत्रिक मूल्य मात्र सैद्धान्तिक बन कर रह गये थे । 'उन्नीसवीं' सदी के अंत में मुसलमान आधुनिक शिक्षा की ओर मुड़े । धीरे-धीरे उनके बीच भी

शिक्षित आधुनिक बुद्धिजीवी वर्ग का उदय हुआ। इस बुद्धिजीवी वर्ग के कुछ लोगों ने धीरे-धीरे राष्ट्रीय दृष्टिकोण भी अपनाया। साथ ही मुसलमानों में भी व्यापारिक और औद्योगिक बुर्जुआजी का जन्म हुआ, और उनके बीच भी राष्ट्रवाद की भावना फेली।[1]

1889 में मिर्जा गुलाम अहमद द्वारा स्थापित अहमदिया आंदोलन कमोवेश उदारवादी सिद्धान्तों पर आधारित था। ब्रह्म समाज की भांति यह भी विश्वधर्म के सिद्धान्त पर विश्वास करता था। यह हिन्दुओं के धर्म सुधार आंदोलन, पाश्चात्य उदारवाद, और थियोसकी से काफी प्रभावित था। इस आंदोलन ने भारतीय मुसलमानों में पाश्चात्य उदारवादी शिक्षा का प्रचार किया। इसके लिए कई शिक्षण संस्थाएं खोलीं और अंग्रेजी तथा देशी भाषाओं में किताबें और पत्र-पत्रिकायें प्रकाशित कीं। शीघ्र ही मुसलमानों में भी नई शिक्षा का प्रचार हुआ, राष्ट्रीय दृष्टिकोण को बल मिला और राष्ट्रीयता, सामाजिक मामलों में प्रजातांत्रिक सुधार के रास्ते पर अग्रसर हुए।

सर सैयद अहमद खां ने पश्चिम की नयी सभ्यता के आधार पर मुसलमानों को शिक्षित करने का कार्य अपने सामने रखा। इस भावना की अभिव्यक्ति अलीगढ़ आंदोलन में हुई। सैयद अहमद खां इस आंदोलन के अगुआ थे। सर सैयद अहमद खां ने मुसलमानों को राजनीतिक रूप से जागरूक बनाने और उनके बीच आधुनिक शिक्षा के प्रचार का समर्थन किया। वे उन्हें यूरोपीय संस्कृति और सभ्यता की उपलब्धियों के प्रति जागरूक करना चाहते थे। इस आंदोलन का उद्देश्य था, कि मुसलमानों में पाश्चात्य शिक्षा का प्रचार इस प्रकार से किया जाये, जिससे उनके धर्म पर कोई आँच न आये। इस उद्देश्य को सामने रखकर इस आंदोलन ने 1875 में अलीगढ़ में 'महामदन एंग्लो ओरिएंटल कालेज' की स्थापना की। जिसने आगे चलकर अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय का रूप धारण किया।

इस आंदोलन ने मुसलमानों में आधुनिक ढंग से सामाजिक और सांस्कृतिक विकास का प्रयत्न किया।[2] इसने बहुविवाहवाद की और विधवा विवाह पर लगे सामाजिक प्रतिबंध की तीव्र भर्त्सना की, इस्लाम में विधवा विवाह की अनुमति है, लेकिन जो लोग हिन्दू धर्म छोड़कर

---

1. ए.आर.देसाई, भारतीय राष्ट्रवाद की सामजिक पृष्ठभूमि पृ 240
2. ए.आर.देसाई, भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि पृष्ठ 243

मुसलमान हुए थे वेसे कुछ लोगों में विधवा विवाह व्यवहारतः निषिद्ध था। अलीगढ़ आंदोलन कुरान की उदारवादी व्याख्या पर आधारित था। इसने आधुनिक उदारवादी संस्कृति और इस्लाम में तालमेल बैठाने की कोशिश की। अलीगढ़ आंदोलन के शुरू होने पर, बंबई, पंजाब, हेदराबाद और अन्य जगहों में भी स्वतंत्र, कमोवेश प्रगतिशील आंदोलन शुरू हुए।

इस प्रकार के आंदोलनों ने मुसलमानों में औरतों की सामाजिक स्थिति को सुधारने वाले और हानिकर रीति रिवाज को खत्म करने वाले आंदोलनों को काफी बढ़ावा दिया। उदारवादी विचार भावनाओं के प्रसार से बाल विवाह के साथ-साथ बहुविवाह प्रथा भी खत्म होने लगी। अंग्रेजी शिक्षा तथा पाश्चात्य विचारों और संस्थाओं के सम्पर्क के फलस्वरूप केवल सामाजिक क्षेत्र में ही सुधार की मांग नहीं हुयी, अपितु राजनीतिक दृष्टि से भी शीघ्रता से परिवर्तन आ रहे थे। 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस जेसी संस्था की स्थापना नए भारत की अभिलाषाओं तथा आकांक्षाओं का मूर्त रूप थी।[1] वेसे गहराई से सोचे तो कांग्रेस 1857 के विद्रोह और उसके दमन के समय से ही फेल रहे जागरण की परिणति थी, किन्तु यह कहना कठिन होगा कि अपने जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में कांग्रेस कहां तक उस राजनीतिक और आर्थिक असंतोष की वाणी थी, जो विदेशी शासन के अन्यायों और दोषों के कारण उमड़ रहा था।[2]

1857 की क्रांति के बाद यह सिद्ध हो गया कि कम्पनी देश का भार संभालने में अयोग्य तथा असमर्थ है, अतः शासन सत्ता कम्पनी के हाथों से ले ली गयी। अब भारत ब्रिटिश संसद के अधीन हो गया। इसके लिए संसद ने 'एक्ट फार द बेटर गवनेमेण्ट आफ इण्डिया' नामक कानून पास करके गर्वनर जनरल को वाइसराय अर्थात इग्लेण्ड के राजा का प्रतिनिधि बताया तथा बोर्ड आफ कन्ट्रोल एण्ड डायरेक्टर्स के स्थान पर 'सेक्रेटरी आफ स्टेट फार इण्डिया' (भारत के लिए राज सचिव) नियत किया। ब्रिटिश राजा के हाथों में सत्ता जाने से पहले भी भारत में शिक्षित समुदाय ने राजनीतिक परिवर्तन के लिए प्रयत्न प्रारम्भ कर दिये थे।

---

1. सुभाष कश्यप : भारत का संवैधानिक विकास और स्वाधीनता संघर्ष पृ0 56
2. डा0 ताराचन्द : हिस्ट्री आफ फ्रीडम मोवमेन्ट-द्वितीय भाग पृ0 254

सामाजिक सुधारों ने राजनीतिक परिवर्तन के लिए पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी। वास्तव में राजनीतिक विचारों का प्रादुर्भाव राजा राममोहनराय के समय से ही हो गया था। राजा राम मोहन राय ने प्रेस की स्वतन्त्रता के लिए कलकत्ता उच्चतम न्यायालय में गर्वनर जनरल श्री ऐडम्स के विरूद्ध जो स्मरण पत्र प्रस्तुत किया था, वह नागरिक अधिकारों की रक्षा के लिए भारत की जनता द्वारा उठाया गया पहला कदम था। राजा राममोहन राय के पश्चात् उदारवादी तथा अनुदारवादी दोनों वर्गों के समर्थकों ने उनके कार्यों को आगे बढ़ाया इन सबमें उग्रवादी का अनुदाय प्रमुख है। उन्होंने 1828 में एकेडिमिक एसोसिएशन की स्थापना की, जो राजनीतिक प्रश्नों पर भी विचार करता था। 1838 में उन्होंने सोसायटी फार दि एक्यूजीशन आफ जनरल नालेज का निर्माण किया, जिसमें प्रेस की स्वतंत्रता, न्याय संबंधी प्रश्न आदि पर भी वाद-विवाद होता था। तत्पश्चात् 1842 में द्वारकानाथ टैगोर ने जार्ज टाम्सन को भारत आमंत्रित किया, इसका उद्देश्य भारतीयों की दशा का अध्ययन करना तथा शांतिपूर्ण उपायों द्वारा देश की सुरक्षा का प्रयत्न करना था। नागरिक अधिकारों की रक्षा करना था। 1838 में कलकत्ता के जमींदारों द्वारा सरकार से कर मुक्त भूमि की रक्षा करना था। 1851 में जमींदारों तथा उग्रवादियों ने संयुक्त रूप से 'ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन की नींव डाली। इसके प्रथम प्रेसीडेन्ट राधाकान्त देव तथा सकेटरी देवेन्द्रनाथ थे। इस संस्था का मुख्य उद्देश्य स्थानीय स्वशासन में कुछ परिवर्तनों की मांग करना था। 1852 में जागन्नाथ शंकर, दादा भाई नोरोजी आदि ने मिलकर बम्बई में 'दी बाम्बे एसोसिएशन' का निर्माण किया था। इसका उद्देश्य सरकार को जनकल्याण के सुझाव देना था। इसी प्रकार मद्रास में हिन्दू सभा तथा पूना में सार्वजनिक सभा की नींव डाली गयी थी। उपरोक्त संस्थाएं भारत के मध्यम वर्ग द्वारा निर्मित की गई थी, जिन्होंने अंग्रेजी शिक्षा तथा पाश्चात्य विचारों के फलस्वरूप प्रेरणा ग्रहण कर भारत में राजनीतिक जाग्रति के लिए पृष्ठभूमि तैयार की। यद्यपि इस समय एक सर्वशक्तिशाली नेतृत्व के अभाव में यह राजनीतिक आन्दोलन दुर्बल था, लेकिन आगे चलकर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना करके यह साधक रहा।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना भारत के इतिहास में एक अभूतपूर्व घटना थी। इसे राजनीतिक आंदोलन का दूसरा चरण कहा जा सकता है। इसने भारत में नवीन युग का प्रारम्भ किया, प्रथम बार देशव्यापी नेतृत्व मिला जिसे सम्पूर्ण देश ने एकमत होकर स्वीकार कर लिया।

कांग्रेस की स्थापना श्री ऐलन आक्टेवियन ह्यूम ने की थी। ह्यूम जोजेफ ह्यूम के पुत्र थे। उनका जन्म 1829 में हुआ था। 1846 से उन्होंने सरकारी पद पर कार्य प्रारम्भ किया, परन्तु 1879 में लार्ड लिटन ने भारत सरकार के सेक्रेटरी पद से स्वतंत्र विचार रखने तथा निडर होकर उन्हें कहने के कारण निर्दयता पूर्वक हटा दिया था।[1]

ह्यूम का विचार था कि भारतीयों और अंग्रेजों का हित एक ही है[2]। साथ ही साथ वह यह भी अनुभव करते थे कि सरकार भारतीय जनता के सम्पर्क में बिल्कुल नहीं है। शासक और शासितों के मध्य सम्पर्क स्थापित करने वाला कोई साधन नहीं है तथा भारतीय समस्याओं और जनमत से परिचित रहने के लिए सरकार के पास कोई संवैधानिक साधन उपलब्ध नहीं है।[2] ह्यूम स्वतंत्र विचारों के व्यक्ति थे। अतः वे एक ऐसे संगठन की स्थापना भी करना चाहते थे, जो सम्पूर्ण देश का प्रतिनिधित्व कर सके। 1 मार्च 1883 में कलकत्ता विश्वविद्यालय के स्नातकों को संबोधित करते हुए उन्होंने लिखा 'प्रत्येक राष्ट्र एक उत्तम सरकार की व्यवस्था चाहता है तुम लोग चुने हुए तथा देश के सबसे अधिक शिक्षित वर्ग, अपने लिए अधिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए संगठित होकर संघर्ष नहीं कर सकते, तो भविष्य में उन्नति की समस्त आशाओं को अभी से समाप्त समझना चाहिए।[3]

भारत के राजनीतिक नेता जो देश के विभिन्न भागों में एक संगठित शक्ति के निर्माण हेतु भटक रहे थे, ह्यूम के रूप में उन्हें नया सहारा मिला। 1884 में ह्यूम ने इन नेताओं के साथ मिलकर 'भारतीय राष्ट्रीय संघ' की योजना बनाई। इस योजना का उद्देश्य था 'संवैधानिक उपायों द्वारा सभी शक्तियों को चाहे वह उच्च हो अथवा निम्न, यहां हो अथवा इंग्लैंड में उन कार्यों का विरोध करना जो भारतीय सरकार के उन सिद्धान्तों के विरूद्ध हों जिन्हें ब्रिटिश संसद तथा सम्राट द्वारा निर्धारित किया गया है[4]। कांग्रेस ऐसी राष्ट्रीय संस्था थी,

---

1. डब्लू. वर्डन बर्न: एलन आक्टेवियन ह्यूम पृ. 52
2. " पृ.52
3. " पृ.52
4. जान मर्डाक: ट्वेल्व इयर्स आफ इंडियन प्रोग्रेस पृ. 36

2.

3.

4.

जिसमें विभिन्न जातियों और समुदायों के लोग थे जो अपने अस्तित्व पर बड़ा खतरा मोल लेकर ही सामाजिक भूमिका अदा कर सकती थी।

कांग्रेस का संगठन तो ह्यूम ने इस उद्देश्य से किया था, कि देश में बढ़ता हुआ असंतोष किसी प्रकार उग्ररूप धारण न करे और उदारवादी दिशा में अग्रसर किया जा सके। इस उद्देश्य में कुछ समय तक पर्याप्त सफलता मिली। बहुत से एसोशिएशन कांग्रेस में मिल गए तथा कांग्रेस उन सारी राष्ट्रवादी शक्तियों का संगम बन गयी , जो आर्यसमाज, प्रार्थना समाज, ब्रह्म समाज, थियोसकी आदि धार्मिक सुधार तथा सामाजिक सेवा आंदोलन के रूप में सक्रिय थी। कांग्रेस उन लोगों का रंगमंच बन गयी, जो भारतीय राष्ट्रवाद के सूत्रधार थे, और उन्हीं के द्वारा महत्वपूर्ण राजनीतिक प्रश्नों पर किए गए सार्वजनिक विचार विमर्श से जनता में राजनीतिक चेतना जागनी प्रारम्भ हुयी।

इस सम्पूर्ण विवेचन से स्पष्ट है कि राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न पक्षों पर पाश्चात्य सम्पर्क ने विभिन्न प्रकार के प्रभाव डाले विभिन्न आधारों तथा तथ्यों का समावेश किया लेकिन पश्चिम का प्रभाव ऐसा नहीं रहा, जिसने भारत के मौलिक चिंतन, भारत की आत्मा को पराभूत कर दिया हो अथवा आत्मसात् कर दिया हो। वास्तव में भारत ने अपनी महान् संस्कृति के बल पर अपनी मौलिकता, अपनी जीवन शक्ति बनाए रखी और विदेशी शासन के रवैये के कुप्रभावों के खिलाफ अन्त में एक ऐसा प्रबल झंझावात खड़ा करने में सफलता प्राप्त की जिसने भारत को आखिर आजादी की सांस दिला दी। इसमें संदेह नहीं है कि विदेशी शासन और पश्चिमी सम्पर्क का अनेक दृष्टियों से विशेषकर नवचेतना और पुर्नजागरण की दृष्टि से अच्छा प्रभाव पड़ा। अंग्रेजी शिक्षा के कारण अनेक राष्ट्रवादी नेता पश्चिम के आधुनिक लोकतांत्रिक रूप और विचारों को आत्मसात् कर सके। पश्चिम के लोकतांत्रिक विचारों के प्रभावित नेताओं के पथ-प्रदर्शन के कारण ही राष्ट्रीय आंदोलन ने स्वराज्य प्राप्ति के बाद प्राक ब्रिटिश काल के राजतंत्रवाद और सत्तावादी सामाजिक व्यवस्था को पुनः स्थापित करने की कोशिश नहीं की। ए.आर. देसाई ने पाश्चात्य सम्पर्क की प्रगतिशील भूमिका को दर्शाते हुए लिखा है कि 'आर्थिक राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक सारे प्रगतिशील आंदोलन के लगभग सभी नेता अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त बुद्धिवादी वर्ग के थे। लगातार बढ़ते हुए और कहरे

होते हुए राष्ट्रीय आंदोलन के नेताओं में अधिकांश आधुनिक पद्धति से शिक्षित हुए थे।[1] लेकिन भारतीय पूर्णोदय का एक मात्र कारण पाश्चात्य सम्पर्क को ही मानना उचित नहीं है। इस शिक्षा से भारत में एक ऐसा बुद्धिजीवी मध्यमवर्ग का उदय हुआ था, जिसका मस्तिष्क पश्चिमी था, परन्तु सामाजिक परिवेश मध्यमयुगीन था। राष्ट्रवाद, समाजवाद लोकतंत्र जैसी विचारधाराओं को भारतीय विचारकों ने अपने मौलिक विचारों से सींचा है। और उन पाश्चात्य विचारों को भारत की आवश्यकतानुसार संतुलित किया है। पाश्चात्य सम्पर्क के प्रभाव के फलस्वरूप 'भारत में विदेशी सरकार का कार्यक्षेत्र क्रमशः सिकुड़ता गया। विदेशी शासन के क्रांतिकारी प्रभाव के बावजूद उसमें भारतीय समाज के पुर्ननिर्माण की न तो क्षमता थी और न ही इच्छा। इसने आधुनिक नौकरशाही और कुशल शासन तंत्र की स्थापना की तथा लोक कल्याणकारी शासन के बीज भी डाले, किन्तु व्यापक सामाजिक और आर्थिक प्रश्नों पर इसका रूख अनुदार और दकियानूसी ही रहा। देश में अभाव और कष्ट बढ़ते गए तथा उन्हें दूर करने के अवसर भी प्रस्तुत हुए, लेकिन अंग्रेजी शासन ने कुछ न कुछ करने की नीति अपनायी। इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि वह राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं, सामाजिक क्षेत्र में भी अकर्मण्य और अनुदार है। ब्रिटिश सरकार का यह सौभाग्य था, कि जनता के कष्ट और असंतोष ने विद्रोह का मार्ग न पकड़कर राष्ट्रीय आंदोलन का मार्ग पकड़ा।

---

1. ए.आर.देसाई: भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि पृ0 132

तृतीय अध्याय

राजा राममोहन राय के सामाजिक तथा राजनीतिक विचार

बंग भूमि महापुरुषों और महान् चिन्तकों की प्रसूता रही है । अठाहरवी शताब्दी के अंतिम चर्तुथांश में एक महान् चिन्तक और समाज सुधारक राजा राममोहन राय का बंगाल मे प्रार्दुभाव भारत के आधुनिक इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है । राजा राममोहन राय एक प्रतिष्ठित जमींदार घराने की ज्योति थे । महापुरुषो का जीवन नानाविध अटकलो और विवादों से पूर्ण होता है । राजा राममोहन राय का जन्म कब हुआ, यह निश्चित रूपेण बता पाना कठिन है ।

कार्पेन्टर ने अपनी पुस्तक 'रिव्यू आफ द लेबर्स ओपेनियन्स एंड कैरक्टर आफ राजा राममोहन राय' में लिखा है कि राजा राममोहन राय संभवतः 1774 में पैदा हुए थे ।[1] 1872 में निर्मित राजा राममोहन राय की समाधि पर उनकी जन्म तिथि 1774 अंकित है ।[2] जान डिग्बी ने लन्दन में राजा राममोहन राय की कृतियों 'केनोपनिषद' का और 'वेदान्त का सार' का अंग्रेजी अनुवाद 1817 में पुनः प्रकाशित करवाया । उसकी भूमिका मे उन्होंने कहा है कि उस समय उनकी आयु "तैतालिस वर्ष" थी ।[3] जो गणनापरान्त उनकी जन्म तिथि 1774 में होने की पुष्टि करता है। किन्तु राजा राममोहन राय के कनिष्ठ पुत्र राम प्रसाद ने 1858 मे लिखा है कि मेरे पिता का जन्म कृष्णनगर के समीपवर्ती कस्बे राधानगर में मई 1772 में हुआ था ।[4] सोकिया डी० कोलेट ने इसी तिथि का समर्थन करते हुए एक निश्चित तिथि प्रस्तुत की है-उनका जन्म 22 मई, 1772 में हुआ था ।[5] राजा राममोहन राय की आरम्भिक गतिविधियों के सम्यक् विश्लेषण के पश्चात् यह निष्कर्षनिकलता है कि उनकी जन्म तिथि 22 मई 1772 मानना अधिक युक्ति संगत है ।

राजा राममोहन राय के पिता का नाम रमाकान्त तथा माता का नाम तारिणी देवी था । तारिणी देवी, जिन्हें 'फूल ठकुरानी' कहकर पुकारा जाता था, दृढ़ व्यक्तित्व वाली महिला थीं । वे अपने पुत्र को धार्मिक अनुशासन में रखती थीं । वैष्णव परिवार में जन्म लेने के कारण राजा

---

1. डॉ० कार्पेन्टर, बायोग्रेफीकल स्केच, प्रथम प्रकाशन, 1833
2. आर०पी० चन्दा और जे०के० मजूमदार, लेटर्स एण्ड डाकुमेंन्टस, पृष्ठ–20

सोफिया०डी० कोलेट 'लाइफ एण्ड लेटर्स आफ राजा राममोहन राय' पृष्ठ–15
सी०एच० डाल०,'सन्डेमिरर,' 18 जनवरी 1880
सोफिया डी० कोलेट 'लाइफ एण्ड लेटर्स आफ राजा राममोहन राय' पृष्ठ–1

राममोहन राय नित्य पूजा-पाठ किया करते थे । तत्वबोधिनी पत्रिका ने राजा राममोहन राय की प्रारम्भिक जीवन में धार्मिक प्रवृत्ति का उल्लेख करते हुए लिखा है कि प्रारम्भ मे राजा राममोहन राय वैष्णव धर्म की पूजा बड़ी लग्नता के साथ करते थे और नित्य श्रीमदभागवत् के पाठ किए बिना जल की एक बूँद भी ग्रहण नहीं करते थे ।[1]

राजा राममोहन राय की प्रारम्भिक शिक्षा पिता की छत्रछाया में हुयी । जैसा कि उन्होंने अपने एक पत्र में स्वयं लिखा है कि "मैंने अपनी कुल परम्परा तथा पिता की इच्छानुसार फारसी तथा अरबी भाषाओं का अध्ययन किया जिनका तत्कालीन कचहरियो में अति महत्व था मुस्लिम समाज इसे अधिक महत्व देता था । अपने मातामह की कुल प्रथा तथा संस्कारों के अनुसार मैंने श्रद्धा के साथ संस्कृत भाषा और हिन्दू धार्मिक ग्रन्थों का भी अध्ययन किया ।"[2] पटना मे अरबी भाषा का अध्ययन करते समय उनका सम्पर्क कुछ मौलवियों से हुआ । अनेक प्रख्यात शिक्षकों के सम्पर्क में आकर उन्होंने इस्लाम धर्म का भी अध्ययन किया और यूकलिड व अरस्तू की पुस्तकों के अरबी अनुवाद भी पढ़े । इस शिक्षा से प्रभावित होकर उनके मन में सभी धर्मों की वास्तविकता को जानने की जिज्ञासा प्रबल हुयी ।[3] इस्लामी संस्कृति के वातावरण, कुरान और सूफी दर्शन के अध्ययन तथा उर्दू, फारसी व अरबी भाषाओं के ज्ञान ने उन्हें हिन्दू धर्म के अन्तर्गत मूर्तिपूजा की प्रथा का विरोधी बना दिया था साथ ही वे हिन्दुओं के कर्मकाण्ड की पद्धतियों का भी विरोध करने लगे थे । अपने धर्म के प्रति इस प्रकार की अनास्था देखकर उनके पिता रमाकान्त अत्यन्त ही क्षुब्ध हुए । पिता से धार्मिक विवाद इतना अधिक बढ़ गया था कि पन्द्रह वर्ष की अवस्था मे ही उन्हें पिता का घर छोड़ना पड़ गया था । घर से निकल जाने पर उन्होंने तिब्बत की यात्रा की, वहाँ उन्होंने बौद्ध धर्म के जिस पाखण्डपूर्ण तथा मिथ्याचार भरे रूप को देखा उससे उन्हें बौद्ध धर्म के प्रति भी घृणा हो गयी । उन्होंने लामाओं तथा उनके अंधभक्तों की तीव्र आलोचना की जिसके फलस्वरूप उनके प्राण

---

1. तत्वबोधिनी पत्रिका, वैसाख (अप्रैल) 1846
2. राजा राममोहन राय का कलकत्ते के मि0 जोर्डन को लिखा गया पत्र
   सोफिया डी0कोलेट लाइफ एण्ड लेटर्स आफ राजा राजमोहन राय, पृष्ठ-496
3. आर0पी0 चन्दा और जे0के0मजूमदार, राजा राममोहन राय, लेटर्स एण्ड डाकूमेन्टस पृष्ठ-30

खतरे में पड़ गए थे। कुछ दयालु महिलाओं ने उनके प्राणो की रक्षा की ।[1] इस घटना से राजा राममोहन राय का ध्यान महिलाओ की समस्याओं की ओर गया तथा इस घटना का प्रभाव राजा राममोहन राय पर इतना अधिक पड़ा कि वे नारीकाज़ के पक्के समर्थक बन गए और नारियों की स्वतन्त्रता के लिए उन्होंने जीवन पर्यन्त प्रयास किया । तिब्बत मे राजा राममोहन राय दो या तीन वर्ष व्यतीत किए थे । राजा राममोहन राय के मित्र विलियम आदम के अनुसार तिब्बत में राजा राममोहन राय की भेंट कुछ सन्यासियों से हुयी जो उन्हीं की तरह सत्य की खोज मे भटक रहे थे । उनके सम्पर्क में रहने से राजा राममोहन राय के मन में एक ही ईश्वर की भावना प्रबल व स्पष्ट हुयी ।[2] तिब्बत की यात्रा करने के पश्चात् राजा राममोहन राय ने बनारस मे रहकर संस्कृत और अन्य हिन्दू प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन किया । विशेष रूप से उपनिषद और वेदान्त का अध्ययन किया और उनसे वे बहुत ही प्रभावित हुए । उपनिषदों मे प्रतिपादित एकैश्वरवाद के सिद्धान्त ने उन्हें विशेष रूप से आकर्षित किया । उन्हें एक ऐसे ईश्वर का बोध हो चुका था जिसका आधारपूर्ण सत्य है और जो सभी धर्मों मे विद्यमान है । उन्हें यह बोध हो गया था कि निराकार ईश्वर की उपासना सभी धर्मों में समान रूप से विद्यमान है ।[3]

1803 में राजा राममोहन राय के पिता रमाकान्त की मृत्यु हो गयी । पिता की मृत्यु के पश्चात् राजा राममोहन राय को मुर्शिदाबाद में मि0 थामस वुडफोर्ड के प्राइवेट मुन्शी की नौकरी मिल गयी। मि0 थामस वुडफोर्ड अपीलीय न्यायालय के रजिस्ट्रार के पद पर थे । वहीं राजा राममोहन राय ने 1803 में ही अपनी प्रथम पुस्तिका फारसी में 'तुहफत उल मुवाहिद्दीन' प्रकाशित करवायी ।[4] 1805 में राजा राममोहन राय ने मि0 डिग्बी की नौकरी में प्रवेश किया । मि0 डिग्बी रामगढ़ के मजिस्ट्रेट के रजिस्ट्रार के पद पर थे । दस वर्ष तक राजा राममोहन राय ने डिग्बी के अधीन प्राइवेट मुन्शी की नौकरी की । इस लम्बे समय मे राजा राममोहन राय का परिचय जान डिग्बी के अतिरिक्त अन्य

---

1. आर0पी0 चन्दा और जे0के0 मजूमदार, 'राजा राममोहन राय लेटर्स एण्ड डाकुमेन्ट्स' पृष्ठ–30
2. सोकिया0डी0 कोलेट, लाइफ एण्ड लेटर्स आफ राजा राममोहन राय, पृष्ठ–5
3. उपरोक्त
4. बृजेन्द्र नाथ सील, रागमोहन राय द यूनिवर्सल मैन, साधारण ब्रह्म समाज पृष्ठ–9

अंग्रेजों से हुआ । विचारों का आदान–प्रदान हुआ । भागलपुर, रामगढ़ और जैसोर में काम करने के बाद वे 1809 में जान डिग्बी के साथ रंगपुर मे कलेक्टर के दीवान बने । 1814 तक राजा राममोहन राय ऐसे व्यक्तियों के सम्पर्क में आए जिनके साथ वे धार्मिक विषयों पर वाद–विवाद करते थे । जान डिग्बी की उनके प्रति विशेष सहानुभूति थी । उन्हीं की प्रेरणा से राजा राममोहन राय ने अंग्रेजी भाषा व चरित्र का ज्ञान प्राप्त कर लिया था । मि0 डिग्बी ने राजा राममोहन राय की दो पुस्तकें 'वेदान्त का सार' व 'केनोपनिषद' का अंग्रेजी अनुवाद पुनः प्रकाशित किया ।[1] उसकी प्रस्तावना मे उन्होंने लिखा है कि बाईस वर्ष की आयु में उन्होंने अंग्रेजी का अध्ययन प्रारम्भ किया । जान डिग्बी से जब राजा राममोहन राय का परिचय हुआ था तब वह केवल अंग्रेजी समझ सकते थे और साधारण विषयों पर बोल सकते थे लेकिन भली–भाँति लिखना नहीं जानते थे । अंग्रेजों के सम्पर्क में आकर ही उन्होंने अंग्रेजी का गहनता से अध्ययन किया और विदेशियों के सम्पर्क मे आने से राजा राममोहन राय को यूरोपीय लोगों के आचार–विचार व व्यवहार का भी ज्ञान हो गया था । अंग्रेजी सामाचार–पत्रों को नित्य पढ़ते थे । यूरोप के राजनैतिक जीवन मे उनकी रुचि बढ़ने लगी थी । इन सबके फलस्वरूप कठिन परिश्रम से अंग्रेजी भाषा का ज्ञान राजा राममोहन राय को इतना अधिक हो गया था कि अब वे बिना गलती किए अंग्रेजी लिख व बोल सकते थे । यूरोपीय ज्ञान को भली भाँति जानने के लिए उनके मन में यूरोप जाने की इच्छा भी जाग्रत हुयी लेकिन इस अवधि में राजा राममोहन राय का ध्यान भारतीय समाज के जीवन में प्रविष्ट हो गयी कुप्रथाओं, अंधविश्वासों, तथा आडम्बरों की ओर गया जो पूरे देश को पतन की दिशा में ले जा रहे थे ।[2]

1811 में उनके भाई जगमोहन की मृत्यु तथा विधवा भाभी द्वारा सती होने की घटना ने उन्हें अत्यन्त विचलित कर दिया था । नगेन्द्र नाथ चटर्जी के शब्दों में जब राममोहन राय अपनी भाभी को नहीं बचा सके, तो अत्यन्त ग्लानि व असह्य क्रोध से भरकर उन्होंने प्रतिज्ञा की कि जब तक उस क्रूर प्रथा को समाप्त नहीं कर देंगे तब तक चैन नहीं लेंगे । उन्होंने लिखा है, जब आग की लपटें उसके शरीर को छूने लगीं तोअसह्य ताप से बचने के लिए वह चिता से कूद कर निकल

---

1. आर0पी0 चन्दा और जे0के0 मजूमदार 'राजा राममोहन राय लेटर्स एंड डाकुमेन्टस' पृष्ठ–37
2. बिस्वास और गांगुली,द लाइफ एंड लेटर्स आफ राजा राममोहन राय पृष्ठ–23

जाना चाहती थी परन्तु उसके रुढ़िवादी संबधियों, परिवार के सदस्यो, तथा पुरोहितो ने उसे मृत्यु का आलिंगन करने के लिए विवश कर दिया । ढोल, नगाड़े व अन्य बाजे बजाकर उसकी चीत्कार को व्यर्थ कर दिया गया । जब राजा राममोहन राय उसे बचा नहीं सके तो असह्य रोष व वेदना से भर गए । इस घटना ने उन्हें समाज सुधारक बन जाने की प्रेरणा दी ।[1]

राजा राममोहन राय जब हिन्दू समाज के रुढ़िवादी तत्वों से लोहा ले रहे थे तो उन्हें ईसाई मिशनरियों की ओर से भी चुनौती मिली । उनका मुकाबला करने के लिए उन्होंने बाइबिल का अध्ययन किया। ईसाई धर्म में भी उन्होने धर्म की वास्तविकता को खोजा। वह ईसाई धर्म के नैतिक सिद्धान्तों से प्रभावित हुए। उनका विचार था कि इससे हृदय व मस्तिष्क के गुणों का विकास हो सकता है ।[2] उन्होने बाइबिल के नए व पुराने दोनों ग्रन्थों का अध्ययन किया, इसके लिए, उन्होने हेब्रू व यूनानी भाषाओं का अध्ययन किया और कई पुस्तकें लिखीं । 1820 में 'द प्रिसेप्टस आफ जीसेस द गाइड टू पीस एंड हैपीनैस नामक पुस्तक संस्कृत व बंगला में अनुवाद के साथ प्रकाशित हुयी ।[3]

सन् 1827 ई0 में राजा राममोहन राय ने ब्रिटिश इण्डिया यूनीटेरियन एसोसिएशन (ब्रिटिश भारतीय एकेश्वरवादी संघ) की स्थापना की और बीस अगस्त सन् 1828 को ब्रह्म समाज की नींव डाली । औपचारिक रूप मे ब्रह्म समाज का उद्घाटन 23 जनवरी सन् 1830 को हुआ ।[4] राजा राममोहन राय के जीवन के अन्तिम तीन वर्ष विदेशों की यात्रा में व्यतीत हुए । यद्यपि उस समय भारत का अधिकांश भाग ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी के प्रभुत्व में आ चुका था, तथापि देश के शेष भाग में मुगल सम्राट की औपचारिक साम्राज्यशाही बनी हुयी थी । राजा राममोहन राय के हृदय में विदेशियों के धर्म, संस्कृति, राजनीतिक संस्थाएं आदि को समीप से देखने की तीव्र अभिलाषा थी ।

---

1. नगेन्द्र नाथ चटर्जी, लाइफ आफ राममोहन राय, पृष्ठ–23
2. एडरीनी मोरे, राममोहन राय एंड अमेरिका, पृष्ठ–10
3. यून0एनबाल0, राममोहन राय, पृष्ठ–105
4. जी0एस0 लियोनार्ड, हिस्ट्री आफ द ब्रह्म समाज पृष्ठ–36

इसके अतिरिक्त राजा राममोहन राय की विदेश यात्रा के तीन उद्देश्य थे ।

सन् 1830 मे दिल्ली के तत्कालीन नाममात्र के बादशाह अकबर द्वितीय ने अपने एक राजकीय कार्य कराने के लिए राजा राममोहन राय को इंग्लैंड भेजने का निश्चय किया । दिल्ली का मुगल सम्राट ईस्ट इंडिया कम्पनी के प्रति अपनी कुछ शिकायतें इंग्लैंड के बादशाह के आगे पेश करना चाहता था और इस काम के लिए उसे राममोहन राय से योग्य व्यक्ति कोई नहीं मिला अतएव उसने नवम्बर 1830 को राममोहन राय को 'राजा' की पदवी देकर विधिपूर्वक अपने राजदूत के रूप में इंग्लैंड भेजा ।[1]

द्वितीय उद्देश्य सती-प्रथा निषेध के लिए हाउस आफ कामन्स को एक स्मरण पत्र देना था । राजा राममोहन राय के सती निषेध संघर्ष केविरूद्ध कुछ परम्परावादी ब्राह्मण भी संघर्ष कर रहे ये जो सती. प्रथा के समर्थन मे याचिका प्रस्तुत कर रहे थे अतः राजा राममोहन राय उनकी याचिका को निष्फल करने के लिए इंग्लैड जाना चाहते थे ।[2]

तृतीय उद्देश्य 'चार्टर' के नवीनीकरण के अवसर पर ब्रिटिश संसद मे उपस्थित रहना था । 1832 में सुधारों संबंधी विधेयक भी प्रस्तुत किया जाने वाला था । वे भारत की प्रतिष्ठा को बनाए रखने के लिए सचेत थे ।[3]

राजा राममोहन राय ने सभी धर्मों का अध्ययन करके भारत मे आधुनिक विचारों की पृष्ठभूमि तैयार की । भारतवर्ष में एक सामाजिक क्रांति का सूत्रपात किया । उनकी यह मान्यता थी कि हिन्दुओं के राजनैतिक पतन का मुख्य कारण उनका सामाजिक एवं धार्मिक पतन है । हिन्दुओं की वर्तमान धर्म प्रणाली ऐसी है जिससे उनके राजनैतिक हितों की पूर्ति में सहायता नहीं मिल सकती है उनके बीच असंगठित विभाजनों तथा उप-विभाजनों को जन्म देने वाली जाति प्रथा ने उनको राजनैतिक भावना से पूर्णतया वंचित कर दिया है तथा असंख्य धार्मिक संस्कारों तथा शुद्धीकरण के

---

1. मैरी कार्पेन्टेर, लास्ट डेज़इन इंग्लैड आफ राजा राममोहन राय पृष्ठ-57
2. एडरीनी मोरे, राममोहन राय एंड अमेरिका पृष्ठ-26
3. उपरोक्त

नियमों ने उनको किसी भी कठिन एव साहसपूर्ण कार्य करने के लिए अयोग्य बना दिया है। अत यह आवश्यक है कि कम से कम उनके राजनैत्तिक तथा सामाजिक कल्याण के लिए उनके धर्म म कुछ परिवर्तन होने चाहिए ।[1]

धर्म के सबध मे राजा राममोहन राय ने तार्किक दृष्टिकोण अपनाने पर बल दिया । राजा राममोहन राय ने फारसी भाषा में रचित पुस्तक 'तुहफ़तउल मुवाहिर्दीन में इस संबध मे स्पष्ट करते हुए कहा है कि प्रत्येक मामले मे यह आवश्यक है कि भलाई और बुराई मे अतर करते समय ज्ञान के सिद्धान्तों की सहायता से युक्ति या बुद्धि का आश्रय लिया जाए, क्योकि परम दयालु परमेश्वर ने ज्ञान का जो वरदान दिया हे उसे व्यर्थ नहीं माना जा सकता ।[2] 'केन उपनिषद अनुवाद' की भूमिका में भी राजा राममोहन राय ने परम्परा और युक्ति के द्वन्द्व का उल्लेख करते हुए सर्वोत्तम उपाय बताते हुए लिखा है कि हमे पूर्ण रूप से एक ही का आश्रय नही लेना चाहिए अपितु दोनों ओर से जो प्रकाश प्राप्त हो उसका उचित प्रयोग करके अपनी बौद्धिक तथा नैतिक शक्तियों को उन्नत करने का प्रयास करना चाहिए ।[3]

राजा राममोहन राय के समय मे भारत में अनेकों ऐसी प्रथाओ का प्रचलन था जो धर्म से जुड़ी हुयी मानी जाती थी । इसके लिए राजा राममोहन राय ने युक्ति के उचित और संयत उपयोग की अवहेलना न करते हुए शास्त्रों की परीक्षा की और कठोरता के साथ उन पर अमल करके शास्त्रों के वास्तविक रूप को जनता के समक्ष रखा । 1815 में राजा राममोहन राय ने वेदान्त सूत्र का बंगला में अनुवाद किया । 1816 में 'वेदान्त सार' का बंगला में तथा वेदान्त का अंग्रेजी में अनुवाद किया और 'केनोपनिषद' का बंगला व अंग्रेजी में अनुवाद किया और 1817 में कठ व मंडूक उपनिषद का बंगला मे अनुवाद किया । इन सभी का अनुवाद करते हुए राजा राममोहन राय ने

---

1. ब्रह्मीनकल मैगजीन, प्रस्तावना कलकत्ता 1821, कालीदास नाग एंड बर्मन . द इंगलिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय भाग द्वितीय, पृष्ठ–138
2. राजा राममोहन राय, 'तुहफउल मुवाहिद्दीन फारसी भाषा का मौलवी अब्दुला द्वारा अंग्रेजी अनुवाद पृष्ठ–19
3. जे0सी0 घोष , इंग्लिश वक्स आफ राजा राममोहन राय, प्रथम भाग, पृष्ठ–37

इसकी भूमिका मे अपने विचार भी प्रकाशित किए और देशवासियो के मध्य मुफ्त बाँटकर इसका प्रचार किया ताकि जनता,धर्म की वास्तविकता को ग्रहण कर सके ।[1] राजा राममोहन राय ने यह भी विचार प्रकट किया कि मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है,। अतः स्वभाव से ही उसमे तर्क करने की क्षमता है और तर्क के मार्ग पर चलने से ही उसकी मुक्ति हो सकती है । मनुष्य जाति के स्वभाव में सदा एक ऐसी सहज शक्ति विद्यमान रहती है जिसके कारण यदि स्वस्थ मस्तिष्क का कोई व्यक्ति किसी धर्म के सिद्धान्तो को स्वीकार करने से पहले या बाद मे विभिन्न राष्ट्रो द्वारा निर्धारित किए गए मुख्य या गौण धार्मिक सिद्धान्तों की परीक्षा निष्पक्ष होकर न्याय बुद्धि से करें, तो यह दृढ़ आशा की जा सकती है कि वह सत्य और असत्य का भेद जान लेगा और धर्म के उन निरर्थक प्रतिबंधों से मुक्त होकर समाज के कल्याण मे ध्यान लगाएगा ।[2]

हिन्दू, ईसाई और इस्लाम धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन के फलस्वरूप राजा राममोहन राय ने एकेश्वरवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया । उनकी यह मान्यता थी कि ईश्वर शाश्वत् तथा जगत के अस्तित्व का एकमात्र कारण है। सब वस्तुओं के उद्देश्य का निर्धारण उसी ने किया है । सार्वभौम चेतना एक भावना है जिसका कोई रूप व संगठन नहीं है । वह विशुद्ध पूर्ण सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी तथा स्वयं अस्तित्व मान है ।[3] कुरान के तौहीद (ईश्वर की एकता) की धारणा के प्रभाव के फलस्वरूप राजा राममोहन राय ने हिन्दुओ के बहुदेववादी विचारों का खण्डन किया ।[4]

राजा राममोहन राय ने विश्वास व्यक्त करते हुए कहा कि साधारण जनता भी एक ईश्वर की सत्ता में विश्वास के प्रति एकमत है परन्तु उस ब्रह्म को गुण विशिष्ट बनाने तथा धर्म के सिद्धान्तों और विधि एवं निषेध के उपदेशों वाले विविध मतों को मानने मे एक मत नहीं है इससे यह निष्कर्ष निकलता है एक अनादि और अनंत सत्ता की ओर झुकना मनुष्य की स्वभाविक प्रवृत्ति रही है और यह प्रवृत्ति मनुष्य जाति के प्रत्येक व्यक्ति मे समान रूप से पायी जाती है, परन्तु मनुष्य

---

1. सोफिया डाब्सन कोलेट, लाइफ एंड लेटर्स आफ, राजा राममोहन राय, पृष्ठ–63
2. मौलेवी अब्दुल्ला, तुहफत उल मुवाहीद्दीन का अंग्रेजी अनुवाद पृष्ठ–6
3. एब्रिजमेन्ट आफ वेदान्त, कलकत्ता 1816 प्रकाशित जे0सी0 घोष द इंग्लिस वर्क्स आफ राजा राममोहन राय, प्रथम भाग कास्मो पब्लिकेशन दिल्ली
4. बृजेन्द्र नाथ सील, राम मोहन राय (द युनिवर्सल मैन) द्वितीय भाग पृष्ठ–99

जाति के प्रत्येक सम्प्रदाय का कुछ विशेष गुण से युक्त किसी विशेष ईश्वर या दवता तथा किसी विशेष प्रकार की पूजाविधि या शक्ति की ओर झुकाव एक अस्वाभाविक गुण हैं जो मनुष्य में आदत और प्रशिक्षण से आ जाता है ।[1] मनुष्य अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए परम्परा और देवी शक्ति मे विश्वास का सहारा लेकर एतिहासिक धर्मो की सर्वव्यापकता को ही नष्ट नही करता अपितु वह धर्मान्ध होकर अन्य मतावलम्बियोंपर तरह-तरह के अत्याचार करने पर उतारू हो जाता है, जिसके फलस्वरूप समाज में अपराध बढ़ते है, आत्महत्याएं बलि प्रथा जैसे अपराधों को बढ़ावा मिलता है । नैतिकता का खुला उल्लंघन होता है ।[2]

राजा राममोहन राय धार्मिक सुधारो के माध्यम से मानव कल्याण जैसे लक्ष्य की सिद्धि करना चाहते थे । उन्होंने अपनी रचना "द प्रिसेप्ट्स आफ जीसेस द गाइड टू पीस एंड हैपीनेस" की भूमिका में लिखा है कि धर्म और आचार की यह सरल संहिता परमात्मा जो एक है, इसकी उच्च और मुक्त कल्पना के प्रति मनुष्यों के विचारो को उठाने के लिए जिसने सभी प्राणियों को जाति, पद या सम्पत्ति के भेदभाव के बिना समान रूप से परिवर्तन, निराशा दुख और मृत्यु का भागी बनाया है जो उसने प्रकृति में भर दी है इतने प्रशंसनीय ढंग से और सोच समझकर बनायी गयी है तथा मनुष्य जाति के व्यवहार को परमात्मा के प्रति, अपने प्रति एवं समाज के प्रति अपने विभिन्न कर्तव्यों के निर्वाह के निमित करने के लिए इतनी अधिक उपयुक्त है कि वर्तमान रूप मे इसके प्रचार से उत्तम लाभ की आशा की जा सकती है ।[3]

अठाहरवीं शताब्दी में मनुष्य के जीवन से धार्मिक ग्रन्थ विस्मृत होते जा रहे थे और बहुत सी मिथ्या प्रथाओ का प्रचलन हो रहा था, जो लोगो को गुमराह कर रही थी । राजा राममोहन राय

---

1. मौलवी अब्दुल्ला, तुहफतउल मुवाहिद्दीन का अंग्रेजी अनुवाद पृष्ठ 7
2. ट्रान्सलेशन आफ द मूंडोकपनिषद, भूमिका कलकत्ता 1819
   जे0सी0घोष, द इंग्लिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय, प्रथम भाग
3. प्रिसेप्ट्स आफ जीसेस द गाइड टू पीस एंड हैपीनैस, पृष्ठ 3-4
   "साधारण ब्रह्म समाज"कलकत्ता

ने ही अनेक ग्रंथों का अनुवाद करके जनता के समक्ष रखा। पाश्चात्य विचारो के प्रभाव के फलस्वरूप राजा राममोहन राय ने यह अनुभव किया कि भारत में सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक उन्नति के लिए धार्मिक सुधार अत्यन्त आवश्यक है। मानव जीवन के सभी विभिन्न क्षेत्रो मे सामाजिक राजनैतिक, आर्थिक एवं धार्मिक सुधार आवश्यक है। सर्वप्रथम उन्होने धार्मिक सुधार का बीड़ा उठाया। उनका विचार था कि राजनैतिक क्षेत्र मे किसी भी प्रकार का सुधार करने से पूर्व धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्र में सुधार करना आवश्यक है। हिन्दुओ की धर्म प्रणाली ऐसी है, कि उसमे परिवर्तन किए बिना राज तिक विकास शून्य रहेगा। अतः राजनैतिक लाभ और सामाजिक सुधार के लिए हिन्दू धर्म में कुछ परिवर्तन करना आवश्यक है।[1]

राजा राममोहन राय ने सर्वप्रथम हिन्दुओं की ऐसी धर्म प्रणाली पर कुठाराघात किया, जिनका कोई युक्तिसंगत आधार नहीं था। सर्वप्रथम उन्होंने हिन्दू धर्म में व्याप्त मूर्तिपूजा पर कुठार, किया। ईश्वर की एकता के बद्धिवादी सिद्धान्त के विरोध में होने के कारण बहुदेववाद उनके दृष्टिकोण में अपमान व तिरस्कार योग्य था। उनका विचार था कि अधिकांश भारतीय बहुदेव से उत्पन्न मूर्तिपूजा से स्वतन्त्र मस्तिष्क से निर्णय लेने की क्षमता खो बैठे हैं। धार्मिक उपासना की पद्धतियों व पूर्वाग्रहों से समाज की प्राकृतिक गति का ताना–बाना विनष्ट हो गया है तथा धर्म को लेकर समाज में घृणित अपराध होते हैं जो कि बर्बरता की सीमा से भी परे हैं। इससे उत्पन्न अनेक कष्टसाध्य तथा हानिकारक कुरीतियों पर निरन्तर विचार करने के बाद राजा राममोहन राय ने विवशतः हिन्दुओं को भ्रामक स्वप्नावस्था से जगाने का हर संभव प्रयास किया।[2] हिन्दू समाज को इस लोक तथा परलोक बनाने की दृष्टि से राजा राममोहन राय ने मूर्तिपूजा का खंडन किया। केवल वाद – विवाद व बहस के द्वारा ही इस कुरीति की निन्दा नहीं की वरन् उन्होंने धार्मिक ग्रन्थों का हिन्दी व बंगला में अनुवाद भी किया। उन्होने समाज के समक्ष इस तथ्य को रखा कि वेद एक ही ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करते है, वेदों में मूर्तिपूजा के सदृश किसी

---

1. ब्रह्मनीकल मैगजीन और द मिशनरी एंड द ब्राह्मण, कलकत्ता, 1829, पृष्ठ–646
2. ट्रांस्लेशन आफ एन एब्रिजमेन्ट आफ द वेदान्त, कलकत्ता 1816 पृष्ठ–5

कुरीति की व्यवस्था नही की गयी है । राजा राममोहन राय ने स्वीकार किया कि यद्यपि पुराणों व तंत्रों में अनेको देवी देवताओ का उल्लेख हे, उनकी अर्चना पद्धतियाँ भी भिन्न–भिन्न हैं तथापि किसी अभीष्ट से साक्षात्कार का अर्थ है क्रमश. अदृश्य सर्वभौम सत्ता की ओर मस्तिष्क को केन्द्रित करते जाना व मूर्तिपूजा से परे उठ जाना । मूर्तियां स्वयं पूजा की पात्र नहीं है, इन अविष्कृत प्रतिमाओ की सहायता से गोपन–परमसत्ता का ज्ञान प्राप्त करना है । जो व्यक्ति चिन्तन व मनन के द्वारा परमसत्ता की अनुभूति कर सकते हैं उन्हे मूर्तिपूजा को प्रतिष्ठा की दृष्टि से नही देखना चाहिए । राजा राममोहन राय ने भागवद्पुराण, विष्णु पुराण, महानिर्वाणतंत्र मनु आदि को उद्धृत करते हुए मूर्तिपूजा के पीछे धार्मिक संस्तुति को वास्तविक नहीं बताया । इनके विचार में जो लोग मूर्ति के माध्यम से ईश्वर की पूजा करते है, भजन करते हैं, मंत्रो का उच्चारण करते हैं, वह मात्र अज्ञानता के वशीभूत होकर करते है । स्वार्थसिद्धि हेतु करते हैं और ऐसा करना समाज के प्रति धोखा हे । वास्तव में ऐसा करने से वह सच्चे देवता सेदूर हट जाता है । विष्णु पुराण मे ईश्वर को बिना चित्र वाला दर्शाया है, जिसकी कोई विशेषता नहीं, कोई भाषा नहीं है, वह विशुद्ध अविनाशी और अपरिवर्तनशील है अर्थात् वह परमसत्ता अनादि अनंत और शाश्वत् है । अज्ञानी व्यक्ति ईंट, पत्थर व लकड़ी में ईश्वर की खोज करते हैं लेकिन, ज्ञानी व्यक्ति सर्वव्यापक आत्मा में विश्वास करते हैं । परमसत्ता का ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद शास्त्रों द्वारा जो धर्म की विधियाँ बतायी गयी हैं उनका अनुसरण करने की आवश्यकता नहीं रह जाती है । राजा राममोहन राय ने पुनः कहा कि वेद पुराण और तन्त्रों ने रूपक के तौर पर पूजा पाठ का विस्तार से वर्णन किया है उसे यथार्थ नहीं समझना चाहिए ।[2]

मनु, जो हिन्दू कानून का निर्माता है, इसके अनुसार भी जो विधियाँ बतायी गई है, उन्हें छोड़ देना चाहिए, इन्द्रियों को वश में करके, परिश्रम करके ईश्वरीय ज्ञान को प्राप्त करना चाहिए। । इस प्रकार मत व्यक्त करते हुए बारम्बार वेद को दुहराया है । अतः वेद ही हिन्दू धर्म की सच्ची

---

1. जे0सी0 घोघ, द इंग्लिश वर्क्स राजा राममोहन राय प्रथम भाग, पृष्ठ–64
2. "ट्रान्सलेशन आफ द इशोपनिषद" भूमिका– इ0 वकस आफ राजा राममोहन राय प्रथम भाग पृष्ठ–64

भावना को प्रकट करते है। मूर्तिपूजा की प्रचलित विधियाँ या रीति रिवाज नही। उपनिषद अद्वैतवाद की शिक्षा देते हैं जिसमें मूर्तिपूजा का कोई स्थान नहीं है। उन्होने यह भी कहा कि अद्वैतवादी ईश्वर के एकत्व के सिद्धान्त मे विश्वास करते हैं और उनके अनुसार चलते है और उसका समर्थन करते हैं और यह ऐसा सिद्धान्त है जिसका ईसाई धर्मग्रन्थों तथा हमारे अति प्राचीन ग्रन्थों द्वारा जिन्हें सामान्य रूप से वेद कहा जाता है दृढ़ता से समर्थन किया गया है। केवल अद्वैतवाद के आधार पर ही सभी बड़े धर्मो का एकीकरण हो सकता है और उनके भेद समाप्त किए जा सकत हैं।[1]

मूर्तिपूजा संबंधी विवादो की ओर संकेत करते हुए अपने विचारों को इस प्रकार स्पष्ट किया कि शिव के अनुयायी शैव, केलाशपति शिव तथा उनके परिवार को विष्णु के भक्त एक मात्र विष्णु को ही शाक्तिशाली तथा अन्य देवताओं से श्रेष्ठ समझते हैं तथा इनकी विभिन्न रूपो मे कल्पना करते हैं। देवी–काली अपने उपासकों की दृष्टि में अद्वितीय महाबली व सम्मान की अधिकारिणी हैं। ऐसी स्थिति प्रत्येक हिन्दू भक्तों की अपने देवी–देवताओ के सन्दर्भ में हैं। हरिद्वार प्रयाग तथा दक्षिण में शिव कांची या विष्णु कांची जैसे तीर्थ स्थानों में विभिन्न मतों के उपासक एकत्र होकर धार्मिक कोलाहल व हिंसक आचरण करते हैं। मूर्तिपूजा के सबंध में एक सूक्ष्म तर्क था असली चीज श्रद्धा है मूर्ति की श्रद्धापूर्वक पूजा करने से ईश्वर की प्राप्ति होगी। राजा राममोहन राय ने इसका खंडन करते हुए उत्तर दिया कि विष को श्रद्धा के साथ दूध मानकर पीने से भी वह घातक ही सिद्ध होगा। बाजार से सौदा खरीदने जैसी मामूली बातों तक में हम सोच समझकर नाप तौलन्चरभकरके काम करते हैं तो फिर क्या परम और चमरच महत्व की बातों मे ही हम सोचना समझना, नापना तोलना छोड़कर श्रद्धा के सहारे बैठे रहे। तर्को के आधार पर राजा मोहन राय ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि मूर्तिपूजा हिन्दू धर्म का कोई मौलिक अंग नहीं है वरन् इसका चलन कालान्तर में हुआ।[2]

---

1. ट्रान्सलेशन आफ द इशोपनिषद "भूमिका"
2. जे0सी0घोष, द इंग्लिश वर्क्स राजा राममोहन राय प्रथम भाग, पृष्ठ–67

राजा राममोहन राय ने मूर्तिपूजा से उत्पन्न अधविश्वास की ओर संकेत किया और उसे दूर करने का भी प्रयास किया है। उन्होंने कहा कि ब्राह्मण आजकल जिस मूर्ति की पूजा करते हैं वह उनके पूर्वजों की प्रथा के प्रतिकूल है तथा उन प्राचीन ग्रन्थों और शास्त्रों के भी जिनके आदर करने और मानने का वे दावा करते हैं। राजा राममोहन राय ने इस विचार की पुष्टि मौलिक संस्कृत ग्रन्थों के अध्ययन के आधार पर की थी।

ब्राह्मण लोग मूर्तियों के कामो और भाषणों तथा आकार और रंग बदलने का वर्णन बड़ी गम्भीरता से करते हैं और उनके अंधविश्वासी भक्त उन पर बड़ी श्रद्धा के साथ विश्वास कर लेते हैं। जब एक हिन्दू बाजार से मूर्ति मोल लेता है या अपने हाथो से बनाता है या किसी से अपने निरीक्षण में बनवाता है तो हमेशा वह प्राण प्रतिष्ठा किया करता है। इसका तात्पर्य यह है कि वह मानता है कि प्राण प्रतिष्ठा करने से मूर्ति की प्रकृति बदल जाती है और उसमे न केवल प्राण ही आ जाते हैं वरन उसमें देवत्व भी आ जाता है। यदि वह मूर्ति पुल्लिंग हुयी तो इसका स्त्रीलिंग मूर्ति से उसी धूमधाम के साथ विवाह किया जाता है जैसे अपने पुत्र पुत्रियों का किया जाता है। अब यह रहस्यपूर्ण क्रिया पूर्ण हो जाती है आज से वह उस मूर्ति को अपने भाग्य का विधाता समझता है और बड़ी भक्ति से पूजा करता है।[1]

मूर्तिपूजा के खंडन से संबंधित उपर्युक्त कथन या विचार राजा राममोहन राय ने हिन्दू धर्म का विरोध करने के लिए नहीं दिए वरन उन्होंने अपने कथनों से यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि मूर्तिपूजा के पोषक जो इसमें गूढ़ प्रयोजन बताते हैं वह मिथ्या है। मूर्तिपूजा के संबंध में जितनी भी बातें कहीं जाती थीं यथा मन को एकाग्र करने के लिए मूर्तिपजा है साकार में निराकार का ध्यान करने के लिए, ईश्वर सर्वव्यापक है, इसलिए मूर्ति मे ईश्वर को देखते हैं। यह सब बातें असत्य है। दूसरों को धोखा देने के लिए हैं। मूर्तिपूजा का वास्तविक रूप वही है जो मूर्तिपूजकों की चेष्टाओं से विदित होता है। मूर्तिपूजा का वैज्ञानिक या दार्शनिक स्वरूप जो प्रायः

---

1. जे0सी0घोष इंग्लिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय पृष्ठ–68

व्याख्यानो या शास्त्रार्थ में निरूपित होता है मूर्तिपूजको की चेष्टाओ से सर्वथा खण्डित हो जाता है ।

मूर्तिपूजा का खंडन करने के सबंध मे राजा राममोहन राय ने स्वयं लिखा है कि उन्होंने मूर्तिपूजा का खडन करके हिन्दू धर्म का विरोध नहीं बल्कि हिन्दू धर्म के बिगड़े हुए रूप का विरोध किया है ।[1]

राजा राममोहन राय ने परम्परावादिता का भी विरोध किया । किसी भी वस्तु को इस आधार पर नहीं स्वीकारा जा सकता है, कि पिछली पीढ़ियां इसे अपनाती आई हैं । इस परम्परावादिता के कारण ही समाज में व्यापकरूप से अंधविश्वास व्याप्त हो गया है । उनका कथन था कि यदि आप परम्परा को सर्वोपरि मानते हैं, तो कर्मकाण्ड और मूर्तिपूजा को छोड़कर शुद्ध ब्रह्म की पूजा करना सर्वथा आवश्यक है, क्योंकि शुद्ध ब्रह्म पूजा अपने ही धर्मकी सबसे प्राचीन परम्परा है ।[2]

राजा राममोहन राय ने दैवी शक्तिवाद से लेकर अवतारवाद तक समस्त अंधविश्वासों की ओर संकेत किया और उसका विरोध व खंडन करते हुए यह विचार प्रतिपादित किए कि "मन की तरंग" के साथ – साथ बहने वाले सामान्य जनों मे साधारणतया यहप्रवृत्ति पायी जाती है कि जब वह किसी वस्तु को समझने में असमर्थ रहते है अथवा उसके कारण को स्पष्टतया समझनहीं पाते तो उसमें दैवी शक्ति या चमत्कार को आरोपित कर लेते हैं । वह सरलता से विश्वास करने लगते हैं कि नदी में नहाने और वृक्ष की पूजा करने से, भिक्षु बन जाने और पुरोहितो से क्षमादान लेने आदि से ही जीवन भर के पाप धुल जाते हैं और मुक्ति मिल जाती है । इस शुद्धिकरण का कारण

---

1. राजा राममोहन राय, ट्रान्सलेशन आफ इशोपनिषद, भूमिका
2. वी0एन0 नरवणे, आधुनिक भारतीय चिन्तन पृष्ठ–32

उन वस्तुओं की शक्ति है जिनमे वह विश्वास करते है। यह उनकी आस्था एव सनक का परिणाम नहीं है।[1] इसका रहस्य यह है कि इस ससार मे सभी पदार्थ कार्य-कारण भाव सबंध से एक दूसरे से जुड़े हुए हैं और प्रत्येक पदार्थ का अस्तित्व किसी न किसी कारण या स्थिति पर निर्भर है। प्रकृति के प्रत्येक का अस्तित्व सम्पूर्ण विश्व से जुड़ा हुआ है। परन्तु जब अनुभव के अभाव और भ्रांति के प्रभाव से किसी वस्तु का कारण किसी व्यक्ति की समझ मे नहीं आता, दूसरा व्यक्ति अपने उद्देश्य सिद्धि के लिए अच्छा अवसर समझकर इसे अपनी अलौकिक शक्ति का परिणाम बताने लगता है। इस प्रकार लोगों को अपनी ओर आकर्षित करता है। ऐसे अलौकिक चमत्कारों के धोखे से केवल अनुमान प्रमाण ही सुबुद्ध लोगों को बचा सकता है। ऐसी अवस्था में सहज बुद्धि से काम लेना चाहिए, और यह प्रश्न करना चाहिए कि किसी कार्य का कारण न समझने की अपनी असमर्थता के प्रति आश्वस्त हो जाना अथवा प्रकृति के नियम के विरूद्ध किसी असंभव अभिकरण से उसका संबंध जोड़ना क्या तर्क संगत है ?

राजा राममोहन राय ने यह भी कहा है कि उनके ऊपर इन बातों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता जो इनकी शक्ति में विश्वास नहीं करते। यदि इन काल्पनिक बातों में वस्तुतः कोई शक्ति होती तो उसका प्रभाव किसी राष्ट्र विशेष के विश्वास और आदतों तक ही सीमित न रहकर विभिन्न विश्वासों वाले समस्त राष्ट्रों पर समान रूप से पड़ता। क्यों कि यद्यपि प्रभावित होने वाले व्यकितयों की क्षमताओं के अनुसार प्रभाव शक्ति की मात्रा न्यूनाधिक हो सकती है, परन्तु वह किसी विशेष विश्वासी व्यक्ति के विश्वास पर निर्भर नहीं है[1]।

ए0आर0 देसाई के अनुसार, बहुदेववाद और मूर्तिपूजा के विरूद्ध राजा राममोहन राय के संघर्ष की अनुप्रेरणा दार्शनिक आस्था के अतिरिक्त राष्ट्रीय और सामाजिक आचार शास्त्रीय विचारों में भी निहित थी।[2] हिन्दू मूर्तिपूजा की प्रथा किसी की अन्य गैर ईसाई उपासना पद्धति की अपेक्षा

---

1. मौलवी अब्दुल्ला, तुहफत उल मुवाहिद्दीन का अंग्रजी अनुवाद पृष्ठ– 8–10
2. ए0आर0देसाई, भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, पृष्ठ– 230

समाज की संरचना के लिए हानिकारक है । तज्जन्य कर्मकाण्ड पर लगातार सोचते रहने से और अपने देशवासियों के प्रति करूणा की भावना के कारण में उन सबतरीको का उपयोग करने के लिए बाध्य हूँ, जिनसे वे प्रकृति के ईश्वर की एकता और सर्वव्यापिकताका मनन कर सके ।[1]

राजा राममोहन राय की स्वतन्त्रता की भावना सामाजिक क्षेत्र में हिन्दुओं को मूढ़ता एवं कुरीतियों से मुक्त करना चाहती थी । तत्कालीन समाज में अधिकांश कुप्रथाएं धार्मिक परम्पराओं से जुड़ी हुयी मानी जाती थीं । सती प्रथा बाल–विवाह, जाति–पाँति के भेदभाव, विधवाओं की समस्या आदि अनेक कुप्रथाओ के प्रचलन के कारण समाज की अधोगति हो रही थी । राजा राममोहन राय तथा उनकी संस्था ब्रह्म समाज ने भारतीय समाज में व्याप्त कुरीतियों तथा आडम्बरों को समाप्त करने का बीड़ा एक ऐसे समय मे उठाया जब कि ऐसा करना समाज के तमाम लोगो को अपने प्रति विद्रोही बनाना था, किन्तु राजा राममोहन राय ने इन सब की कतई चिन्ता नहीं की । उन्होंने धार्मिक तथा सामाजिक सुधारों मे सक्रियता से भाग लिया इसलिए लिया क्योंकि, . उनकी यह मान्यता थी, कि हिन्दुओं के राजनीतिक पतन का प्रमुख कारण उनका सामाजिक एवं धार्मिक पतन है । अत उन्होंने यह अनुभव किया कि राजनीतिक क्षेत्र मे किसी भी प्रकार का सुधार करने से पूर्व धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्र मे सुधार अत्यन्त आवश्यक है । [2] सन् 1828 मे राजा राममोहन राय ने अपने मित्र की पत्र में लिखा कि मुझे यह बात कहने में दुख होता है कि हिन्दुओं की वर्तमान धर्म प्रणाली ऐसी है कि जिससे उनके राजनीतिक हितो की पूर्ति मे सहायता नहीं मिल सकती हैं । उनके बीच अगणित विभाजनों तथा उप विभाजनों को जन्म देने वाली जाति प्रथा ने उनको राजनीतिक भावना से पूर्णतया वंचित कर दिया है तथा असंख्य धार्मिक संस्कारों तथा शुद्धीकरण के नियमों ने उनको किसी भी कठिन एवं साहसपूर्ण कार्य करने के लिए अयोग्य बना दिया है । मेरे विचार से यह आवश्यक

---

1. जे0सी0 घोष , इंग्लिश वक्र्स आफ राजा राममोहन राय पृष्ठ–74
2. सोफिया डी कोलेट, दि लाइफ एंड लेटर्स आफ राजा राममोहन राय पृष्ठ–213
3. अजीत कुमार रे, द रिलीजियस आइडीयाज आफ राममोहन राय पृष्ठ–17

है कि कम से कम अनेक राजनीतिक तथा सामाजिक कल्याण के लिए उनके धर्म में कुछ परिवर्तन होने चाहिए ।[1]

राजा राममोहन राय इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि जात–पात की तत्कालीन पद्धति ने हिन्दू समाज को पूर्ण तथा पतन के गर्त में पहुँचा दिया था । राजा राममोहन राय ने यह समझ लिया था कि स्वतन्त्रता, समानता एव भ्रातृत्व के सिद्धान्त पर आधारित लोकतांत्रिक समाज तभी बन सकता है जब कि जात–पात का अंत कर दिया जाए ।[2] राजा राममोहन राय के शब्दों में "हम लोग भगभग नौ शताब्दियों से पराधीनता के शिकार रहे हैं इसका कारण यही है कि हम सैकडों जातियो में बँटे हुए हैं, जो हममें आपसी एकता के अभाव का कारण रहा है ।[3] जाति–प्रथा ने हिन्दू समाज के प्राथमिक स्वरूप को अवरूद्ध कर दिया है इस जाति–पाति और नस्ल के सारे भेद–भाव को दूर करने के लिए राजा राममोहन राय ने महानिर्वाणतंत्र का उद्धरण दिया, उसमें बताई गई शैव विवाह पद्धति को ग्रहण करने के लिए कहा ।[4] महानिर्वाणतंत्र मे शैव विवाह पद्धति में अवस्था तथा जाति या नस्ल का कोई भेद–भाव नहीं है । एक व्यक्ति उस औरत से विवाह कर सकता है जो कि पाप रहित है "सपिण्ड" नहीं है तथा जो विवाह के लिए वर्जित क्षेत्र में नहीं आती ।[5] राजा राममोहन राय ने इस संबंध में अपने प्रयासों को जारी रखा और स्वय समुद्र पार जाकर यूरोपीयों के साथ जाति–प्रतिबन्ध के होते हुए भी भोजन किया । उन्होंने यह विचार भी प्रतिपादित किया कि यद्यपि भारतीय जाति व्यवस्था में ब्राह्मणों को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है, तथापि कबीर एवं दक्षिण भारतीय जैसे धर्म के प्रचारक निम्न जातियों से थे । उपनिषदो मे प्राप्त कुछ उच्च शिक्षाएं क्षत्रिय शिक्षकों द्वारा प्रदत्त है । महात्मा बुद्ध तथा जैन धर्म के संस्थापक, नानक एवं अन्य सिक्ख गुरू ब्राह्मण जाति से नहीं थे। अत यह कहना उचित नहीं है कि किसी जाति विशेष को किसी विशेष क्षेत्र में कार्य

---

1. राममोहनस् लेटर टू जान डिग्बी 18 जनवरी 1828, द इंग्लिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय चतुर्थ भाग पृष्ठ–95–96
2. ताराचन्द भारतीय स्वतन्त्रता आंदोलन का इतिहास, भाग–2, पृष्ठ–244
3. स्मारक ग्रन्थ, दि फादर आफ मार्डन इन्डिया, भाग–2, पृष्ठ–75
4. एम0ए0 बुश, राजा राममोहन राय, दि मैन एण्ड हिज वर्क्स पृष्ठ–72
5. महानिर्वाणतन्त्रम, नवमोल्लास, श्लोक संख्या 279
   "वयोवर्ण विचारोऽत शैवोद्वाहेन विद्यते,
   असपिण्डा भर्तहीनामुद्वहच्छम्भुशासनात्"

करने की ईश्वरीय प्रतिभा प्राप्त है। यह कहना भी सत्य नहीं है कि वर्गों का जो चार विभाजन है, उसके पीछे भी ईश्वरीय सहमति है।[1]

राजा राममोहरन राय के नेतृत्व में ब्रह्म समाज ने भारतीय समाज की इस महान बुराई के जड़ पर प्रहार किया और इसे समाप्त करने के लिए जेहाद छेड़ दिया। राजा राममोहन राय के जाति प्रथा के विषय मे विचारो का उल्लेख उनके किसी पृथक ग्रन्थ से नही प्राप्त होते है अर्थात जाति प्रथा के विषय मे राजा रामामोहन राय के विचार बिखरे हुए प्राप्त होते है। देश की अन्य राजनीतिक समस्याओं मे उलझे रहने के कारण राजा राममोहन राय इस सामाजिक समस्या को अपने हाथ में नहीं ले सके। लेकिन कुछ सन्दर्भो में राजा रामामोहन राय ने जाति प्रथा का खंडन किया है।

उन्नीसवीं शताब्दी मे धर्म के नाम पर अनेक कुप्रथाओं का प्रचलन था जिसके फलस्वरूप स्त्रियों को नारकीय जीवन बिताने के लिए विवश किया जाता था। उन सबका आधार यह मान्यता थी कि स्त्रियां पुरूष से निम्न कोटि की होती है।[2] राजा राममोहन राय ने इस मान्यता का खडन करते हुए कहा कि हमारे हिन्दू समाज में नारी जाति को बड़ी ही उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता है जिसके फलस्वरूप वह यातनाओ का शिकार बन रही हैं। जो लोग नारी जाति पर दोषारोपण लगाते हैं, वह तो मनुष्यों द्वारा स्वत. उत्पन्न की गई है इसलिए लिंग के आधार पर ऐसे अत्याचार करना जो उनकी मौत का कारण बन जाए, वह घोर अपराध है। जहाँ तक उनकी मानसिक शक्ति कमजोर होने का प्रश्न है, यह भी निराधार है, न्याय संगत नहीं है, क्यों कि उन्हें अपनी योग्यता को प्रदर्शित करने का अवसर ही प्राप्त नहीं हो पाता है। इसलिए इस दृष्टि से उन्हें हीन कहना उचित नहीं है। शास्त्रों की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए नारी को सम्मानीय व उच्च कोटि को दर्शाने का प्रयत्न किया है। उन्होंने कहा कि लीलावती, भानुवती, मैत्रयी जैसी महिलाओं ने गूढ़ आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त किया था।[3] यजुर्वेद के

---

1. एम0ए0बुश राइज एंड ग्रोथ आफ इंण्डिया लिबरलिज्म, पृष्ठ–75
2. एम0ए0बुश. राइज एंड ग्रोथ आफ इंडियन लिबरलिज्म. पृष्ठ–75
3. राजा राममोहन राय, हिज लाइफ, राइटिंग्स एंड स्पीचिस, पृष्ठ–65

बृहदारण्यकोपनिषद मे स्पष्ट रूप से लिखा है कि याज्ञवल्क्य न सबसे कठिक ज्ञान दैविक ज्ञान अपनी पत्नी मैत्रयी को दिया और यह ज्ञान केवल वही समझ सकी।[2]

स्त्रियो को मानसिक रूप से दृढ़ बताते हुए राजा राममोहन राय ने कहा कि जिस देश मे जहाँ पुरूष भी मृत्यु के नाम से भयभीत हो जाते है उसी देश की स्त्रिया मानसिक रूप से दृढ़ होकर पति की चिता के साथ अपनी आहूति देने के लिए तत्पर हो जाती है। अतः नारी के सबंध में यह कहना न्यायसगत नहीं है कि उनमें दृढ़ संकल्प की शक्ति नहीं है। यदि दोनो लिंगो का सूक्ष्म रूप से निरीक्षण किया जाए तो स्वत ही स्पष्ट हो जाता है कि पुरूष की अपेक्षा स्त्रियां अधिक विश्वास के योग्य होती हैं। पुरूष उच्च शिक्षा प्राप्त करते हैं और सार्वजनिक कार्यो का संचालन करते हैं वह अपने इन्हीं कार्यो व शिक्षा का लाभ उठाते हुए स्त्रियों पर तरह–तरह के दोषारोपण लगाते हैं और यह अनुभव नहीं करते हैं कि उनका स्त्रियों के प्रति आचरण कितना घृणित है। हमारे समाज में एक पुरूष कई पत्नियां रख सकता है जब कि एक स्त्री एक ही पति के लिए सारे सांसारिक सुख को त्यागने के लिए तत्पर हो जाती है , वह सती भी हो सकती है, या एक योगी की भाँति जीवन भी बिता सकती है। उसका यह गुण आत्मसंयम का प्रतीक है। हमारे समाज मे स्त्रियों को केवल एक ही विवाह करने की अनुमति दी जाती है। समाज यही चाहता है पति की मृत्यु के बाद वह सती हो जाए या योगी की भाँति जीवन व्यतीत करे। जो स्त्रियां दुख पीड़ाएं तिरस्कार और अन्य जघन्य यातनाएं सहन करती हैं, यह उनके गुणों का परिचायक है। उनमें अवश्य ही ऐसे गुण विद्यमान रहते हैं, जिनके सहारे वह बड़े–बड़े दुख को भी सहन कर लेने मे सक्षम होती हैं।[3] गृहस्थ दैनिक जीवन में नारी दुर्दशा का सजीव चित्रण प्रस्तुत करते हुए राजा राममोहन राय ने अपने एक ट्रैक्ट[4] में लिखा है कि स्त्रियों को दास की भाँति जीवन व्यतीत करना

---

1. उपनिषद संग्रह, द्वितीयाध्याये, पृष्ठ–98
2. साहोवाचमैत्रेय्यत्रैव मा भगवानमूमुहन्न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीति स
   होवाच याज्ञवल्क्यो न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यलंवा अर इंदविज्ञानाथ।
3. राजा राममोहन राय, हिज लाइफ राइटिंग्स एण्ड स्पीचिस पृष्ठ–66
4. ऐ सेकेण्ड कान्फ्रेंस बीटवीन एन एडवोकेट फार एन ओपनेन्ट आफ द प्रैक्टिस आफ बर्निंग वीडोस अलाइव पृष्ठ– 126–127
   साधारण ब्रह्म समाज, कलकत्ता, 1820

पड़ता है । प्रात. उठते ही काम मे व्यस्त हो जाती है, दैनिक कार्यों मे थोडी सी भी गलती हो जाने पर या भोजन परोसने में थोडी सी भी गलती होने पर उसे अपने देवरों व परिवार के अन्य सदस्यों द्वारा अपमान सहन करना पड़ता है । पुरूष जाति अपनी इच्छाओ को पूर्ण रूप से सतुष्ट कर लेते है, जब कि स्त्री जाति पर्याप्त मात्रा में नहीं होने पर भी मात्र उसी से संतुष्ट हो जाती है । पुरूष अपनी पत्नी के रहते भी गैर स्त्री से सबंध स्थापित करने में मात्र अंश का भी संकोच का अनुभव नहीं करता, लेकिन पत्नी ऐसी स्थिति में भी प्रत्येक दुख में अपने पति की भागीदार रहती है । ,- ये वही स्त्रियां होती है जिन्हे विवाह के समय अर्द्धागिनी कहा जाता है, किन्तु विवाह के पश्चात उनके साथ हीन जानवरों से भी अधिक दुर्व्यवहार किया जाता है ।[1]

उपर्युक्त सभी दृष्टांत ऐसे है जिन्हें अनदेखा या नकारा नहीं जा सकता । ये दृष्टांत हमे प्राय देखने को मिलते हैं, लेकिन यह बड़े ही दुख की बात है कि हमारे समाज में स्त्री को पुरूष पर निर्भर, पीडित देखते हुए भी पुरूषों मे संवेदना उत्पन्न नहीं होती, जिससे स्त्री को किसी प्रकार के बंधन से मुक्त किया जा सके । उपर्युक्त दृष्टांतों के आधार पर स्पष्ट होता है कि स्त्रियों के मनोविज्ञान आचरण व योग्यताओं के संबंध में राममोहन राय की धारणाएं प्रतिष्ठापूर्ण थी । यह कहना पूर्णतया सत्य है, कि पुरूषों ने अनुचित लाभ उठाकर उन्हें उनके अधिकारों की प्राप्ति से जिसके लिए प्रकृति ने उन्हें अधिकृत कर रखा है । उनकी मानसिक क्षमता पुरूषो के समान है तथा उन्हें अपने मानसिक विकास हेतु समान अवसर मिलने चाहिए । स्त्रियों को अयोग्य व मूर्ख कहने से पूर्व दीर्घकाल से अवरूद्ध अनेक शिक्षा संबधी उनके बन्धनों को मुक्त करना होगा। स्त्रियों में मन की दृढ़ता, स्वामीभक्ति, इन्द्रिसंयम, विश्वसनीयता, त्याग व सेवा की भावना पुरूषों से कहीं अधिक होती है । स्त्रियों के भी पुरूषों के समान ही अधिकार हैं । अर्द्धागिंनी होने के कारण उनके साथ पशुवत व्यवहार नहीं किया जाना चाहिए ।

राजा राममोहन राय को नारी उद्धारक कह सकते है, उन्होने स्त्रियों की अवदशा के लिए उत्तरदायी समस्त प्रथाओं, धार्मिक कुरीतियों के विरूद्ध संघर्ष किया ओर एक स्वतंत्र समाज एवं

---

1. कालिदास नाग एंड बर्मन द इंग्लिश वर्क्स आफ राजाराममोहन राय तृतीय भाग पृष्ठ-127

सम्मानप्रद स्त्री जाति का आवहान् किया ।[1]

उन्नीसवीं शताब्दी में भारत मे सती प्रथा जैसी अमानुषिक बुराई का प्रचलन था. इसे धार्मिक कृत्य के रूप में समझा जाता था । राजा राममोहन राय तुलनात्मक धर्म के प्रकाण्ड पंडित होने के कारण बलात विधवा दहन को स्त्री हत्या का कृत्य घोषित करते हुए सती प्रथा के समर्थको के सभी तर्कों को निर्मूल सिद्ध कर दिया ।[2] उन्होंने सरकार के समक्ष ऐसे प्रमाणों को प्रस्तुत करके यह स्पष्ट कर दिया कि सती प्रथा हिन्दू समाज के लिए एक कलंक है यह कोई धर्मसम्मत प्रथा नही है, सती प्रथा को समाप्त करना किसी भी प्रकार से धार्मिक क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं है ।[3] इतना ही नहीं उन्होने इस संबध में यह भी विचार व्यक्त किया कि स्वार्थी संबंधी जन किसी धार्मिक प्रेरणा से नहीं है वरन् विधवाओं के भरण–पोषण के खर्च से छुटकारा पाने के लिए इस प्रथा को जारी रखना चाहते हैं ।[4]

उन्होने कहा कि बांस व रस्सो की सहायता से विधवा दाह यदि कोई प्रथा है भी तो इसका पालन नहीं किया जाना चाहिए शास्त्रों में नियम व प्रथाएं दोनों पृथक हैं । शास्त्रों में यदि सती के नियम हैं भी तो उसा अंधानुकरण नहीं करना चाहिए । शास्त्रों मे नारी हत्या का कहीं उल्लेख नहीं आता तथा बुद्धि भी स्वर्ग प्राप्ति के उद्देश्य से नारी दहन को अत्यन्त पापपूर्ण कार्य कहती है । वेद एवं अन्य विधि सहिताओं में करूणा धर्म का मूल कहा गया है । विधवा दहन निर्दयता का अनुपम दृष्टांत है । इसलिए यह धार्मिक नहीं है ।[5] उनके अनुसार भैंस या बकरी की जिस प्रकार बलि दी जाती है वह निर्दयता विधवा दहन में दिखायी जाती है । स्त्रियों को बलातमृत पति के साथ जलाना शास्त्रों के संगत नहीं है तथा ऐसा कृत्य पाप है ।[6] हिन्दू नारी अपने मृत पति

---

1. एम0ए0 बुश, राइज एण्ड ग्रोथ आफ इंडियन लिबरलिज्म पृष्ठ–75
2. कालिदास नाग एंड बर्मन इंग्लिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय, तृतीय भाग, पृष्ठ–95
3. सोफिया डी कोलेट लाइफ एण्ड लेटर्स आफ राजा राममोहन राय पृष्ठ–260
4. जे0के0 मजूमदार, राजा राममोहन राय एंड प्रोग्रेसिव मूवमेण्ट इन इंडिया नं0 84 पृष्ठ 55–56
5. राजा राममोहन राय, 1920 इंगलिश वर्क्स तृतीय भाग पृष्ठ–96
6. उपरोक्त, पृष्ठ–118

की चिता पर केवल पूर्व धार्मिक पूर्वाग्रहो एवं संस्कारों के कारण नहीं जलती वरन् इसलिए जलती है कि वह समाज में विधवाओं की दुर्दशा को स्पष्ट रूप से देख रही होती है, वह यह अनुभव करती है कि उसे भी अन्य विधवाओ की तरह अपमानित और प्रताड़ना का जीवन व्यतीत करना पड़ेगा इसी भय के कारण वह अपने जीवन को निरर्थक मानने लगती है और इस प्रकार का जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा सती के मार्ग का अनुसरण करने पर विवश हो जाती है।[1] राजा राममोहन राय ने मनुस्मृति व याज्ञवल्क्य के सदर्भ देते हुए विधवा नारी की दशा को नहीं दर्शाया वरन् भारतीय विधवाओ को दहकती चिताओं से उठकर सादगी का जीवन व्यतीत करने के लिए भी प्रेरित किया। [2] जैसा कि प्रथम अध्याय में स्पष्ट किया जा चुका है समस्त प्रथाएं धर्म से जुड़ी हुयी मानी जाती थी। शास्त्रों में जिस भांति विधवा को जीवन यापन करने के लिए कहा गया है, वह एक विधवा के लिए कष्टकारी था। राजा राममोहन राय ने भी कहा कि इसी उपेक्षा एवं भावी जीवन का पुरस्कार पाने की अपेक्षा कुछ स्त्रियां आत्महत्या जैसा जघन्य अपराध करती थीं।[3] राजा राममोहन राय ने अपनी कृति में मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य के श्लोकों को संकलित किया है।

मनुस्मृति के अनुसार

"आसीता मरणात् क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी
यो धर्म एक पत्नीनां काड़क्षन्ती तमनुत्तमं।"[4]

अर्थात् एक विधवा का यह उत्तरदायित्व है कि उसे मरते दम तक अपने ऊपर हुए अघातों को विस्मृत करते हुए पवित्र कर्म करना चाहिए और अनुभवजनित सुख को बिना प्रदर्शित किए प्रसन्नता के साथ शालीनता के उन अतुलनीय नियमों का पालन करना चाहिए जो मात्र एक ही पति के स्वामिभक्त पत्नी द्वारा किया गया हो। याज्ञवल्क्य ने भी इसी तथ्य को चरितार्थ किया है।

---

1. राजा राममोहन राय 'ब्रीफ रीमार्कस रिगार्डिग एन्क्रोचमेन्ट्स आन द एन्सेन्ट राइट्स आफ फीमेल्स अकार्डिग टू द हिन्दू ला आफ इनहेरिटेन्स' (1822) इंगलिश वर्क्स प्रथम भाग, पृष्ठ–4
2. राजा राममोहन राय, इंगलिश वर्क्स 1822 प्रथम भाग पृष्ठ–4
3. राजा राममोहन राय, द एब्स्ट्रैक्ट आफ द आरगोमेन्ट्स रिगार्डिग द बर्निंग आफ वीडोस कन्साइडरेड एज ए रिलीजियस रीति, इंगलिश वर्क्स, तृतीय भाग, पृष्ठ–13
4. मनुस्मृति, श्लोक संख्या 158, अध्याय–5

"पितृमा तृसुतभ्रातश्वश्रू श्वशुर मातुलैः
हीना न स्यात् बिना भर्त्रा ग्रर्हणीयान्यया भवेत्"

अर्थात् एक विधवा को अपने माता–पिता, पुत्र भाई या चाचाओं के संरक्षण मे रहना चाहिए, अन्यथा उसे तिरस्कार का जीवन व्यतीत करने की संभावना रहती है ।[1]

राजा राममोहन राय ने उपर्युक्त प्राचीन धर्मग्रन्थों मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति के संदर्भ देते हुए यह भी विचार प्रतिपादित किया कि यदि सती प्रथा धर्म सम्मत प्रथा होती अर्थात् इसके पीछे धार्मिक आग्रह होता तो मनुस्मृति द्वारा ऐसे उद्धरण क्यों दिए जाते ? मनुस्मृति में व याज्ञवल्क्य स्मृति में स्पष्ट रूप से एक विधवा के जीवन को दर्शाया है अत. सती प्रथा के पीछे कोई धार्मिक आग्रह नहीं है, इसका विकास आर्थिक कारणों से हुआ है ।[2]

मार्शमैन के अनुसार लोग विधवा के खर्च से बचना चाहते थे । मध्यवर्ग के लोग वैभवपूर्ण जीवन व्यतीत करना चाहते थे उनके खर्च बढ़ गए थे अतः विधवा के ऊपर कोई कुछ भी खर्च नहीं करना चाहता था । यह रीति गाँवों में नहीं थी । धनी परिवार में अधिक थी ।[3] राजा राममोहन राय ने इस प्रथा के पीछे आर्थिक कारण माना क्योंकि उन्होंने सन् 1811 में अपने भाई की मृत्यु के पश्चात् भाभी को सती होते हुए देखा था, जब कि यह प्रथा उनके परिवार में प्रचलित नहीं थी । भारतीय समाज की तत्कालीन स्थिति पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट होता है कि बंगाल में आत्महत्या की संख्या अन्य प्रान्तों की तुलना में दस गुना अधिक थी । जैसा कि इन आंकड़ों से स्पष्ट किया जा सकता है ।[4]

---

1. याज्ञवल्क्य स्मृति, श्लोक संख्या 86 वेद मिताक्षरा
2. गर्वमेंटस गजट, भाग 16, नं0 858 जनवरी 18, 1830
3. वी0सी0 जोशी, राममोहन राय एंड द प्रोसेस आफ मार्डनाइजेशन इन इंडिया पृष्ठ–172
4. सोफिया डी0 कोलेट, द लाइफ एण्ड लेटर्स आफ राजा राममोहन राय पृष्ठ 83–84

वर्ष	कलकत्ता	ढाका	मुर्शिदाबाद	पटना	बनारस	बरेली	कुल योग
1815	253	31	11	29	48	15	387
1816	289	24	21	29	65	13	441
1817	442	52	42	49	103	19	70'7
1818	544	58	30	57	137	14	839
1819	421	55	25	40	92	17	650
1820	370	51	21	42	93	20	597
1821	391	52	12	69	104	15	654
1822	528	45	22	70	102	16	583
1823	340	40	13	49	121	12	575
1824	373	40	14	59	76	10	572
1825	398	101	21	47	55	17	639
1826	324	65	8	65	48	8	518
1827	337	49	9	55	49	18	517
1828	308	47	10	55	33	19	463

राजा राममोहन राय ने बंगाल में सर्वाधिक आत्महत्या के अनेक कारण बताए । सर्वप्रथम पति द्वारा पत्नियों कीओर नकारात्मक दृष्टिकोण और इसके पालन पोषण पर ध्यान नहीं देना बताया ।[1] उन्होंने विचार प्रकट करते हुए कहा कि उस समय विशेष रूप से बंगाल में कुलीन ब्राह्मण में बहु विवाह की प्रथा प्रचलित थी । ब्राह्मण लोग दो, तीन, चार या इससे भी अधिक पत्नियां रखते थे जो बहुत ही कम आयु की होती थीं ।[2] उच्च जाति के ब्राह्मणों द्वारा दस या बीस या तीस स्त्रियों से विवाह कर लिया जाता था चाहे वह किसी भी कारण से किया जाता रहा हो

---

1. राजा राममोहन राय, इंगलिश वर्क्स तृतीय भाग, पृष्ठ–65
2. वी0एन0 दास गुप्ता, राजा राममोहन राय द लास्ट फेज पृष्ठ–69

चाहे पाशिवक प्रवृत्तियों के तुष्टि के लिए ही किया गया हो, परन्तु इसके कई दुष्परिणाम होते थे ।[1]

राजा राममोहन राय ने इसके दुष्परिणामों की ओर संकेत करते हुए कहा कि एक अबला नारी अपने पति के जीवनकाल में भी तथा मृत्यु के उपरान्त भी पिता पक्ष के संबंधियों पर आश्रित होने पर विवश हो जाती है । कई पत्नियो के होने के कारण पति बहुधा उसे अपने मायके मे ही रखता है और इच्छित दहेज या धनराशि प्राप्त होने पर ही उनके पास मिलने के लिए जाता था । कई पुरुष तो इतने विवाह कर लेते थे वह अपनी सभी पत्नियों से मिल भी नहीं पाते थे । ऐसी स्त्रियों के लिए अपने पति की मृत्यु के उपरान्त जीवन यापन के लिए तीन विकल्प रह जाते हैं । प्रथम, दासता का जीवन । द्वितीय, जीवन यापन के लिए कुमार्ग का गमन । तृतीय, मृत पति के साथ प्रणत्याग जो समाज के लिए सम्मानप्रद बात समझी जाती थी ।[2]

राजा राममोहन राय ने बहु विवाह जैसी प्रथा जो सती की संख्या में वृद्धि करने वाली थी, खंडन करने के लिए वह आधार प्रस्तुत किए हैं, जिसके अनुसार व्यवहारिक रूप में इसे अनुचित माना जाए । राजा राममोहन राय ने धार्मिक आधार पर इसका खंडन करते हुए कहा कि यह प्रथा हमारे प्राचीन विधि वेताओं द्वारा लिखित नियमों के सर्वथा विपरीत है । हिन्दू धर्म ग्रन्थों का संदर्भ देते हुए कहा कि किसी व्यक्ति को एक पत्नी के जीवित रहते दूसरा विवाह करने की अनुमति विशेष तथा अत्यावश्यक परिस्थितियों में ही मिलनी चाहिए ।[3] राजा राममोहन राय ने कहा कि बहु विवाह प्रथा के परिणाम समाज व परिवार के लिए भयानक थे । इस प्रथा का अंत कानून बनाकर ही, कम से कम विवाह की आयु निर्धारित करके ही इस प्रथा को कुचला जा सकता है ।[4] राजा राममोहन राय स्वयं इस प्रथा के शिकार हुए नौ वर्ष की अवस्था मे उनके दो बाल विवाह हो चुके थे, उनका वैवाहिक जीवन सुखी नहीं था ।

---

1. राजा राममोहन राय, इंगलिश वर्क्स, भाग तृतीय पृष्ठ–132
2. मार्डन एनक्रोचमेंट्स आन द एनशेन्ट राइट्स आफ फीमेल, कलकत्ता 1822 पृष्ठ–5
3. " " " " पृष्ठ – 6
4. वी0एन0 दास गुप्ता, समइम्पौटेन्ड स्माल टैक्स आफ राममोहन पृष्ठ–69

याज्ञवल्क्य स्मृति में पुरुष को पहली पत्नी के जीवित रहते हुए दूसरा विवाह करने की अनुमति आठ परिस्थितियों में ही दी गई है । वह आठ परिस्थितियां निम्न हैं --

"सुरापी व्याधित धूर्ता वन्ध्यार्थध्न्याप्रियंवदा
सीप्रसूश्राधिवेत्तव्या पुरुषद्वेषिणी तथा ।"

अर्थात् पत्नी द्वारा मादक द्रव्यों का सेवन करने पर, पत्नी के असाध्य रोगी होने पर, पत्नी द्वारा विश्वासघात किए जाने पर, पत्नी का निःसंतान होना, पत्नी द्वारा पति की धन सम्पत्ति का दुरुपयोग किए जाने पर, पत्नी द्वारा पति के साथ भद्रभाषा का प्रयोग करना केवल कन्याओं को जनम देना, पत्नी के मन में पति के लिए घृणा की भावना का जन्म लेने पर ।[1]

मनुस्मृति में लिखा है --

"मद्यपाऽसाधुवृत्ता च प्रतिकूला च या भवेत्
व्याधिता वाधिवेत्तव्या हिंस्रार्थधी च सर्वदा ।"

अर्थात् एक पत्नी जो नशीले पदार्थ का सेवन करती है अनैतिक कार्य करती है अपने पति के प्रति घृणा करती है, असाध्य रोग से पीड़ित है, जो अपनी सम्पत्ति को नष्ट करती है, वह सदा के लिए दूसरी पत्नी द्वारा अनुक्रमित की जा सकती है । जो असाध्य रोग से पीडित हे, लेकिन प्रिय और सुशील है उसका तिरस्कार नहीं किया जाना चाहिए यद्यपि उसी की अनुमति से दूसरा विवाह किया जा सकता है ।

राजा राममोहन राय ने उपर्युक्त दृष्टांत देते हुए समाज का ध्यान शास्त्रों की ओर इंगित किया क्योकि अधिकांश परम्पराएं धर्म शास्त्रों से जुड़ी हुयी मानी जाती थी । उनके 1822 के ट्रैक्ट में लिखा है कि व्यवहारिक रूप में इसी नियम को निर्धारित किया जाना चाहिए । अर्थात् किसी व्यक्ति को

---

1. याज्ञवल्क्य स्मृति, श्लोक नं0 73
2. मनु स्मृति श्लोक, नं0 78

एक पत्नी के जीवित रहते हुए दूसरा विवाह करने की अनुमति विशेष या आवश्यक परिस्थितियों मे ही मिलनी चाहिए । सरकार को भी इस दृष्टिकोण पर बल देना चाहिए । किसी व्यक्ति को एक पतनी के जीवित रहते हुए, बिना मजिस्ट्रेट से अनुमति प्राप्त किए दूसरा विवाह करने की अनुमति नहीं देनी चाहिए और यह भी कहा कि मजिस्ट्रेट को भी ऐसी अनुमति देने से पूर्व ऐसे आवेदन के विभिन्न पहलुओं का पूर्ण ज्ञान करके प्राचीन लिखित नियमों के आधार पर ही दूसरा विवाह करने कीअनुमति प्रदान करनी चाहिए ।[1]

यहाँ यह कहना न्यायसंगत होगा कि यदि समाज में धर्म शास्त्र प्रभावशाली हो जाते अथात् यदि किसी मजिस्ट्रेट या दूसरे जन अधिकारी को साम्राज्य के शासकों ने यह अधिकार दे दिया होता कि यह प्रथम पत्नी के जीवित रहते हुए दूसरा विवाह करने की स्वीकृति उन्हीं दशाओं के आधार पर दी जाती, जिन दशाओं की पुष्टि हमारे प्राचीन विधि वेताओं द्वारा की गयी है, तो यह निश्चय था कि बंगाल जो नारी दुर्दशा का केन्द्र बिन्दु था अवश्य ही उसमें सुधार आ गया होता साथ ही आत्म हत्याओं की संख्या में भी कमी हो जाती ।

बंगाल में बहु विवाह तथा सती प्रथा की अधिकता निःसंतान विधवाओं को मृत पति की सम्पत्ति में से कुछ भी न प्राप्त होने के कारण थी । राजा राममोहन राय ने नारी दुर्दशा को मात्र धार्मिक या परम्परागत सामाजिक प्रचलन के रूप में ही नहीं देखा वरन् आर्थिक व कानूनी दृष्टि से भी समझा । इनके विचार में स्त्रियों की दुर्दशा का कारण उनका आर्थिक रूप से आत्म निर्भर नहीं होना है । यह उनकी सामाजिक समानता व स्वतन्त्रता के मार्ग मे प्रमुख बाधा है ।[2]

अक्टूबर 1818 के 'रायल एशियाटिक जर्नल' में राजा राममोहन राय ने एक निबन्ध [3] में

---

1. "ब्रीफ रिमार्कस रिगार्डिग मार्डन एनक्रोचमेंट आफ द एन्सेन्ट राइट्स आफ फीमेल आकार्डिग टू द हिन्दू ला आफ इन हेरिटेन्स" पृष्ठ–5 इंग्लिश वर्क्स प्रथम भाग, पृष्ठ–5
2. –कालिदास नाग एंड वर्मन इंण्डिया वर्क्स आफ, राजा राममोहन राय, तृतीय भाग पृष्ठ–127
3. ए कान्फ्रेंस बिटवीन एन एडवोकेट फार, एन ओपेनेन्ट आफ द प्रैक्टिस आफ बर्निंग वीडोस अलाइव

लिखा है कि धर्म केवल आवरण मात्र है। "मैंने खुद सतीदाह के प्रत्यक्षदर्शियों से सुना है कि किसी हिन्दू महिला के पति की मृत्यु के बाद उसके रिश्तेदार ही चेष्टा करते हैं कि वह महिला पति के शव के साथ जलकर सती हो जाए, ताकि मरने वाले की जायदार पर बेरोकटोक कब्जा जमाया जा सके। मेरे सामने कई मामले ऐसे भी आए, जब किसी स्त्री ने सती होने से भयवश इन्कार कर दिया और तब उसके सगे संबंधियों ने उसे जबरन चिता मे लिटाकर उसे रस्सियों से बाँधकर चिता में आग लगा दी। किसी रमणी विधवा ने यदि अधजली हालत में ही चिता से उठकर भागने की कोशिश की तो उसके रिश्तेदारों ने उसके रिरियाने व क्रन्दन करने के बावजूद उसे दुबारा चिता में झोंक दिया। सभी जातियों के सहज ज्ञान और शास्त्रों के अनुसार भी ऐसे कार्य को धर्म के नाम पर अमानुषिक हत्या ही तो कहा जाएगा।"[1] सम्पत्ति के उत्तराधिकार नियम अत्यन्त कठोर हैं, जिसके कारण सती की घटनाएं अधिक हो रही हैं। बंगाल में दयाभाग व्यवस्था हिन्दू कानून के अन्तर्गत प्रमाणित माना जाता है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत विधवाओं को सम्पत्ति के उत्तराधिकार में सीमित अधिकार प्रदान किया है।[2]

राजा राममोहन राय ने अपने ट्रैक्ट में "ब्रीक रिमार्क्स रिगार्डिग मार्डन एनक्रोचमेंट आन द एन्शेन्ट राइट्स आफ फीमेल अकार्डिग टू द हिन्दू ला आफ इन्हेरिटेन्स (1822)" में इस विचार से स्पष्ट किया है कि प्राचीनकाल में सम्पत्ति के उत्तराधिकार नियम इस प्रकार बनाए गए थे जिसमें विधवा नारी सम्मान का जीवन यापन कर सकती थी अर्थात् प्राचीन विधि वेत्ताओं ने विधवा नारी को सुख–सुविधा का जीवन जीने का अधिकार दिया था लेकिन आधुनिक युग में दया भाग और दया तत्व जैसे कानूनी व्याख्याताओं ने स्त्रियों के उन प्राचीन सम्पत्ति के अधिकारों का अतिक्रमण कर दिया है जिसके कारण सती की संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है।[3]

---

1. जे0के0 जमूमदार, राजा राममोहन राय एंड प्रोग्रेसिव मूवमेण्टस इन इंडिया नं0 59 पृष्ठ–115–117
2. आशीष नन्दी, ए नाइन्टीन्थ सेन्चुरी आफ टेल वूमेन वायंलेन्स एंड प्रोटेस्ट, वी0सी0 जोशी द्वारा सम्पादित पृष्ठ–172
3. कालिदास नाग एंड बर्मन आफ राजा राममोहन राय, भाग प्रथम पृष्ठ–2–3

दयाभाग व्यवस्था के अन्तर्गत यदि कोई वयक्ति अपने जीवनकाल में अपने उत्तराधिकारियों में अपनी सम्पत्ति को विभाजित कर देता है तो वह उन्हीं स्त्रियो को अधिकार देगा जिनकी कोई संतान नहीं है। किन्तु यदि वह ऐसा विभाजन करने में चूक करता है तो वे स्त्रियां अपना सम्पत्ति पर से अधिकार खो देती है। अगर व्यक्ति अपने जीवनकाल में सम्पत्ति का बँटवारा करता है तो उसकी प्रत्येक स्त्री को बराबर का हिस्सा मिलेगा और पुत्रों का भी बराबर हिस्सा होगा लेकिन यदि उसने अपने जीवनकाल में ऐसा बँटवारा नहीं किया है लड़के मरणोपरान्त सम्पत्ति का बंटवारा करते हैं तो वह अपनी माता को बराबर का हिस्सा देगा लेंकिन उसमें विमाता को कोई भाग नहीं मिलेगा।[1]

राजा राममोहन राय ने इस पर टिप्पणी करते हुए कहा कि यहाँ विधि वेत्ताओं ने सम्पत्ति का बँटवारा करते समय अर्थात् नियम में इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि जो सौतेली माँ है या विमाता है जो अपने पुत्र से (सौतेले) विशेष आशा भी नहीं कर सकती वह पति के मरने के बाद जीवन निर्वाह कैसे करेगी ? लेकिन ऐसी माताओं पर विचार किया है जो अपने सगे पुत्रों से जीवन यापन की कुछ आशा रख सकती है।[2] दायभाग के सम्पत्ति के उत्तराधिकार के विधान के अनुसार ऐसी माता जिसके केवल एक ही पुत्र है तो उसे कोई भाग नहीं मिलेगा सारी सम्पत्ति उस पुत्र को मिल जाएगी और उस स्थिति में यदि वह पुत्र अपने उत्तराधिकार के बाद अपनी सम्पत्ति का उपभोग करते हुए मर जाता है तो उस सम्पत्ति का उत्तराधिकारीउसका पुत्र या उसकी पुत्री होगी।[3] ऐसी स्थिति मे लड़कीकीमां को सम्पूर्ण रूप से अपने पौत्र व उसकी स्त्री पर पूर्ण रूप निर्भर रहने के लिए विवश होना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त इन विधि वेत्ताओं के अनुकूल यदि एक लड़के से अधिक लड़के हैं और वह जीवित है तो वे अपनी माँ को उत्तराधिकार से वंचित कर सकते हैं। साथ रहकर सामूहिक रूप से रहकर संयुक्त परिवार में रहकर वंचित कर सकते हैं क्योकि माँ का

---

1. पी0वी0 काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 3 पृष्ठ 558–559
2. राजा राममोहन राय का लेख इंग्लिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय, प्रथम भाग, पृष्ठ–5
3. पी0वी0 काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास भाग पृष्ठ–559

सम्पत्ति में विभाजन करना लड़कों की स्वेच्छा पर निर्भर है।[1]

राजा राममोहन राय ने पुनः कहा कि समकालीन विधिवेत्ताओं के सम्पत्ति के उत्तराधिकार संबंधी नियम जो न्यायालय द्वारा मान्य है, उन्होंने माँ के अधिकार को और भी संकुचित कर दिया है। जो नहीं के बराबर है। यह इस विचार के घोतक हैं यदि कोई भी व्यक्ति एक विधवा या एक लड़का या कई लड़के छोड़कर मरता है और साथ ही एक या कई लड़के के लड़के (पौत्रो) को छोड़कर मरता हे जिनके पिता जीवित नहीं है तो उसकी छोड़ी गई सम्पत्ति में से उसके लड़कों और पौत्रों में विभाजित हो जाएगी और उसकी विधवा को कोई हिस्सा नहीं मिलेगा। यद्यपि वह बराबर हिस्सा उस समय प्राप्त कर सकती थी जब कि बँटवारा उसके जीवित लड़के तथा पौत्रों के पिता के समय हो गया होता। इस नियम के समर्थकों के अनुसार एक विधवा को जिस पति से उसके कोई संतान नहीं है, उसे सम्पत्ति में से कोई अधिकार नहीं मिलेगा। इसके अतिरिक्त यदि कोई व्यक्ति एक से अधिक पुत्र छोड़कर मरता है और यह सभी पुत्र अपनी विधवा माता को कोई हिस्सा नहीं देना चाहते हैं और सम्पत्ति को अविभाजित रखना चाहते है, संयुक्त परिवार में रखना चाहते हैं। तो विधवा को ऐसी सम्पत्ति में से दावा करने का कोई अधिकार नहीं हैं, लेकिन यदि कोई व्यक्ति दो या अधिक पुत्र छोड़कर मरता है और वह सभी जीवित रहते हैं और अपनी माता को सम्पत्ति का कुछ अंश आबंटित करना चाहते हैं तो माँ का यह अधिकार वैधानिक होगा।[2]

राजा राममोहन ने कहा कि इस व्यवस्था के अन्तर्गत माताएं व सौतेली माताएं अपने पति की सम्पत्ति से बिल्कुल वंचित हो गयी हैं और वर्तमान में विधवा का अधिकार विद्धतजनों में केवल सैद्धान्तिक रूप से प्रचलित है किन्तु जनसाधारण में उसका ज्ञान नहीं है। परिणाम स्वरूप जो नारी परिवार की पूरी स्वामिनी मानी जाती थी दूसरी परिस्थिति में अर्थात् अपने पति की मृत्यु के दिन ही अपने पुत्रों की आश्रिता बन गयी और अपने पुत्र वधु की कृपाकांक्षी बन गयी। वह इस अधिकार से

---

1. कालिदास नाग एंड बर्मन द, इंगलिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय प्रथम भाग पृष्ठ–3
2. राजा राममोहन राय का लेख, "ब्रीफ रिमार्क्स मार्डन एनक्रोचमेंट आन द एन्शेन्ट राइट्स आफ द फीमेल अकार्डिग टू द हिन्दू ला आफ इन हेरिटेन्स"

भी वंचित हो गयी कि वह छोटी से छोटी सम्पत्ति को भी अपने पुत्र अथवा पुत्र वधु की आज्ञा के बिना खर्च कर सके। ऐसे पुत्र जो अभी तक उनके शासन के अधीन थे अब माता को उनके शासन में रहना पड़ता है। कभी–कभी ऐसे क्रूर पुत्र भी होते हैं जो अपनी आश्रित माताओं की भावनाओं को ठेस पहुँचाते हैं। परिवार में कलह होने पर अपनी पत्नी का पक्ष लेकर अपनी माता के साथ दुर्व्यवहार करते हैं।[1] इस व्यवस्था के अन्तर्गत यदि कभी कोई विधवा अथवा पुत्री अपने भरण–पोषण के अधिकार के लिए सीमित राशि की मांग के लिए न्यायालय की शरण लेती थी तो ब्राह्मण चाहे वह न्यायालय के किसी भी पद पर हो अथवा नहीं, दो भागों में बंट जाते थे और अपने–अपने पक्ष के समर्थन में न्यायालय से निर्णय प्राप्त करने में प्रयत्नशील रहते थे। राजा राममोहन राय ने कहा कि नारी को सामान्यतया न्यायिक विवाद से जुड़ी असंख्य कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है विशेष रूप से विधवा इस प्रकार की समस्याओं को झेल न पाने के कारण अपने अधिकार को छोड़ देने के लिए विवश हो जाती है, और सच्चरित्र नारी को बाध्य होकर कष्टपूर्ण आश्रित जीवन व्यतीत करना पड़ता है और सम्पूर्ण जीवन निर्धन रहती है इस प्रकार के निरन्तर कष्ट झेलते–झेलते वह अनैतिकता की शरण में भी चली जाने के लिए विवश हो जाती है।[2]

राजा राममोहन राय ने स्त्रियों को इस स्थिति से बचने के लिए उत्तराधिकार संबंधी विवादों के निपटारे के संबंध में कहा कि अब ऐसे यूरोपीय विद्वान उपलब्ध हैं जो विद्वान भारतीयों की सहायता लिए बिना कानूनी बिन्दुओं की समीक्षा कर सकते हैं।[3] उन यूरोपीय विद्वानों के प्रति आभार व्यक्त किया जो भारतीय समाज में स्त्री उत्तराधिकार के प्रश्नों की वैधानिक दृष्टि से जाँच पड़ताल कर रहे थे उनकी यह आकांक्षा थी कि भारतीय सामाजिक धार्मिक कुरीतियों का उन्मूलन ब्रिटिश शासन द्वारा वैधानिक रूप से कर दिया जाना चाहिए।[4]

---

1. कालिदास, नाग एंड बर्मन, इंग्लिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय तृतीय भाग पृष्ठ–4
2. उपरोक्त, पृष्ठ–8
3. उपरोक्त, पृष्ठ--9
4. उपरोक्त, पृष्ठ–127

राजा राममोहन राय के उक्त कथन से यह आशय नहीं था कि वे हिन्दुओं के महान् विद्वानों की संख्या को दोषी माना अपितु राजा राममोहन राय ने देश की परिस्थितियों के अनुसार यह सुझाव रखा । क्योंकि उन्होंने यह भी कहा कि सन् 1793 मे दशशाला बन्दोबस्त के समय यूरोपीय सम्भ्रान्त व्यक्तियों में बिरले ही ऐसे व्यक्ति थे जो संस्कृति एवं हिन्दू नियमों से अवगत थे इस कारण उस समय यूरोपीय भारतीय विद्वानों एवं विद्वान ब्राह्मणों की कोई ऐसी कमेटी बनाना संभव नहीं था जो हिन्दू नियम के प्रमुख बिन्दुओं पर निर्णय कर सके । इसलिए सरकार के लिए यह बहुत उचित न्यायिक बात थी कि वे विभिन्न जिला अपीलीय न्यायालयों में पण्डितों को नियुक्त करें जिससे ऐसे विषयों में जजों को निर्णय लेने में सुविधा रहे ।[1]

जिस समाज में नारी को अपमान भरी स्थिति में रखा जाता था, वहाँ स्त्री शिक्षा की बात कल्पनातीत थी । नारी उत्थान तथा कल्याण, जो कि राजा राममोहन राय के समाज सुधार के केन्द्र थे, उनके निमित्त उन्होंने स्त्री शिक्षा की आवश्यकता पर अधिक बल दिया । वे समाज में स्त्री तथा पुरुषों को समान स्थिति प्रदान करने के पक्ष में थे । लिंगगत भेद के अतिरिक्त अन्य सभी सामाजिक तथा नागरिक क्षेत्रों में वे महिलाओं को पुरुषों के ही समान अधिकार देने की बात कहते रहे । स्त्रियों को पिता या पति दोनों की ओर से सम्पत्ति के पूरे अधिकार देने की दलील दी ।

राजा राममोहन राय ने अपने लेख मे स्त्रियों की सम्पत्ति के अधिकारों का समर्थन करते हुए कहा कि प्राचीनकाल में भारत की स्त्रियां सम्पत्ति के अधिकारों से वंचित नहीं थी, परिवार की सम्पत्ति में से केवल पुत्र को ही हिस्सा नहीं मिलता था वरन् पुत्री भी इसकी अधिकारिणी थी । आधुनिक युग में स्त्रियों के उन प्राचीन अधिकारों का पूर्ण रूप से अतिक्रमण कर दिया गया है । प्राचीन विधि वेताओं ने अपने समुदाय मे स्त्रियों की उन्नति के लिए ऐसे नियम बनाए जिससे वह अपना साधारण रूप से जीवन निर्वाह कर सकें । अतः जिस प्रकार सभी प्राचीन विधि निर्माताओं ने सर्वसम्मति से पति की मृत्यु के उपरान्त उसकी छोड़ी गई सम्पत्ति में से उसके पुत्र के बराबर

---

1. कालिदास, नाग एंड बर्मन, इंग्लिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय, तृतीय भाग, पृष्ठ–127

हिस्सा देने की व्यवसथा की है, जिससे वह स्वतन्त्रता से अपना जीवन व्यतीत कर सकें उसी प्रकार पति की मृत्यु के पश्चात् स्त्रियों को सम्पत्ति में से पुत्र के समान ही अधिकार मिलना चाहिए ताकि वह भी अपना शेष जीवन आत्मनिर्भर होकर व्यतीत कर सके ।[1]

याज्ञवल्क्य, कात्यायन, नारद, विष्णु बृहस्पति तथा व्यास में संकलित स्त्री उत्तराधिकार संबंधी नियमों का उल्लेख करते हुए कहा कि प्राचीनकाल में स्त्रियों अधिक अधिकारों से वंचित नहीं थी । स्त्रियों की सामाजिक सुरक्षा तथा विधवाओं की स्थिति में सुधार उनके आर्थिक अधिकारों पर अवलम्बित थे ।[2]

यज्ञवल्क्य के अनुसार पिता की मृत्यु के उपरान्त उसके द्वारा छोड़ी गयी सम्पत्ति मे उसके बँटवारे में माता को अपने पुत्रों के बराबर का हिस्सा मिलता था ।[3]

इसके आधार पर राजा राममोहन राय ने इस विचार का दृढ़ता से समर्थन किया है कि प्राचीनकाल में सती प्रथाप्रचलित नहीं थी, विधवा सम्मान का जीवन जीने की अधिकारिणी थी । इस प्रथा का प्रचलन लोगों ने अपने आर्थिक लाभ व स्वार्थों की पूर्ति के लिए किया ।[4]

राजा राममोहन राय ने अपने निबन्ध 'राइट्स आफ हिन्दू ओवर एन्सेस्ट्रल प्रोपर्टी अकार्डिग टू द ला आफ बंगाल' में दायविभाग कानून, जो बंगाल में प्रचलित था और मिताक्षरा कानून दोनो के विषय में विचार विमर्श किया है ।[5]

---

1. राजा राममोहन राय का लेख (1822)
2. स्त्रियों के प्राचीन सम्पत्ति के अधिकारों का आधुनिक युग के अतिक्रमण अधिकारों के स्थापन पर संक्षिप्त लेख, इं0 वर्क्स आफ रा0 राय सम्पादित, नाग एंड बर्मन भाग प्रथम पृष्ठ--5
3. याज्ञवल्क्य स्मृति, दायविभाग प्रकरण, श्लोक संख्या 25 "पितुरूर्ध्वं विभजतां माताव्यंश समं हरेत्"
4. स्त्रियों के प्राचीन सम्पत्ति के अधिकारों का आधुनिक युग के अतिक्रमण अधिकारों के स्थापन पर संक्षिप्त लेख पृष्ठ--5
5. राममोहन राय, सम इम्पौर्टेन्ट स्माल ट्रैक्टस (बी0एन0 दास गुप्ता द्वारा सम्पादित)

राजा राममोहन राय ने ऐसे समाज के प्रति क्षोभ प्रकट किया, जहाँ कन्याएं आय का साधन बनी हुयी थीं। निम्न वर्ग के ब्राह्मण एवं कुछ उच्च वर्ग के कायस्थ धन के लोभ में अपनी महिला संबंधियों का विवाह ऐसे अयोग्य पुरुषों के साथ कर देते थे, जिनके शरीर में कोई प्राकृतिक दोष होता था या वृद्धावस्था या दीर्घकालीन बीमारी के कारण शारीरिक रूप से अक्षम होते थे। राजा राममोहन राय ने इस संबंध में कहा कि इस प्रचलन से विवाह के बाद स्त्रियों का जीवन नारकीय हो जाता है, वैधण्य का जीवन व्यतीत करना पड़ता है धन के लोभ में रूग्ण व अपाहिज व्यक्तियों से कन्या नहीं सौपनी चाहिए। जो लोग यह क्रूर एवं अमानुषिक कार्य करते हैं वह केवल अपना ही पतन नहीं करते हैं, वरन् प्राचीन ऋषियों के आदेशों का उल्लंघन भी करते हैं, पाप के प्रतीक माने जाते हैं।[1] मनु के तीसरे अध्याय के इक्यावन श्लोक रूप में स्पष्ट रूप से लिखा है :

"न कन्यायाः पिता विद्वान् गृहीयात् शुल्कमरावपि
गृहन हि शुल्कं लोभेन स्यान्नरोडपत्यविक्रयी"।[2]

अर्थात् कोई भी पिता जो धर्म का पालन करता हे, वह अपनी पुत्री के विवाह के बदले में कोई राशि चाहे वह कितनी ही न्यून क्यों न हो स्वीकार नहीं करेगा क्योकि जो पुरुष लालच के वशीभूत होकर इस उद्देश्य के लिए राशि ग्रहण करता हे वह अपनी संतान को बेचने वाला होता है निम्न श्रेणी के व्यक्ति को भी अपनी कन्या के विवाह के बदले में कोई राशि स्वीकार नहीं करनी चाहिए।

राजा राममोहन राय ने सामान्य नीति एवं देश के नियमों दोनों दृष्टिकोणों के आधार पर इस प्रथा को नारियों की बिक्री बताया।[3]

---

1. राजा राममोहन राय का लेख, मार्डन एनक्राचमेंट आन द ऐशेन्ट राइट्स आफ फीमेल पृष्ठ–7 कलकत्ता, 1822
2. मनुस्मृति तीसरा अध्याय श्लोक नं0 51 पृष्ठ–74
   न कन्यायाः पिता विद्वान ग्रहीयात्शुल्कमरावपि।
   गृहन हि शुल्कं लोभेन स्यान्नरोडपत्यविक्रयी ।।51
3. सोफिया डी0 कोलेट, लाइफ एंड लेटर्स आफ राजा राममोहन राय पृष्ठ–198

इस प्रकार राजा राममोहन राय ने सती प्रथा के प्रचलन के संबंध में एक पतनशील समाज की अवशेष तथा महिला वर्ग की दासता व विवशता के अनेक दृष्टांत दिए और इसका कठोरता से विरोध किया । राजा राममोहन राय के अथक प्रयासों के परिणामस्वरूप सन् 1829 को लार्ड विलियम बेन्टिंग ने सती प्रथा को कानून द्वारा बन्द करवा दिया ।[1] यद्यपि सन् 1830 में कुछ कट्टरपंथी हिन्दुओं ने भारत के गर्वनर जनरल लार्ड विलियम बेन्टिंग के इस आदेश के विरूद्ध सम्राट की सरकार के समक्ष धर्म सभा की ओर से एक प्रत्यावेदन प्रस्तुत करते हुए दलील दी, परन्तु राजा राममोहन राय इस प्रत्यावेदन के विरूद्ध अपना तर्क प्रस्तुत करने के लिए स्वयं इंग्लैंड गए । अन्ततः जुलाई सन् 1832 में न्यायधीशों ने सर्वसम्मति से उक्त कट्टरपंथी हिन्दुओं द्वारा धर्म सभा की ओर से दी गई अपील को रद्द कर दिया ।

यद्यपि हाल ही में दिवराला मे हुयी रूपकुँवर के सती होने की घटना ने इस प्रथा को पुनः जीवित करने का प्रयास किया गया, परन्तु इनके प्रयास से जागृत भारतीय मानसिकता ने पुनः इस प्रथा को गहरी घाटी में फेंक दिया ।

राजा राममोहन राय ने विधवा नारी के विवाह का समर्थन भी किया, जिससे वह पुनः सम्मानपूर्वक जीवन व्यतीत करने की क्षमता प्राप्त कर सके । उनका विश्वास था कि प्राचीनकाल में समाज के अन्दर विधवाओं की सुरक्षा तथा जीवन यापन की व्यवस्था अच्छी थी, किन्तु तत्कालीन समय में विधवा को या तो सती होना पड़ता था, अथवा वेश्यावृत्ति अपनानी पड़ती थी, अतएव उन्होंने इस सामाजिक कलंक को धोने के लिए विधवा पुनर्विवाह का समर्थन किया ।[2]

इस संबंध में उनका प्रस्ताव साकार करने के निमित्त कठोर कदम तो नहीं उठाएं जा सके, परन्तु उनके विचार भविष्य के समाज सुधारकों के लिए प्रेरण के स्त्रोत सिद्ध हुए । बाद में

---

1. सोफिया डी0 कोलेट, द लाइफ एंड लेटर्स आफ राजा राममोहन राय पृष्ठ–259
2. बी0एन0 दास गुप्ता, समइम्पौर्टेंड स्मालट्रैक्ट आफ राजा राममोहन राय पृष्ठ–73

ईश्वरचन्द्र विद्या सागर, केशवचन्द्रसेन, महादेव गोविन्द रानाडे आदि ने इस दिशा में प्रचार करने के लिए उल्लेखनीय कार्य किए ।

राजा राममोहन राय ने तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए सामाजिक सुधार के निमित्त यह अनुभव किया कि हमारे देश के पतन का प्रमुख कारण यह रहा है कि भारतवर्ष दीर्घकाल तक मुसलमानों के निरंकुश शासकों के अधीन रहने के कारण शिक्षा के प्रति उपेक्षित रहा है ।[1] भारत की दशा को दर्शाते हुए शिक्षा के प्रति साधारण का दृष्टिकोण बताते हुए कहा 'वर्तमान समय में भारत के पूर्व केवल दक्खिन कुछ भागों में ब्राह्मणों के अतिरिक्त या जो मुसलमान शासन के मुख्यालय से अधिक दूर हैं, मुसलमान तथा सम्मानीय वर्ग के हिन्दू मुख्यतः पारसीयन का अनुशीलन करते हैं । अधिकांश मुसलमान और कुछ सम्मानित हिन्दू अरबी साहित्य की ओर झुकाव रखते हैं । यही पद्धति वर्तमान समय में है । बहुत से ऐसे विद्वान भी है, जो साहित्य में अभिरूचि रखते हैं तथा संस्कृत साहित्य की संस्कृति में पले हैं, लेकिन वह यूरोपीय साहित्य से अनभिज्ञ हैं । राजदरबार के निकट निवास करने वाले लोग शैक्षिक तथा सभ्यता के दृष्टिकोण से अन्य देश के वर्ग के लोगो से नम्र तथा शिष्ट हैं । वाराणसी में शिक्षा संस्थान में अब भी राजाओं तथा प्रतिष्ठित देशवासियों का सहयोग प्राप्त है । लेकिन यह सुसंगठित नहीं है । कलकत्ते का हिन्दू कालेज जो शासन द्वारा संस्थापित है, बहुत ही ऊँचे तथा सुदृढ़ आधार पर स्थापित है इसमें बहुत से विद्वान ईसाई साहित्य तथा विज्ञान की शिक्षा, बिना धार्मिक संयोजन के उचित नही मानते है, क्योंकि उनके अनुसार वह विद्यार्थी जो धार्मिक वातावरण में पलते हैं और धार्मिक प्रतिबन्ध उनके आचरण पर प्रतिबन्धित होते हैं, उनका धर्म नष्ट होता है ।[2]

उस समय विदेशी शासक शिक्षा में नवीन विचारों का समावेश करने से भयभीत रहते थे । अन्धकार के गर्त में पड़ी हुयी जनता को जगाना नहीं चाहते थे । ईस्ट इंडिया कम्पनी की नीति यह

---

1. बी0एन0 दास गुप्ता, द लाइफ एंड टाइम्स आफ रा0राम0 राय, पृष्ठ–160
2. 'एडीशन क्यूरीज रीस्पेक्टिंग द कन्डीशन आफ इन्डिया'
   कालिदास नाग एंड बर्मन, द इंग्लिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय, भाग–3, पृष्ठ–66–67

थी कि हिन्दू व मुस्लिम समाजों को न छेड़ा जाय, न उन्हें उचित शिक्षा दी जाए, न ही उनमें ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा जागृत की जाए । सामाजिक व राजनैतिक परिवर्तन के लिए निरन्तर संघर्ष करते हुए राजा राममोहन राय ने यह अनुभव किया कि देश को एक नवीन शिक्षा प्रणाली की आवश्यकता है । जिसमें व्यवस्थित स्कूल, विवेकशील अध्यापक व संशोधित पाठ्यक्रम हो । बुद्धिजीवी वर्ग में अंग्रेजी शिक्षा के प्रति रूचि बढ़ती जा रही थी ।[1]

राजा राममोहन राय प्रथम भारतीय थे जिन्होंने भारत में समाज सुधार के निमित मध्यकालीन शिक्षा के विरूद्ध संघर्ष किया, और पाश्चात्य शिक्षा का समर्थन करके भारत में आधुनिक राष्ट्रवाद की नींव रखी ।[2] राजा राममोहन राय ने अपने आरम्भिक जीवन में भारत की भाषाओं के अध्ययन से फारसी तथा संस्कृत के ग्रन्थों का अध्ययन किया था इससे स्पष्ट होता है कि प्रारम्भ में राजा राममोहन राय पाश्चात्य शिक्षा के समर्थन नहीं थे । वह अपनी विलक्षण बुद्धि से यह भाँप चुके थे कि अंग्रेजी शिक्षा से अवश्य ही भारत को असीम लाभ होगा । मुख्य न्यायधीश "सरएडवर्ड हाइड ईस्ट" के निवस स्थल पर एक बैठक में ऐसे कालेज की स्थापना पर विचार किया गया जिसमें भारतीय तथा पाश्चात्य शिक्षा साथ-साथ पढ़ाई जा सकें । फलस्वरूप सन् 1817 में हिन्दू कालेज की स्थापना की गई । इसकी स्थापना का श्रेय राजा राममोहन राय व डेविड हारे को ही दिया जा सकता है ।[3] सन् 1822 में राजा राममोहन राय ने अपने ही व्यय पर एंग्लो-हिन्दू स्कूल की स्थापना की । इस स्कूल में बच्चों को निःशुल्क शिक्षा दी गयी । उन्होंने सरकार से आग्रह किया कि निर्धन हिन्दुओं के बालकों को मुफ्त शिक्षा दी जाए ।[4] राजा राममोहन राय संस्कृत शिक्षा प्रणाली को चिरकाल तक अंधकार में रखने वाली समझते थे । ईस्टइंडिया कम्पनी द्वारा संस्कृत स्कूलों के विस्तार का राजा राममोहन राय ने विरोध किया उनका विचार था कि ईस्ट इंडिया कम्पनी भारतीयों को पराधीन व पिछड़ा बनाएं रखने के लिए आधुनिक शिक्षा से दूर रखनी चाहती है । उन्होंने लार्ड

---

1. एडरीनी मोरे, राममोहन राय एंड अमेरिका पृष्ठ-19
2. एम0ए0बुश, राइज एंड ग्रोथ आफ इंडिया लिब्ररिज्म पृष्ठ-74
3. यू0एन0बाल, राममोहनराय, पृष्ठ- 152-156
4. एडरीनी गोरे, राममोहन राय एण्ड अमेरिका, पृष्ठ-19

एमहर्स्ट को एक पत्र लिखा जिसमें आधुनिक राष्ट्र की शिक्षा नीति के समस्त तत्वों का निचोड़ था [1] उन्होंने लिखा कलकत्ता में संस्कृत स्कूल की स्थापना से हम उत्साहित हुए । हमें आशा हुयी थी कि यूरोपीय अध्यापक गणित, प्राकृतिक दर्शन, रसायन शास्त्र, शरीर विज्ञान आदि विषयों का ज्ञान भारतीय छात्रों को कराएंगे । परन्तु सरकार जिन स्कूलों का विस्तार कर रही है, उनमें हिन्दू पंडितों द्वारा वही शिक्षा दी जा रही है जो दीर्घकाल से प्रचलित है । क्या संरकार भारतीय जनता को अंधकार में ही रखना चाहती है ? शिक्षा की प्राचीन पद्धति को बनाए रखने का अर्थ है अंधविश्वास को जारी रखना । यदि ब्रिटिश सरकार को राष्ट्र को अज्ञान के अंधकार में रखने का इरादा होता, तो बेकन के दर्शन को उस शिक्षा पद्धति से हटाने की अनुमति ही नही दी जाती, जो अज्ञान को बनाए रखने के लिए सर्वोत्तम थी । इसी प्रकार यदि ब्रिटिश विधानमंडल की यह नीति है कि इस देश को अंधकार में रखा जाए, तो संस्कृत शिक्षा पद्धति सर्वोत्तम सिद्ध होती । परन्तु सरकार का लक्ष्य देशी जनता की उन्नति है, उसे एक ऐसी उदार एवं ज्ञानवर्धक शिक्षा पद्धति लागू करनी चाहिए, जिसमें अन्य उपयोगी विज्ञानों के साथ गणित, प्राकृतिक दर्शन, रसायन विज्ञान और शरीर विज्ञान का समावेश हो और उसमें अध्यापन का कार्य प्रस्तावित धनराशि से, यूरोप में शिक्षित सुबुद्ध एवं सुविज्ञ विद्वानों को नियुक्त करके तथा आवश्यक पुस्तकों, उपकरणों एवं यन्त्रों से सुसज्जित एक कालेज की स्थापना करके सम्पन्न किया जा सकता है । संस्कृत विद्यालयों के स्थान पर अंग्रेजी विद्यालयों की स्थापना पर बल देते हुए कहा "हिन्दू पंडितों के अधीन संस्कृत विद्यालय से केवल यही आशा की जा सकती है, कि वह युवकों को मस्तिष्क को व्याकरण की ऐसी बारीकियों और आत्म ज्ञान की ऐसी जटिलाताओं से लाद देगी, जिनका समाज के लिए कोई व्यावहारिक उपयोग नही है । इससे विद्यार्थी को वही शिक्षा मिलेगी, जिसे दो हजार वर्ष पूर्व ही जान लिया गया था । ऐसी शिक्षा भारत के समस्त भागों में साधारण रूप से पहले ही दी जा रही है । नौजवानों को अपने जीवन के सबसे महत्वपूर्ण एक दर्जन वर्ष व्याकरण बारीकियों या संस्कृत व्याकरण को जानने में खर्च कर देने से कोई लाभ नहीं हो सकता है और न ही वेदान्त की अकलबाजियों में लगाने से

---

1. राजा राममोहन राय द्वारा शिक्षा के संबंध में लार्ड एम.हर्स्ट को लिखा गया पत्र, 11 दिसम्बर 1823

लाभ होगा । इस शिक्षा से युवक राष्ट्र निर्माण में पूर्णरूप से सहायक सिद्ध नहीं हो सकते ।[1]

राजा राममोहन राय के उपर्युक्त विचारों से यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि उन्होने संस्कृत की आवश्यकताओं का तिरस्कार किया । "वेदान्त कालेज" की स्थापना इसका प्रमाण है, कि राजा राम मोहन राय पाश्चात्य शिक्षा पद्धति के पक्षपाती होने पर भी भारतीय संस्कृति और गौरव ग्रंथों के अध्ययन – अध्यापन के प्रति पूर्ण सजग थे । राजा रामामोहन राय शिक्षा को समाजिक अन्याय से लड़ने का साधन मानते थे । निरक्षरता दूर करने पर उन्होने बहुत बल दिया ।[2]

राजा राममोहन राय ने अंग्रजी शिक्षा का पशिचम के देशों के वैज्ञानिक एवं प्रजातांत्रिक विचारों के रूप में स्वागत किया । राजा राममोहन राय का विचार था कि पशिचमी देशों ने अपने इन विचारों के माध्यम से विज्ञान, समाज सुधार और राजनीति में विराट् उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं, उनके यही विचार भारतीय जनता में सुधार की भावना जाग्रत करने में सहायक होगें । उन्होंने कहा कि "अंग्रेजी स्वयं ही नागरिक तथा राजनीतिक स्वतंत्रता का उपभाग नहीं करते अपितु अपने अधीन देशों में भी स्वतन्त्रता, सामाजिक सुख तथा बुद्धिवाद को प्रोत्साहन देते है । यदि मूल निवासी यूरोपीयों की भाँति वही शिक्षा प्राप्त कर ले और मूल निवासियों में यूरोपीयों की भाँति सम्मान की वही भावना जागृत हो जाए तो इसमें कोई संदेह नही है कि वह भी यूरोपीयों की भाँति अच्छे बनेगे और अपने देशवासियां का विश्वास अर्जित करते हुए सभी व्यक्तियों के आदर के पात्र होगें ।[3] राजा राममोहन राय ने पाश्चात्य शिक्षा के समर्थन में यह भी कहा कि देश की वास्तविक उन्नति के लिए विश्व से संबंध स्थापित करक`कदम से कदम मिलाकर चलना चाहिए। लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं है कि संस्कृत शिक्षा की अवहेलना करें और वेद, उननिषद आदि की चर्चा करना छोड़ देना चाहिए । सन् 1830 में स्काटलैंड चर्च की ओर से अलेक्जण्डर डक भारत आए तो वह राजा राममोहन राय के घर पर ही रहे, उनके साथ राजा राममोहन राय ने भारतीय जनता की शिक्षा पर परामर्श किया ।

---

1. राजा राममोहन राय, हिज लाइफ राईटिंग्स एण्ड स्पीचिस, पृष्ठ–84–89
2. एडरीनी मोरे, राममोहन राय एण्ड अमेरिका, पृष्ठ–19
3. कालिदास नाग एडवर्मन वर्क्स इंग्लिश आफ राजा राममोहन राय, तृतीय भाग, पृष्ठ–127

राजा राममोहन राय का विचार था कि सच्ची शिक्षा में धर्म भी सम्मिलित होना चाहिए । वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि प्रत्येक विद्यालय के कार्य का प्रारम्भ प्रर्थना से होना चाहिए । उन्होंने कहा कि हिन्दू धर्म का ज्ञान होने से "ईसाई" हिन्दू नही हो जाता, उसी प्रकार ईसाई धर्म का होने से हिन्दू "ईसाई नही हो जाता ।[1] राजा राममोहन राय प्राचीन परम्परा के पूर्ण विरोधी नही थे, पाश्चात्य व भारतीय शिक्षा के सभी गुणों को बनाए रखना चाहते थे । भारत में पाश्चात्य शिक्षा का प्रवेश राजा राममोहन राय की प्रेरणा से हुआ । इस संबंध में यह कहा जा सकता है कि राजा राममोहन राय ने जिस शिक्षा नीति के लिए आग्रह किया था, उसे समिति द्वारा स्वीकार किए जाने से पूर्व विवाद में मैकाले के समर्थन और नए गर्वनर जनरल की निश्चयात्मक कार्यवाही में बारह वर्ष लगे । यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि राजा राममोहन राय द्वारा समर्थित शिक्षा नीति के अपनाने से ही पूर्व तथा पाश्चात्य दोनों विचारधाराओं के एकीकरण की प्रक्रिया में तेजी आयी ।

राजनीतिक विचार

राजा राममोहन राय ने अपनी गतिविधियाँ समाज सुधारों तक ही सीमित नहीं रखी, वरन् राजनीति के क्षेत्र में भी अपने व्यक्तित्व की अमिट छाप छोड़ी, जो उदारवादी दर्शन के परिचायक हैं धर्म और समाज की भाँति राजनीति के क्षेत्र में इनके विचार ऊँचे मानदंड पर स्थित थे । राजा राममोहन राय की विशद्र राजनीति केवल जाति विशेष के हित अहित के संकीर्ण घिरौंदे मे ही बन्द राजनीति नही थी, बल्कि वह एकप्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय आदर्श से ओत–प्रोत थी, जिसमें संसार भर के पीड़ित और शोषित जनों के प्रति संवेदना और सोर्हाद्ध की सच्ची भावना नीहित थी । उन्होंने स्पष्ट रूप से विचार व्यक्त किया है कि केवल धर्म से नहीं अपितु अदूषित सामान्य बुद्धि एवं विज्ञान से भी ज्ञात होता है, कि सारी मनुष्य जाति एक परिवारहै और अनेक जातियाँ तथा राष्ट्र उसी परिवार की शाखाएं हैं । इसलिए सब देशों के बुद्धिमान पुरुष समस्त मानव जाति के पारस्परिक लाभ

---

1. जमुना नाग, भारत के महान समाज सुधारक राजा राममोहन राय, पृष्ठ– 64–65.

एंव सुख संवर्धन के लिए यथासंभव सभी बाधाओं को हटाकर सब प्रकार से मानव संचार एवं मेल–मिलाप को प्रोत्साहन और सुविधा देने की व्यवस्था बनाएं रखने के आकांक्षी है ।[1]

राजा राममोहन राय यह भॅली–भॉति जानते थे, कि राज्य का कार्य क्षेत्र क्या होना चाहिए उनके युग में पाश्चात्य देशों में उपयोगितावाद, व्यक्तिवाद, प्रत्ययवाद तथा समाजवाद की विचारधाराएं राज्य के कार्य क्षेत्र में अलग–अलग दृष्टिकोण प्रस्तुत कर रही थी । राजा राम मोहन राय ने इनमें से किसी एक विचाराधारा को निरपेक्ष रूप से नही अपनाया । भारत की तत्कालीन परिस्थितियों के अर्न्तगत संभव भी नहीं था । राजा राममोहन राय जान लाक, ग्रोशियस तथा टामसपेन की भॅति प्राकृतिक अधिकारों व व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के समर्थक अवश्य थे, किन्तु उसके हित में वे राज्य द्वारा अहस्तक्षेप की व्यक्तिवादी नीति के समर्थक नहीं थे । वे समाज में बुराइयों तथा कुप्रथाओं को समाप्त करने के लिए राज्य के हस्तक्षेप को आवश्यक समझते थे । जैसा कि उन्होंने "बहुपत्नी विवाह" या "बहुविवाह" जैसी प्रथा के निराकरण के सबंध में सुझाव देते हुए कहा कि सरकार को भी इस दृष्टिकोण पर बल देना चाहिए, उसे किसी व्यक्ति कोएकपत्नी के जीवित रहते हुए बिना मजिस्ट्रेट से अनुमति प्राप्त किए दूसरा विवाह करने की अनुमति नहीं देनी चाहिए और मजिस्ट्रेट को भी ऐसी अनुमति देने से पूर्व ऐसे आवेदन के विंभिन्न पहलुओं को पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके निर्धारित नियमों के आधार पर ही दूसरा विवाह करने की अनुमति प्रदान करनी चाहिए । [2]

इसी प्रकार जमींदारी प्रथा के द्वारा किए जाने वाले अन्याय के वियद्ध भी वे राज्य द्वारा समुचित कार्यवाही करने की नीति के समर्थक थे ।[3] शोषण तथा सामाजिक अन्यायको समाप्त करने तथा अंधविश्वासपूर्ण प्रथाओं का निराकरण करने के लिए वह राज्य द्वारा शिक्षा की व्यवस्था करने

---

1. राजा राममोहन राय द्वारा फ्रांस के विदेशमंत्री को लिखा गया पत्र, 20 दिसम्बर 1831 लन्दन सलेक्टेड वर्क्स आफ राजा राममोहन राय पृष्ठ–37
2. राजा राममोहन राय का लेख, ब्रीक रिमार्कस मार्डन एनक्रीचमेंट आन द एन्शेन्ट राइट्स आफ फ़ीमेल, 1822
3. बी0एन0दास गुप्ता, रिवन्यू सिस्टम आफ इण्डिया पृष्ठ–107

की बात का समर्थन करते थे । समाज में आर्थिक समानता लाने और आर्थिक शोषण को समाप्त करने के लिए वह समाजवादी कार्यक्रम को भी उचित मानते थे । उन्होंने राज्य के माध्यम से जिन विविध सुधारों की योजना रखी, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि वे बेंथमवाड से सर्वाधिक मात्रा में प्रभावित थे । वे व्यक्ति के सम्पति संबंधी आधिकारों की सुरक्षा के लिए राज्य के हस्तक्षेप को स्वीकार करते थे । इस प्रकार एक सम्पन्न मध्यमवर्ग के अस्तित्व को वे समाज की अर्थ व्यवस्था में सुधार लाने के लिए आवश्यक मानते थे । इस दृष्टि से वे जमींदारी–प्रथा के विरोधी नहीं माने जा सकते है, परन्तु कृषक वर्ग के आम हितो की दृष्टि से वे इसमें सुधार लाने के पक्ष में थे, जिससे किसानों के ऊपर जमींदार लोग मनमाने कर लगाकर उनका शोषण न कर सकें । उन्होंने किसानों को जमींदारों के अत्याचारों के विरूद्ध संरक्षण प्रदान करने के उद्देश्य से जमीन पर कर लगाने का अधिकार सरकार को देने की नीति सुझायी । साथ ही स्थायी भूमि–व्यवस्था के लाभ से रैयत को बंचित रखने की नीति को गलत बताया ।[1]

इस प्रकार राजा राममोहन राय ने भारत की तत्कालीन परिस्थितियों के अन्तर्गत राज्य के कार्यक्षेत्र का निर्धारण करने में जिन सुझावों को प्रस्तुत किया, उनके आधार पर उनका यथार्थवाद तथा बुद्धिमत्ता प्रकट होती है । उन्होंने पाश्चात्य व्यक्तिवादी विचारकों से सन्निध्य रखते हुए भी राज्य के कार्य कलापों पर नियंत्रण लगाने की बात नही कही अपितु समाज सुधार तथा शिक्षा के पुननिर्माण के लिए बिना झिझक द्वारा कानून निर्माण का समर्थन किया । यह राजा राममोहन राय की राजनीति दूरदर्शिता का परिचायक है कि उन्होंने निश्चयको विविध पाश्चात्य विचारधाराओं के गुणों ग्रहण करके भारतीय सन्दर्भ में उन्हें अपनाए जाने की धारणा व्यक्त की और किसी एक "वाद" का अन्धाधुंध होकर समर्थन नहीं किया । राजा राममोहन राय भारत में अंग्रेजी राज्य के प्रशंसक थे । वह अंग्रेजी राज्य को भारत में वरदान समझतें थे । उन्होंने लिखा "अपनी पवित्र उपासना में हम प्रायः भगवान के प्रति भारत में अंग्रेजी राज्य के वरदान के लिए अपना आभार प्रकट करते है और

---

1. बी0एन0दास गुप्ता, रिवन्यू सिस्टम आफ इण्डिया पृष्ठ–107

ईमानदारी से प्रार्थना करते है कि यह अपनी परोपकारी कार्यप्रणाली के लिए शताब्दियों तक चलता रहें ।[1]

राजा राममोहन राय राष्ट्रीय स्वाधीनता के प्रेमी थे । उन्होंने वैयक्तिक प्रेस की स्वतंत्रता और भारत की न्यायिक व्यवस्था के संबंध में जो विचार प्रस्तुत किए है, उस पर दृष्टिपात करके हम यह कह सकते है, कि राजा राममोहन राय ही वह प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने भारत में राजनीतिक स्वतन्त्रता का संदेश दिया ।" वह अपने देश के राजनीतिक अभ्युदय के लिए उसी प्रकार चिन्तित और उत्कंठित थे, जिस प्रकार धार्मिक और सामाजिक पुनरूत्थान के लिए राजा राममोहन राय के विचार में स्वतन्त्रता मनुष्य का अमूल्य धन है, और स्वतनत्रता राष्ट्र के लिए भी आवश्यक होती है । इस आंकाक्षा से प्रेरित होकर उन्होंने विदेशी शासन के साथ सहयेग की नीति अपनाने और उनकी सद्भावनाओं पर विश्वास रखने का विशेष रूप से समर्थन किया है ।[2]

राजा राममोहन राय ने विश्वास प्रकट करते हुए कहा कि ब्रिटिश राजतंत्र की छत्रछाया में ही देश का अभ्युत्थान कहीं अधिक तीव्र गति से हो सकेगा, क्योकि आंग्ल सरकार ने जिन बुद्धिजीवी व सामाजिक विचारों को अपनाया हैं, उनसे अवश्य ही बंगाल के हिन्दू समाज में सुधार हुआ है ।[3] सती प्रथा व बाल हत्या जैसी बुराईयों का अन्मूलन व उनकी साहित्यिक और राजनैतिक प्रोन्नति में भी दिनोंदिन बढ़ोत्तरी हुयी है, पूर्व शासन की अपेक्षा वर्तमान शासन के अन्तर्गत भारतवासियों की दशा सुधर रही है । आंग्ल शासन के माध्यम से भारत में स्कूल, कालेज और तरह – तरह की उपयोगी संस्थाओं की स्थापना हुयी । इस दृष्टिकोण से और मुख्य रूप से न्याय के शासन के लिए आंग्ल सरकार की न्यायपालिका के प्रति भारतवासियों को कृतज्ञ होना चाहिए । अंग्रेज स्वयं ही नागरिक तथा राजनीतिक स्वतंत्रता का उपभोग नहीं करते अपितु अपने अधीन देशों में भी स्वतंत्रता, सामाजिक सुख तथा बुद्धिवाद को प्रोत्साहन देते है ।[3] भारत में ब्रिटिश शासन के

---

1. ब्रह्मसमाज, वर्क्स आफ राममोहन राय, कलकत्ता, 1828 भाग–1, पृष्ठ–222
2. विपिन चन्द्र पाल, (लेख) राजा राममोहन राय बर्थ सेन्चरी, भाग 2, पृष्ठ–20
3. सोकिया डी कोलेट, लाइफ एण्ड लेटर्स आफ राजा राममोहन राय, पृष्ठ–425
4. राजा राम मोहन राय, हिज लाइफ राइटिंग्स एण्ड स्पीचिस,पृष्ठ–42

सम्पर्क से भारतीय मस्तिष्क आधुनिक विश्व संस्कृति के निकट सम्पर्क में आ सकेगा और देश में आधुनिक शासन की एक ऐसी पद्धति स्थापित हो जाएगी जिससे भारत संसार के अन्य सभ्य एवं स्वतन्त्र देशों के स्तर तक पहुँच जाएगा ।

राजा राममोहन राय इस विचार के समर्थन नही थे अंग्रेज अनन्त काल तक भारत में आधिपत्य जमाएं रहें, क्योंकि सन् 1832 में ब्रिटेन की लोक सभा प्रवर समिति ने भारत में यूरोपीय लोगों के बसने पर राजा राममोहन राय के विचार जानने चाहे, तो उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा, कि केवल शिक्षित तथा चरित्र और पूंजी वाले यूरोपीयों को ही भारत में स्थायी रूप से प्रोत्साहित किया जाए ।[1] क्योंकि इस प्रकार के बसे यूरोपीय भारत में शिक्षा के प्रसार और यूरोपीय कला एवं विज्ञान के ज्ञान के विस्तार में सहायक होगें । "वह यूरोप में अपने मित्रों और संबंधियों के माध्यम से भारत और पश्चिम के मध्य संचार के मार्गो का विस्तार करेगें । ब्रिटेन की जनता और सरकारदोनों को अधिक जानकारी प्राप्त हो सकेगी और सरकार भारतीय मामलों पर वर्तमान की अपेक्षा अधिक योग्यता से कानून बना सकेगीं । ब्रिटिश सरकार को भारत संबंधी जानकारी के लिए एकमात्र ईस्टइडिया कम्पनी के उन अधिकारों पर ही निर्भर/नहीं रहना पड़ेगा जो अपने परिश्रम के परिणाम को पक्षपात की दृष्टि से देखने में कभी नहीं चूकते थे । समृद्ध एवं जागृत भारत जिसमें नागरिक अपने राजनीतिक एवं नागरिक अधिकारों का पूर्ण उपभोग करेंगे।मात्र अपनी रक्षा करने में ही समर्थ नहीं होगे, बल्कि ब्रिटेन के लिए शक्ति का और निकटवर्ती एशियाई देशों के लिए प्रेरणा स्त्रोत सिद्ध होगा । यूरोपीय निवासी सदैव सार्वजनिक भावना तथा मित्र भाव से अपने जन्मभूमि निवासी तथा पड़ोसी के प्रति ऐसे स्कूल और शैक्षिक संस्थाओ की स्थापना करेगें जो पूरे देश में आंग्ल भाषा का प्रचार करेगा और यूरोपीय कला और विज्ञान को बिखरेगा । इसके साथ ही यूरोप के बसे लोग एक उदार सरकार की प्रजा के अधिकारों तथा न्याय प्रशासन की समुचित प्रणाली से सम्यक् अवगत होगें अतः वह भारत सरकार तथा इग्लैंड के विधान मंडल से विधि एवं न्यायपद्धति में बहुत से आवश्यक सुधार करवा लेने में सक्षम होगें, जिनका लाभ निश्चय ही सामान्य रूप से यहाँ के निवासियों को मिलेगा जिससे

---

1. राजा राममोहन राय, रिमार्कस आन सैटिलमेंट इन इंडिया बाए यूरोपियन्स लन्दन, 14 जुलाई सन् 1832.

उनकी स्थिति सुधरेगी। भारत की जनता तथा सरकार पूर्ण रूप से वहाँ की प्रगति के विषय में ज्ञान रखेगें जिसके फलस्वरूप भारतीय विषयों पर विधान के लिए योग्य से योग्य विधायक प्राप्त होगें, जब कि वर्तमान काल में यहाँ के देशवासी ऐसी प्राभाणिक सूचनाओं के लिए कुछ ऐसे व्यक्तियों के मार्गदर्शक पर निर्भर करते हैं, जो मुख्यतः जनसाधारण के कामकाज में सिद्ध होते हैं और इसी के चिंतन में लगे रहते हैं, कि उनका परिश्रम विफल न हो। भारत में शिक्षित व चरित्र और पूंजी वाले बसे यूरोपियों के सहयोग से यहाँ का प्रशासन वाह्य आक्रमणों से रक्षा चाहे वह किसी भी दिशा से पूर्व या पश्चिम से ही, उसे अच्छे ढंग से विफल करने में सफल हो कसता हैं।

दोनों देशों के एक दूसरे से पृथक हो जाने की स्थिति में भी यह सम्मानित निवासी यूरोपियन तथा उनके आने वाली संतान ईसाई धर्म को मानने वाली अंग्रेजी बोलने वाली साथ ही उच्च स्तर के वैज्ञानिक मैकनिकल तथा राजनीतिक ज्ञान रखने वाले उस यूरोप के विशाल राजतंत्र को पूर्व में लाएगें, जैसे अन्य यूरोप के ईसाई धर्म मानने वाले देशों में है। और उन बड़े आबादी वाले स्त्रोतों तथा वैभव जैसा कि संभवतः यूरोप के देशवासियों से सहयोग की अपेक्षा की जाती है, वह एशिया के इर्द–गिर्द रहने वाले जनसमुदाय को कभी न कभी सभ्य तथा सुयोग्य बना देगें।[1]

राजा राम मोहन राय राष्ट्र की स्वाधीनता के लिए सांस्कृतिक पुनरूत्थान और आर्थिक उन्नति के पारस्परिक संबंध को स्पष्टतया समझते थे। इस संबंध में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है, कि यूरोपीय सम्पर्क से भारतवर्ष केवल सांस्कृतिक रूप से ही लाभान्वित नहीं होगें अपितु आर्थिक रूप से लाभान्वित होने में सहायक होगें।[2] किसी भी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए देश की बहुमुखी विकास अर्थात_सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक उत्थान आवश्यक है। इस संबंध में राजा राममोहन राय ने स्पष्टतया कहा कि यहाँ बसे यूरोपीय जमीन जोतने और उत्पादन बढ़ाने के श्रेष्ठ तरीकों का वह ज्ञान प्रदान करेगें जो उनके पास होगा। भारतवासी मात्र इसी से लाभान्वित नहीं होगे वरन् उन सुधारों से भी लाभान्वित होगें जो नए बसे यूरोपीय लोग अपने तकनीकी कलाओं तथा

---

1. राजा राममोहन राय, रिर्माकस आन सैटिलमेंट इन इंडिया बाए यूरोपियंस, 14 जुलाई, 1832
2. बी0एन0दास गुप्ता, राजा राममोहन, राय द लास्ट पेज, पृष्ठ–44

कृषि एवं वाणिज्य की विधियों में करेगें । भारतवासियों के साथ इस प्रकार के मुक्त सम्पर्क से यूरोपीय मस्तिष्क से भारतीयों विषय में पैदा हुयी उन असंख्य गलत धारणाएं जिनके कारण घृणा और विद्वेष की भावनाएं पनपी, वह शीघ्र ही दूर हो सकेगी । देशवासियों को केवल अपने जमींदारो के अत्याचारो एवं उत्पीड़न से ही छुटकारा नहीं मिलेगा वरन् अधिकारियों के अधिकारो के दुरूपयोग की आशंका से भी छुटकारा मिल जाएगा ।[1] इस प्रकार राजा राममोहन राय ने अनेक लाभों को इंगित करके यह स्पष्ट करने का प्रयास किया कि भारत में यूरोपियों के बसे रहने से ऐसा देश लाभान्वित होगा, जिसके पास राष्ट्रीय प्रोन्नति का अन्य कोई मार्ग नहीं है । यदि यूरोपवासिंयों से उनका सम्पर्क नहीं होता अथवा उनके विचारों का आदान–प्रदान नहीं होता तो यह मार्ग अवरूद्ध हो जाता । राजा राममोहन राय ने भारत में यूरोपवासियों के बसने का जो समर्थन किया उसके कारण सामान्य थे कि ऐसा नहीं प्रतीत होता है कि उसका समर्थन उन्होंने अपनी मध्यवर्गीय भावनाओं के कारण किया था ।

पत्रकारिता के क्षेत्र में एक प्रतिभाशाली व्यक्ति श्री जेम्स सिल्क बकिंघम का उदय हुआ यद्यपि इनके विचार भिन्न परन्तु राजा राममोहन राय व बंकिघम पत्रकारों की दुनिया के दो सितारे बन गए । दोनों ने पत्रकारिता के स्तर को ऊँचा उठाने के लिए कार्य किया । बकिंघम ने "कलकत्ता जंनल" का प्रकाशन प्रारम्भ किया तो उन्होंने सम्पादक का यह धर्म बताया कि वह शासकों को कर्तव्य की याद दिलाए उनकी गलतियों के लिए चेतावनी दे और कटु सत्य प्रकाश्ति करने में संकोच नहीं किया जाना चाहिए । कार्यवाहक गर्वनर जनरल जानआदम को यह सहन नहीं हुआ ।

प्रेस की स्वतंत्रता के संघर्ष में राजा राममोहन राय बकिंघम के प्रशंसक थे । राजा राममोहन राय द्वारा संचालित "संवाद कौमुदी" नामक पत्रिका ने पत्रकारिता के क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी । राजा राम मोहन राय ने फारसी भाषा में "मिरातुल अखबार " प्रकाशित किया । उन्होंने

---

1. राजा राममोहन राय, रिर्माकस आन सैटिलमेंट इन इंडिया बाए यूरोंपियन्स, 14 जूलीई, 1832

स्वतंत्र प्रेस का लाभ उठाने के लिए मुस्लिम बुद्धिजीवी वर्ग को भी आमंत्रित किया । चीफ सेक्रेटरी बेले ने "मिरातुल अखवार" पर यह आरोप लगाया कि वह सरकार के विरूद्ध कार्य कर रहा है । अतः जान आदम ने प्रेस की स्वतंत्रता को सीमित करने के उद्देश्य से एक नया अध्यादेश जारी किया । इस अध्यादेश के अन्तर्गत ऐसे नियम लागू कर दिए थे जो समस्त पत्रकारो के लिए असह्य थी । इस नियम के अनुसार कोई भी समाचार पत्र या पत्रिका तब तक प्रकाशित नहीं किया जा सकता था जब तक उसे सरकार द्वारा लाइसेंस प्राप्त नही हो जाता ।[1]

राजा राम मोहन राय ने अपने देश की स्वाधीनता के लिए एक ओर भारत में अंग्रेजी शासन की सराहना की वही दूसरी ओर मिल्टन की भाँति विचारों तथा लिखित अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के सिद्धान्त का समर्थन करते हुए प्रेस की स्वतंन्त्रता को सीमित करने के सरकारी प्रयत्नों के विरूद्ध कड़ा संघर्ष भी किया । राजा राममोहन राय व्यक्तिगत स्वतंत्रता के महान प्रेमी थे । वह जान लाक ग्रोशियस तथा थामसपेन की भाँति प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त के ही आस्था नहीं रखते थे वरन् व्यक्ति के नैतिक अधिकार के भी समर्थक थे । उनके अधिकारों के सिद्धान्त सामान्य सामाजिक कल्याण के अनुरूप था । अतः उन्होंने समाज सुधारों तथा शिक्षा के पुर्नानिर्माण के लिए बिना झिझक राज्य/द्वारा कानून निर्माण का समर्थन किया ।[2]

ईस्ट इंडिया कम्पनी प्रेस की स्वतन्त्रता को नियत्रित करना चाहती थी । समाचार पत्रों से सरकार के समर्थन की आशा की जाती थी । कम्पनी के अधिकारी ऐसा समाचार पत्र प्रकाशित करना चाहते थे जो उनके व्यापारिक हितो, विशेषकर धनी अंग्रेजों के हितों की रक्षा कर सके । अठारहवीं शताब्दी के अंत में प्रेस की स्वतन्त्रता पर अनेक अंकुश लगा लिए इसके पश्चात् उन्नीसवी शताब्दी के प्रथम दशक में लार्ड मिण्टो ने कुछ और प्रतिबन्ध लगा दिए । इस समय तक फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति, अमरीकी स्वतन्त्रता संग्राम तथा यूरोप की उथल-पुथल ने भारत के बुद्धिजीवी वर्ग को

---

1. मिरातुल अखबार, 4 अप्रैल 1823, कलकत्ता, जनरल में अंग्रेजी अनुवाद (10अप्रैल 1823)
2. वी0पी0वर्मा, ब्रह्मसमाज, राजा राममोहन राय, पृष्ठ-16

प्रेरणा प्रदान कर चुके थे । उग्रवाद, स्वतन्त्रता, बन्धुत्व व समानता के सिद्धान्त शिक्षित मध्यम वर्ग आकर्षित कर चुके थे । इसलिए प्रेस की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगने के बाद भी समाचार पत्रों की संख्या बढ़ रही थी ।

इस नियम और अध्यादेश के क्रियान्वयंनसे वे भारतीय नागरिक भी पूर्ण रूप से निराश व कुंठित हो सकते थे, जिन्होंने भारत में ज्ञान के विकास के प्रलोभन से ब्रिटिश नागरिकों के विधि तथा व्यवहार से पूर्णतया अपने को परिचित कर लिया था और स्वजनो में ब्रिटिश सरकार की स्थापना को सुन्दर व्यवस्था कहकर बड़े नैसर्गिक उपायों से निस्पृह और स्वच्छन्द न्याय प्रशासन में स्वयं को ढाल चुके थे ।[1] भारतीय के लिए यह श्रेय की बात थी कि उस समय भारतीय बुद्धिजीवी स्वयं लेखन सामग्री एकत्र करने में प्रयत्नशील थे । कलकत्ता के निवासियों में प्रकाशन की कला अधिक थी और अनेक प्रकाशनों से भारतीयों में स्वतन्त्र रूप से विचार विमर्श और ज्ञान की जिज्ञासा बढ़ रही थी । इग्लैंड में व संसार के अन्य भागों में अंग्रेजी समाचार पत्रों के माध्यम से सूचनाएं मिलती थी । ऐसे अंग्रेजी समाचार पत्रों का प्रभाव उन्हीं तक सीमित था जो अंग्रेजी भाषा को भली-भाँति समझते थे । अंग्रेजी प्रेस से उत्पन्न व्यवधान जो सामाजिक व्यवस्था में शांति भंग करती उसे सहन करना भारतवासियों के लिए अत्यन्त कठिन था ।[2] राजा राममोहन राय ने पूर्ण विश्वास प्रकट करते हुए कहा कि भारत के स्वदेशी भाषाओं के प्रकाशन चाहे वह समाचार पत्र के रूप में हो अथवा अन्य किसी भी तरह के प्रकाशन के रूप में हो, लेकिन किसी भी प्रकाशन का ध्येय देश के प्रशासन के प्रति घृणा या कुभावना को व्यक्त नहीं करेगा।[3] जहाँ तक सरकार परकीचड़ उग्लने वाली प्रतिक्रिया को व्यक्त करने का प्रश्न है इस संबंध में यह कहा जा सकता है कि ऐसे और प्रकाशनों को सरकार किसी भी समय निरस्त कर सकती थी जिसमें किसी भी तरह का अनुपयुक्त व्यवहार की लेश मात्र भी आंशका रहती थी[4]

---

1. सोफिया0डी0कोलेट, लाइफ एंड लेटर्स आफ राजा राममोहन राय, पृष्ठ–7
2. राजा राममोहन राय, हिज लाइफ राइटिंग्स एण्ड स्पीचिस, पृष्ठ–43
3. राजा राममोहन राय, पीटिशन अगेस्ट द प्रेस रेगुलेशन 1823.
4. राजा राममोहन दाय, पीटिशन अगेस्ट द प्रेस रेगुलेशन 1823.

राजा राममोहन राय को यह अपमानपूर्ण अध्यादेश सहन नहीं हुआ अतः उन्होंने इसके विरोध सन् 1823 में प्रेस की स्वतंत्रता के लिए कठोर कदम उठाया उन्होंने द्वारकानाथ ठाकुर, हरचन्द्रघोष, गौरीशंकर बैनर्जी, प्रसन्न कुमार टैगोर तथा चन्द्रकुार टैगोर के साथ मिलकर प्रेस की स्वतंत्रता के लिए सर्वोच्च न्यायालय को एक याचिका[1] भेजी, लेकिन यह याचिका अस्वीकृत कर दी गयी तो राजा राममोहन राय ने सपरिषद राजा (किंग इन कौंसिल) के यहाँ अपील की।

राजा राममोहन राय बौद्धिक स्वतंत्रता को मानव का मूल अधिकार मानते थे उन्होंने कहा कि समाचार पत्र जनमत तैयार करने का सबसे प्रबल साधन है, उसका स्वतंत्र होना अनिवार्य है।"इसके अभाव में भारत में ज्ञान के प्रसार का तथा तज्जन्य उस मानसिक सुधारका पूर्ण अवरोध हो जाएगा जो उस समय पूर्व की परिपुष्ट भाषाओं से इस देश की और भाषाओं में अनुवाद अथवा विदेशी प्रकाशनों से गृहीत साहित्यिक भाषा के ज्ञान के प्रसार से हो रहा है। देश के सभी भागों का ज्ञान प्राप्त करने से वंचित हो जाएगें।[2] तथ्यों के प्रकाशनों के लिए स्वदेशी लेखक अथवा संपादक स्वंय पर सदैव नियंत्रण रखते हैं।

राजा राममोहन राय ने कहा कि जो सरकार अपने औचित्य को जानती है, उसे एक प्रेस के द्वारा सार्वजनिक जाँच से भयभीत नहीं होना चाहिए। प्रत्येक योग्य शासक जिसे यह विश्वास है कि मानव स्वभाव अपूर्ण होता है, जो मनुष्य की कमजोरियों से परिचित है और संसार के चिरन्तर शासक ईश्वर का सम्मान करता हे वह अवश्य इस बात को स्वीकार करताहै कि एक विशाल साम्राज्य के प्रबन्ध में कितनी ही तरह की त्रुटिया हो सकती है, इसलिए वह प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शिकायतें प्रस्तुत करने की सुविधाएं देगा। इस महत्वपूर्ण उद्देश्य की सिद्धी के लिए प्रकाशन की अबाध स्वतन्त्रता ही एक प्रभावशाली अस्त्र है।[3] उन्होंने यह भी विचार दिया कि न्यायप्रिय

---

1. मैमोरियल टू द सुप्रीम कोर्ट इ0व0 राजा राममोहन राय भाग–4, पृष्ठ–
2. राजा राममोहन राय मेमोरियल टू द सुप्रीप कोर्ट (1823)
3. कलिदास नाग एण्ड बर्मन, इग्लिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय, भाग तीन, पृष्ठ–8

शासक के लिए यह बहुत बड़ा दोष है कि यह देशवासियों को सरकार की उन गल्तियों और अन्यायों को शीघ्र बताने से वंचित करती है, जो इस विस्तृत देश के विभिन्न भागों में उसके अधिकारियों द्वारा किए जा सकते है तथा देशवासियों को इंग्लैंड में अपने दयालु सम्राट और परिषद को निर्भीकता और सच्चाई से उनके साम्राज्य के इस सुदूरवर्ती भाग में, उनकी राजभक्त प्रजा की वास्तविक स्थिति को तथा उस व्यवहार को बताने से भी वंचित करती है, जो स्थानीय सरकार द्वारा उनके साथ किया जाता है क्योकि जैसा अब तक होता आ रहा है भविष्य में ऐसी सूचना न तो उन अंग्रेजी समाचार पत्रों के माध्यम से इंग्लैड़ भेजी जा सकती हैं जिनमे देशी प्रकाशनों के अंग्रेजी अनुवाद यहाँ छपते थे और न उन अंग्रेजी प्रकाशन के माध्यम से ही भेजी जा सकती है, जिन्हें देशवासी स्वयं प्रस्तावित नियमावली और अध्यादेश से पहले स्थापित करने का विचार कर रहे थे ।

इन कौसिंल की अपील के राजा राममोहन राय तत्कालीन शासन तन्त्र पर विचार प्रकट करते हुए कि "स्थानीय अधिकारियों ने एकाएक अत्यन्त महत्वपूर्ण विषयों में कानून बनाने की शाक्ति अपने हाथों में ले ली है ऐसा करने में उन्होंने इस बात को लेशमात्र भी नहीं दर्शाया कि हमने कभी उसका दुरूपयोग किया था । इस प्रकार उन्होंने हमारे नागरिक अधिकारों का अतिक्रमण किया हे जो ब्रिटिश शासन के इतिहास में बंगाल की अभूतपूर्व घटना है । उन्होंने ऐसा कानून बनाया है जिसमें या तो वफादार प्रजा के नागरिक अधिकारों और रियायतों को पूर्णतया निषिद्ध कर दिया है या वर्तमान सरकार के प्रति हमारी, वफादारी पर बेबुनियादी सन्देह उत्पन्न करने का प्रयास किया गया है ।

भारत में प्रेस की स्वतन्त्रता को सीमित करने का कोई औचित्य भी नही थी क्यों कि उस समय भारत में ऐसी कोई आपत्तिजनक स्थिति नहीं थी, जिसके कारण नागरिकों के अधिकारों का अतिक्रमण करने की कोशिश की जाती । राजा राममोहन राय ने अपील में कहा कि "शक्तिधारी लोग

---

1. कालिदास नाग एण्ड बर्मन, इंग्लिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय भाग तीन, पृष्ठ–7
2. राजा राममोहन राय, अपील टू द किग इन कौसिल

प्रेस की स्वतंन्त्रता के लिए इसलिए शत्रु होते हैं कि वह उनके आचरण पर अप्रिय अंकुश का काम करता है, उससे होने वाले किसी वास्तविक अनिष्ट का पता नही लगा पाते तो वह संसार को इस भुलावे में डालने का प्रयत्न करते हैं, कि वह किसी संकट के काल में सरकारके विरूद्ध संगठन का साधन बन सकता है। किन्तु यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि असाधारण संकट के समय जिन प्रतिबन्धों को लगाने का अधिकार दिया जा सकता है, उनका शान्तिकाल में प्रयोग कभी भी उचित नहीं ठहराया जा सकता। जैसा कि सर्वविदित है कि स्वतन्त्रता प्रेस ने संसार के किसी भी भाग में कभी क्रान्ति को जन्म नहीं दिया है। इसका कारण यह है कि लोग स्थानीय अधिकारियों के आचरण से उत्पन होने वाले शिकायतों को सर्वोच्च सरकार के सम्मुख प्रस्तुत कर सकते है और उन्हें दूर करवा सकते हैं। अतः क्रान्ति को उभारने वाले असंतोष का आधार ही नही रह जाता। इसके विपरीत जब प्रेस की स्वतंत्रता नहीं रही और फलस्वरूप शिकायतों का न अभिवेदन किया जा सका और न उन्हें दूर करवाया जा सका तो उस समय संसार के सभी भागों में अगणित क्रान्तियां हुयी है और यदि उन्हें संसार की शस्त्र शक्ति से रोक भी दिया गया तो भी जनता सदैव विद्रोह करने के लिए तत्पर बनी रहती।

कनाडा और अमेरिका के पिछले युद्ध में इस तर्क का सही प्रमाण मिलता है।

कनाडा की कालोनी के उद्बुद्ध निवासी जब उन्हें यह प्रतीत हुआ कि उनके अधिकार, सुविधाएं सुरक्षित कर दिए गये है, उनकी शिकायतों पर ध्यान दिया गया हैं, आंग्ल सरकार ने उनकी शिकायतों को दूर कर दिया फिर भी उन्होंने यूनाइटेड स्टेट के ऐसे प्रत्येक प्रयत्नों के साथ सहयोग करने का विरोध किया, जो उनकी राजभक्ति को दूषित कर रहे थे।

राजा राममोहन राय के विचारों का आशय यह था कि जनता जितनी अधिक जागरूक होगी

---

1. एन0एस0बोस, अवेकनिंग इन बंगाल, पृष्ठ– 153–154

और शिक्षित होगी, वह सरकार के विरूद्ध विद्रोह बहुत ही कम करेगी, यह विद्रोह तभी करेगी, जब अधिकारों का हनन किया जाएगा या न्याय नहीं मिलेगा । जब उसके अधिकारों का हनन किया जाएगा तो न्याय नहीं मिलेगा । यह विदोह जनता अपना कर्तव्य समझाकर करेगी ।[1] इतिहास में अनेकों ऐसे उदाहरण प्राप्त होते हैं जहाँ जनता को प्रताड़ित किया गया था, उनका साम्राज्य शीघ्र ही समाप्त हो गया था और ऐसे शासकों को घृणा की दृष्टि से देखा गया ।

मुगल बादशाह अकबर और औरंगजेब के कार्यों पर प्रकाश डाला जाए, तो स्पष्प रूप से यह तथ्य दृष्टिगोचर होता है । दोनों योग्यताओं में समान होते हुए भी उनके कार्यों के विपरीत परिणाम हैं । अकबर ने अपनी जनता को धार्मिक स्वतन्त्रता और नागरिक अधिकार दिए थे, जिसके कारण अकबर ने अपनी शक्ति का दूर तक विस्तार किया था, इसके विपरीत औरंगजेब अपनी धार्मिक असहिष्णु, अपराधों के लिए प्रसिद्ध हुआ, जिसे घृणा की दृष्टि से देखा गया ।

राजा राममोहन राय मिल्टन की भाँति पूर्ण स्वतन्त्रता के पक्षपाती थे । उन्होंने प्रेस की स्वतंत्रता का पूर्ण समर्थन करते हुए कहा कि प्रेस की स्वतन्त्रता का अस्तित्व शासन और शासित दोनों के लिए, स्वतन्त्र होना अनिवार्य है ।[2] उन्होंने कहा कि जिस प्रकार इंग्लैंड की जनता को प्रेस की स्वतन्त्रता का अधिकार प्राप्त है, उसी प्रकार भारत की जनता को भी प्रेस की स्वतन्त्रता का अधिकार प्राप्त होना आवश्यक है। आंग्ल सरकार ने ऐसे नए कानून का निर्माण किया, जिसने भारत में प्रेस की स्वतन्त्रता को विच्छिन्न कर दिया है, जिसका प्रयोग भारतवासी ब्रिटिश आधिपत्य के पूर्व से कर रहे थे। भारत की जनता के पास अन्याय के विरूद्ध आवाज उठाने के लिए कोई अधिकार

---

1. पीटिशन अगेंस्ट द प्रेस रेगुलेशन, अपील टू किंग इन कौंसिल कलकत्ता 1823
कालिदास नाग एण्ड वर्मन, द इंग्लिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय, भाग चतुर्थ, पृष्ठ–23

2. सोफिया डी0 कोलेट, द लाइफ एण्ड लेटर्स आफ राजा राममोहन राय पृष्ठ–446

नहीं है, ऐसे अधिकार से वंचित हो गए हैं, जो जनता के अस्तित्व के लिए आवश्यक है, जिस अधिकार से अन्य देश के लोग अपने अस्तित्व की रक्षा करते हैं ।[1]

ऐसे निंद्रात्मक प्रकाशनों के लिए, जिससे समाज की शांति भंग होने की संभावना हो, इसके लिए प्रेस की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाना न्यायोचित नहीं है, क्योंकि आंग्ल विधायकों ने पूर्व से ही इस प्रकार के निदांत्मक प्रकाशनों के अपराधों को दंडित करने के लिए विधान की व्यवस्था कर चुके हैं, और भारत में ऐसा कोई प्रकाशन नहीं हुआ है, जिसके कारण उनकी प्रेस की स्वतन्त्रता को प्रतिबंधित किया जाए ।[2] बोर्ड आफ डायरेक्टर्स पर भी कोई छींटाकशी नहीं की है, यहाँ तो उसी तरह का प्रकाशन होता हे, जैसा कि विदेशों में, पुस्तकों व लेखकों द्वारा किया जाता है । यदि ऐसे प्रकाशन भी होते हैं, जिसमें सरकार पर छींटाकशी या उनकी मानहानि परिलक्षित होती हो, तो उसे विधान द्वारा दंडित किया जा सकता है । उस पर देश में विप्लव पैदा करने का विरोधाभास लगाकर उसे दंडित किया जा सकता है न कि सरकार इसके लिए कोई नया कानून बनाए आंग्ल अधिकारियों के पास ऐसी शक्ति है, जिससे वह देश में विद्रोह करने वालों को दंडित कर सकते हैं ।[3] ब्रिटिश राष्ट्र की यह विशेषता रही है कि उसने कभी भी स्पष्ट बोलने के सिद्धान्त पर प्रतिबन्ध नहीं लगाया है । यदि इस देश की विंशेष परिस्थितियों से निकाले गए इन निष्कर्षों से यह तर्क उपस्थित किया जाए कि किसी उपनिवेश दूरवर्ती अधीन प्रदेश को कभी प्रेस की स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती है जिनका उपयोग वह अब तक कर रहे थे । इस संबंध में यही कहा जा सकता है कि उन्हें निरन्तर उत्पीड़न एवं अपमान सहन करने का ऐसा श्राप दिया गया है, जिससे मुक्ति होने की वह तब तक आशा नहीं कर सकते, जब तक यहाँ ब्रिटिश शासन विद्यमान है । यदि यह भी मान लिया जाए कि ब्रिटिश राष्ट्र मात्र स्वार्थपूर्ण नीति से प्रेरित होकर भारत को एकमात्र बहुमूल्य सम्पत्ति समझता है तथा उस पर अधिकार जमाए रखने एवं उससे पूरा लाभ उठाने के सर्वोत्तम

---

1. राजा राममोहन राय, अपील टू किंग इन कौंसिल (1823)
2. वही
3. वही

साधनों के अतिरिक्त और किसी की परवाह नही करता, तब भी उसके नौकरों द्वारा उसकी भली–भाँति देखभाल होनी आवश्यक है ।[1]

यदि ब्रिटिश राष्ट्र ने उपनिवेश को अपने अधीन बनाए रखने के लिए अज्ञान के अँधेरे में रखने के लिए प्रकाशन पर रोक लगाने का प्रयास किया हे, तो यही काफी नहीं है, बल्कि सत्ता को बनाए रखने के लिए उन सभी प्रकार के प्रकाशंन, जिससे ज्ञान का विकास होता है, उन्हें रोका जाए और ऐसे साधन अपनाए जाएं जिससे ज्ञान व शिक्षा का विकास अवरूद्ध हो जाए । इसके दूरगामी परिणाम निकलेगें । इससे वही भयभीत होंगे, जो अपनी सत्ता को बनाए रखने के लिए चिन्तित हैं, क्योकि यह सर्वविदित हे, जो कम से कम इस देश से परिचित है कि यद्यपि सामयिक तथा अन्य प्रकाशनों द्वारा सभी प्रयत्न किए गए, किन्तु भारतीय निवासियों की वर्तमान आदतों और विचारों में पर्याप्त परिवर्तन लाने के लिए लम्बे समय की आवश्यकता पड़ती है, क्योंकि वह अपने प्रचलित प्रथाओं के प्रति दृढ़ संकल्प है । इस प्रकार के तुच्छ विचार रखने वाले अंग्रेजों का प्राचीन रोमन, जिससे अपने साम्राज्य के साथ अपने ज्ञान और सभ्यता का भी विस्तार किया़था इसकी तुलना में ब्रिटिश सरकार अधःपतन व अज्ञान ब्रिटिश शक्ति के प्रचार में प्रश्न चिन्ह लग जाएगा ।[2]

राजा राममोहन राय ने इस तथ्य का तर्क भी दिया जहाँ तक न्यायधीशों के चरित्र एवं बदनाम होने की आशंका है, इस तथ्य के संबंध मे भी यही कहा जा सकता है कि सुप्रीम कोर्ट के न्यायधीश कलकत्ते में अथवा कोई भी आंग्ल व्यवस्था किसी और प्रेसीडेन्सी में ऐसे अधिकारों का उपभोग करते हैं अर्थात् उनमें इतनी क्षमता है, कि वह अपने चरित्र अथवा क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत अपने व्यवहारों को बदनामी व गल्तियों से बचा सकते हैं । इसलिए उन्हें अन्य किसी प्रकार की सुरक्षा की आवश्यकता नहीं है । इस कारण से प्रेस की स्वतन्त्रता को सीमित करने का उद्देश्य यही समझा जा सकता है कि उन दलीलों को प्रकाशित नहीं होने दिया जाए, जो न्यायविद् जनता

---

1. राजा राममोहन राय, अपील टू किंग इन कौसिल (1823)
2. कालिदास नाग एंड बर्मन द्वारा सम्पादित, इ0 वर्क्स आफ राजा राममोहन राय पृष्ठ–23

द्वारा अंग्रेजी न्यायलयों में की जाती है ।[1] उन्होंने पुनः कहा कि अनौपचारिक प्रतिबंध को जारी करना सरकार की उन नीतियों की सहचारी जो अधिक महत्वपूर्ण है । ऐसे प्रतिबन्ध जो अनावश्यक है, क्योकि वह अपराध जिनको प्रतिबन्धित किया जा रहा है, काल्पनिक और असंभव है, जिनका अस्तित्व देश के विधान में है । सरकार या तो उनका प्रयोग नहीं करना चाहती या प्रचलित न्याय की धारा को परिवर्तित कर ज्यूही द्वारा जो प्रक्रिया अपनायी जाती है, उन अधिकारों को तोड़कर कानून को अपने हाथ में लेकर विधायिका और न्यायपालिका की शक्ति को एक करना चाहते हैं । जो कि प्रत्येक जनसाधारण की स्वतन्त्रता को विनष्ट करने वाले हैं ।[2]

अपील के अंत में प्रार्थना भरे शब्दों में राजा राममोहन राय ने कहा कि भारत देश के निवासी, जो हमारे और आपके मध्य बंधन के सूत्र है उनकी प्रेस की स्वतन्त्रता को बंधित करके उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए । यह उचित नहीं है कि ऐसे राष्ट्र के द्वारा भारतीयों को इस अधिकार से वंचित कर दिया जाए जिसे (यूरोप को) स्वतन्त्रता प्राप्त कराने वाली उपाधि प्राप्त है, जो दूसरों की स्वतन्त्रता का रक्षक है ।[3]

यद्यपि सम्राट की सरकार ने इस अपील को स्वीकार नहीं किया, लेकिन राजा राममोहन राय द्वारा की गई उपर्युक्त दोनों अपीलों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है । भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन तथा भारतीय जनता में राष्ट्रीय चेतना जाग्रत करने में इस अपील का महत्वपूर्ण स्थान रहा है । अंततः 1835 में गर्वनर जनरल चार्ल्स मेटफाक को प्रेस की स्वतत्रता को मान्यता देनी पड़ी ।

राजा राममोहन राय ने प्रेस की स्वतन्त्रता के लिए ही संघर्ष नहीं किया, वरन् उन्होंने भारत में न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के लिए भी संघर्ष किया ।[4] उन्होंने नियंत्रण परिषद (बोर्ड

---

1. पिटिशन अगेंस्ट द प्रेस रेगुलेशन, अपील टू द किंग इन कौसिल (1823)
2. सोकिया डी0 कोलेट, लाइफ एंड लेटर्स आफ राजा राममोहन राय, पृष्ठ–23
3. अपील टू किंग इन कौसिल (1823)
4. बी0एन0 दास गुप्ता, राजा राममोहन राय द लास्ट फ़ेज पृष्ठ–131

आफ कन्ट्रोल) की प्रर्थना पर लोकसभा की प्रवर समिति के समक्ष भारत की न्यायिक तथा राजस्व प्रणालियों के कार्यसंचालन, देशवासियों के सामान्य चरित्र तथा दशा और भारत से संबंधित अन्य महत्वपूर्ण विषयों पर अपना प्रसिद्ध साक्ष्य प्रस्तुत किया । इसे राजा राममोहन राय ने 'एन एंक्सपोजिशन आफ रेवन्यू एण्ड जुडिशियल एडमिनिस्ट्रेशन आफ इन्डिया' (भारत की राजस्व तथा न्यायिक प्रणालियों की एक व्याख्या) शीर्षक के अनतर्गत प्रकाशित भी करवाया । इसमें भारत के प्रशासन सें संबंधित कुछ अत्यधिक महत्वपूर्ण समस्याओं का उल्लेख है ।[1] जैसे – न्यायालयों का सुधार, देश के न्यायालयों का यूरोपीय लोगों पर क्षेत्राधिकार जूरी प्रथा, कार्यकारी तथा न्यायिक पदों का प्रथक्करण, विधि का संहिताकरण, विधि निर्माण मे जनता से परामर्श करना, देशी लोकसेना की स्थापना, देशवासियों को अधिक नौकरियाँ देना, असैनिक अधिकारियों की आयु तथा शिक्षा, रैयत की दशा का सुधार तथा उसकी रक्षा के लिए कानूनों का निर्माण तथा स्थायी भूमि प्रबन्ध आदि विषंयो पर अपने विचार प्रकट किए हैं ।

राजा राममोहन राय ब्रिटेन की लोकसभा की प्रवर समिति के सम्मुख उस समय उपस्थित हुए जब कि 1833 के अधिकार–पत्र अधिनियम (चार्टरएक्ट) पर विवाद हो रहा था । प्रवर समिति के सम्मुख अपने साक्ष्य में भारत की न्यायिक व्यवस्था के संबंध में ध्यान आकृष्ट करते हुए राजा राममोहन राय ने कहा कि सन् 1793 में लार्ड कानर्वालिस द्वारा प्रचलित न्यायप्रणाली देश की परिस्थितियों तथा शासकीय पद्धति के अनुरूप थी लेकिन अब यह प्रणाली ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार को देखते हुए उपयुक्त नहीं है ।[2]

इसमें परिवर्तन की आवश्यकता है । ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार के अनुरूप न्यायालय की संख्या कम हे, जिससे जनता को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है । अधिकांश निर्धन जनता न्यायलयों में न्यायप्राप्त करने में असमर्थ हो जाती है । राजा राममोहन राय ने शुद्ध न्यायिक

---

1. कालिदास नाग एंड बर्मन द इंग्लिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय भाग 3 सितम्बर 19, 1831

2. वही

न्यायियिक प्रणाली में अवरोध उत्पन्न होने के कई कारण बताए ।[1] शासक और शासितों के मध्य एक भाषा नहीं हैं, भाषा की विभिन्नता के कारण और न्यायिक तरीकों की विभिन्नता के कारण न्यायधीश न्यायाल में आए हुए लोगों की वस्तुस्थिति तथा उनकी वैधता को समझने मे कठिनाई का अनुभव करते हैं । साक्ष्यों के सही मूल्यांकन अथवा उसके सही तत्व को समझने में भूल–चूक कर देते हैं । स्वदेशी अधिवक्ताओं और न्यायधीशो के मध्य समसंबंध नही है । जो आंग्ल अधिवक्ताओं और न्यायपीठ के न्यायधीशों में है । कार्यप्रणाली ऐसी अपनायी जाती रही है जिसका जनसाधारण में बहुत कम ज्ञान हो पाता है, परणिामस्वरूप न्यायलयों पर जनमत का कोई प्रभाव अथवा अंकुश नहीं रह पाता है । न्यायलयों की पद्धति पर विचार करने वाला कोई माध्यम नहीं है जिससे यह ज्ञात हो सके कि न्यायधीश न्यायलयों में केवल एक दिन काम करते हैं या सप्ताह में एक दिन या छः घन्टे या एक घन्टे काम करते हैं, और किस सिद्धान्त से अपनी न्याय प्रणाली को प्रतिपादित करते हैं और वाद के कारण का स्वयं निर्णय लेते हैं । साथ ही यह भी ज्ञात नहीं हो पाता है कि न्यायिक कार्य को वह अधिकारियों पर छोड़ देते हैं ।[2] इस दोष को इंगित करते हुए राजा राममोहन राय ने न्यायप्रणाली के प्रकाशन की ओर से ध्यान आकर्षित करने का प्रयास किया है ।

न्यायलयों में दिलायी जाने वाली शपथ में पवित्रता का वह महत्व नहीं रह गया है, जैसा कि शपथ के मूल प्रचलन में था । इसका मूल कारण है कि न्यायधीश विदेशी भाषा जानने के कारण इसके महत्व को नहीं समझ पाते है, उनमें कथित तथ्यों का ज्ञान नहीं हो पाता है । अंशतः साक्ष्य बहुधा न्यायधीश स्वयं नही लेते बल्कि उनके स्वदेशी अधिकारी जिन्हें दोनो पक्ष पहले से ही मिल लेते थे, ताकि वह उनके साक्ष्य की सही जानकारी प्रकाश में न ले आएं, फलस्वरूप विभिन्न पक्षों के वाद मे कथित शपथ के वक्तव्यों में झूठ का समावेश होता गया और दोनों के इस होड़ में ऐसे साक्ष्यों के द्वारा सही तथ्यों का ज्ञान प्राप्त होना असंभव हो गया है ।

न्यायपद्धति में झूठ के समावेश से कूटनीति चाल उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी, जिसके कारण न्याय प्रशासन में दुरूहता और चिन्ताजनक स्थितियाँ उत्पन्न हो रही हैं । ऐसे अध्यादेश

---

1. जुडीशियल सिस्टम आफ इंडिया के संबंध में पूछे गए प्रश्नों का राजा राममोहन राय द्वारा दिया गया उत्तर, 19 सितम्बर सन् 1831 लंदन प्रश्न न0 7
2. वी0एन0दास गुप्ता, द लाइफ एण्ड टाइम्स आफ राजा राममोहन राय पृष्ठ–132

जिनका स्वरूप विधि संहिता के अनुरूप था, उनका उचित प्रकाशन जनता के मध्य नहीं किया जाता, जिसके कारण वह बहुधा इससे अनभिज्ञ रह गए है । इस प्रकार न्याय पद्धति की प्रणाली में धोखा धड़ी की प्रक्रिया इस सीमा तक प्रवेश कर गयी कि न्याय प्रशासन दुरूह और भ्रमात्मक हो गया है ।[1]

राजा राममोहन राय ने भारत की प्रचलित न्याय प्रशासन में उत्पन्न होने वाले दोषो की और ही ध्यान आकर्षित नहीं किया, वरन् उन्होंने उपर्युक्त अवरोधों को रोकने हेतु कुछ सुझाव भी व्यक्त किए है ।[2] उन्होने कहा कि न्याय–प्रणाली में सुधार लाने के लिए आंग्ल अधिकारियों व भारतीय अधिकारियों के मध्य पूर्ण सहयोग का होना आवश्यक है, क्यों कि आंग्ल न्यायधीश भारतवर्ष में प्रचलित रीति–रिवाजों, व्यवहारों व स्थानीय भाषाओं को जानने में असमर्थ होते थे, जिसके कारण आंग्ल न्यायधीश अपने न्यायिक कर्तव्यों का पालन सतोष जनक रीति से करने में असमर्थ होते हैं और वह भारतीय जिन्हें इन सबका ज्ञान है, वह पराधीनता व दुर्व्यविहार के आदी हैं फलस्वरूप उनमें स्वाभिमान को जागृत करने की समर्थता नहीं है, इसके लिए आंग्ल न्यायधीशों का सहयोग आवश्यक है । इस सबके लिए यही उचित है कि भारतीय तथा आंग्ल अधिकारियों के ज्ञान को तथा उनके मापदण्ड का सुरक्षित रखने के लिए आंग्लअधिकारियों के ज्ञान को सुदृढ़ किया जाए ।

यद्यपि इस सिद्धान्त का क्रियान्वयन सन् 1793 से सर्किट न्यायलयों के संविधान में लगभग हो रहा था, लेकिन राजा राममोहन राय ने इस सिद्धान्त को अधूरा बताया ।[3] इसमें भारतीय और अंग्रेज न्यायधीश के सहयोग से वादों के निर्णय अवश्य होने लगे थे, लेकिन राजा राममोहन राय ने इस पर टिप्पणी करते हुए अपने सुझाव दिए कि ऐसा प्रबन्ध सरकार की मंशा के लिए पूर्ण अवश्य

---

1. वी0एन0दास गुप्ता, द लाइफ एण्ड टाइम्स आफ राजा राममोहन राय पृष्ठ–133
2. एन0एक्सपोजिशन आफ रेवन्यू एण्ड जुडीशियल एडमिनिस्ट्रेशन आफ इन्डिया . सम्पादित–इग्लिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय भाग–तृतीय, पृष्ठ–17
3. वही पृष्ठ–17

है, लेकिन यह सभी वादों के निर्णय करने में सक्षम नहीं है, इसके लिए यह उचित है कि न्याय सहयोगियों को दिवानी के न्यायलयों में भी सरकार द्वारा पूर्व जीवन के लिए नियुक्त कर दिया जाए इनकी नियुक्ति सदर दिवानी अदालत के अनुमोदन से बहुत ही सावधानी से की जानी चाहिए । उन्हें तीन सौ रूपए से चार सौ रूपए तक के प्रतिमाह के वेतन पर नियुक्तकियाजाए । वह अपने निर्णय के लिए न्यायधीश की भाँति ही सरकार तथा जनता के प्रति उत्तरदायी हो । आंग्ल न्यायधीशों को निर्णय लेने में मतभेद हो जाने पर विशेषाधिकार अवश्य मिले, लेकिन भारतीय न्याय सहयेगियों को भी भिन्न निर्णय लेने का अधिकार मिलना चाहिए । इससे न्यायप्रणाली में घूसखोरी और विलम्बता आदि का निराकरण होगा ।

न्यायपद्धति में विनियमों के प्रकाशन की कमी के कारण जो दोष उत्पन्न होते थे, उन्हें दूर करने के लिए राजा राममोहन राय ने सुझाव दिए कि विनियम की दो या तीन प्रतियाँ मुख्य भारतीय भाषाओं में प्रांत के प्रमुख स्थानों पर या प्रसिद्ध शहर के प्रमुख स्थानों पर या कम वेतन प्राप्त करने वाले अधिकारी के अधिकार में रख दिए जाए और सभी लोगों को स्वतन्त्र रूप से पढ़ने–लिखने और आराम से सूर्योदय से सूर्यास्त तक नकल करने की स्वतनत्रता दे दनी चाहिए । ऐसा करने से प्रत्येक स्थान पर दो पौंड प्रतिमाह से अधिक व्यय नहीं होगा और बहुसंख्या लाभ होगें ।

राजा राममोहन राय ने न्यायप्रणाली मे सुधार हेतु यहं भी सुझाव रखा कि न्यायलय जनसमूह से अधिक दूर नहीं होने चाहिए । इससे उत्पन्न होने वाली कठिनाई बताते हुए कहा कि सदर अमीन या उनसे उच्च कमिश्नर पॉच सौ रूपएं तक के वादों के निस्तारण के लिए चाहे वह चल सम्पति से या अचल सम्पति से संबंधित हो, वे उसी स्थान पर बैठते है, जहॉं जिलाधीश बैठता है, और सर्व प्रथम वाद जज के समक्ष उपस्थित किया जाता है, और वह स्वेच्छा से एक कमिश्नर के समक्ष भेज देता है, इससे सत्तर या अस्सी मील की दूरी से जो वादी न्याय हेतु उनके अधिकार क्षेत्र के

---

1. एन0एक्सपोजिशन आफ रेवन्यू एण्ड जुडीशियन एड मिनिस्ट्रेशन आफ इण्डिया सम्पादित– नाग एण्ड वर्मन, पृष्इ–18

अन्दर से आते उन्हें कोई राहत नहीं मिलती। इससे यह आवश्यक है कि सदर अमीन यहाँ से अनुपात की दूरी पर जिले के विभिन्न भागों में बैठा करें, जिससे वादी न्याय पाने के लिए वाद उपस्थित कर सकें और जिला न्यायधीश का एक सहायक केन्द्र में रहा करें। यह सर्किट के न्यायधीश की हैसियत से दंडाधिकारियों पर पर नियंत्रण रखते है, और ऐसे कठोर अपराधों का निर्णय करते है, जिनमें जीवन–मरण के प्रश्न नीहित होते हैं। रेवन्यू कमिश्नर को खंड–न्यायधीश के अधिकार के समन्वय से दोष उत्पन्न हो सकते हैं, क्योकि न्याय खंड के न्यायधीश उच्चस्तरीय कर्तव्यों का पालन करते हैं, जिसमें आजीवन तथा मृत्युदंड के प्रश्न होते है, अथवा जायदाद के विनियनीकरण का प्रश्न होता है। इसके अतिरिक्त उनमें शान्ति–व्यवस्था सुदूरजन पदों तक रखने के अधिकार होते हैं। यदि उनका ध्यान राजनैतिक व्यापारिक अथवा राजस्व के कार्यो मे आबंटित कर दिया जाय तो यह मानवीय स्तर पर असंभव है, कि वह ।शासन अथवा जनता के अविच्छित फल को पूर्ण करने में पूर्णरूपेण सक्षम होगें।

पहले प्रांतीय न्यायलयों के न्यायधीश जो अपील सुनते थे, वह खंडपीठ न्यायालय का भी काम देखते थे और उनमें से एक या दो मुख्य न्यायालय में रहते थे और जो आवश्यक व्यावहारिक कार्य होते थे, उन्हें प्रतिदिन निबटाते थे, किन्तु वर्तमान पद्धति में रेवन्यू कमिश्नर खंडपीठ का भी जज होता है। जब वह सर्किट में जाता है तो मालगुजारी से संबंधीत सभी सन्दर्भ, जो उसके अधिकार क्षेत्र आते हैं, लम्बे समय तक निबटारे के लिए निलम्बित हो जाते है और बहुत से आवश्यक रेवन्यू कार्य की ओर बिल्कुल भी ध्यान नही जाता है, फलस्वरूप जनहित के कार्य मे अवरोध होता है। रेवन्यू व न्याय विभागों का प्रथक्करण ब्रिटिश प्रशासन की पद्धति के अनुकूल था, जिसे लार्ड कार्नवालिस ने यहाँ भी प्रारम्भ किया था इस सिद्धान्त के अनुसार वह नौजवान जो रेवन्यू विभाग में नियुक्ति किए गए उन्हें क्रमशः उसी विभाग में प्रोन्नति के अवसर मिलते रहे और जो न्याय विभाग में नियुक्ति थे, उनकी प्रोन्नति भी उसी विभाग में विभिन्न श्रेणी में होती थी।

---

1. उपरोक्त पृष्ठ–19

न्यायाधिकारों को लोभन की दृष्टि से बचाने के लिए उनके वेतन को कम नहीं करना चाहिए । उन्हें कुछ अतिरिक्त सहायता के रूप में भी मिलना चाहिए । उन्होने कहा सहायक न्यायाधीश सदर अमीन के निर्णय के विरूद्ध अपील भी भारतीय असेसर की सहायता से, जिन्हें सदर दिवानी अदालत नियुक्त करे, कम से कम दौ सौ रूपए से अधिक प्रतिमाह से करें जो जिला न्यायधीशों के असेसर के वेतन से कम होगा ।[1] प्रशासन के उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्वदेशी लोगों को अधिकार और विश्वास के स्थान पर रखा जाना चाहिए । यूरोपीय अधिकारी और स्वदेशी अधिकारी दोनों को सहयोग से कार्य करना चाहिए । ऐसा करने से यहाँ के मूल निवासियों में सुधार और उनकी महत्वाकांक्षा को प्रोत्साहित करके प्रशासन का विश्वासपात्र बना देगा और तब सैद्धान्तिक रूप से सिद्ध हो जाएगा कि स्वदेश के लोग भी सुयोग्य और प्रतिष्ठित हैं । ये उच्च स्थानों में विश्वास और आत्मसम्मान के साथ राजकीय कार्य में साथ-साथ अथवा आंग्ल अधिकारियों से प्रथक भी कार्य कर सकेगें ।[2]

प्रचलित न्याय पद्धति में ग्रामीण जनता को कोई राहत नहीं मिलती थी, गाँव की जनता पुलिस अधिकारी के दुर्व्यवहार का शिकार बन रही थी । अतः उनके कष्ट निवारण के लिए कुछ सुविधाएँ मिलनी आवश्यक थी । इसके लिए राजा राममोहन राय ने सुझाव दिया कि "सहायक न्यायधीश" यद्यपि पुलिस अधिकारियों के कार्य और उनके अधिकार क्षेत्र में हस्तक्षेप करने के अधिकारी नहीं है, किन्तु यदि पुलिस अधिकारियों के कार्य और उनके अधिकार क्षेत्र में हस्तक्षेप करने के अधिकारी नही है, किन्तु यदि पुलिस अधिकारी अपने अधिकारों का दुरूपयोग करते हैं तो उन्हें पुलिस अधिकारियों के विरूद्ध लिखित कार्यवाही करने का अधिकार मिलना चाहिए । यह लिखित शिकायत उन्हें जिले के सबसे बड़े मजिस्ट्रेट के पास जांच के लिए प्रस्तुत कर देनी चाहिए ।[3]

न्यायिक व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के लिए राजा राममोहन राय ने यह विचार व्यक्त किया

---

1. बी0एन0दास गुप्ता, राममोहन आन जुडीशियल सिस्टम आफ इन्डिया
   19 सित्मबर 1831 लन्दन प्रश्न 78 ला उत्तर ।
2. कालिदास नाग एण्ड बर्मन द्वारा सम्पादित-इं0 वर्क्स आफ राजा राममोहन राय भाग तीन
   पृष्ठ-37
3. वही पृष्ठ-21

कि दीवानी तथा फौजदारी कानूनों को इस प्रकार संहिताबद्ध कर दिया जाए कि मुसलमानों तथा ईसाईयों को किसी प्रामाणिक ग्रन्थ का संदर्भ देकर उनकी व्याया करने की आवश्यकता न रह जाए। उन्होंने कहा कि वर्तमान फौजदारी के कानून प्रायः भारतीय निवासियों के मूल सिद्धान्त पर आधारित है। यह तब तक उचित है, जब तक शासन द्वारा एक सुदृढ़ संहिता की व्यवस्था न कर दी जाए। यह भी सुझाव दिया कि भारतवर्ष में फौजदारी के कानून की संहिता उन सार्वभौम सिद्धान्तों पर आधारित होनी चाहिए, जो सिद्धान्त भारतीय निवासियों को मान्य हो। यह सिद्धान्त बहुत ही साधारण होना चाहिए, इसकी परिभाषा सूक्ष्म होनी चाहिए जिससे फौजदारी न्याय का आदर्श रूप स्थापित हो सके। किसी अन्य प्रामाणिक ग्रन्थ के सन्दर्भ देकर उनकी व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं रह जाए। ऐसी संहिता बनाने में एक या दो वर्षं का समय लग जाएगा। यह उन व्यक्तियों द्वारा बनायी जानी चाहिए जो मुसलमान विधि, हिन्दू विधि तथा अंग्रेजी कानून के सिद्धान्तों से पूर्ण रूपेण परिचित हों। इस प्रकार की विधि संहिता के बन जाने से न्यायधीश थोड़े ही समय में इसके लगातार अध्ययन से न्याय प्रशासन में अपने न्यायिक कर्तव्य को बिना न्यायधीश के सहायक के सहयोग से स्वतन्त्रत रूप से करने में सक्षम हो जाऐगें।[1]

राजा राममोहन राय ने न्याय--व्यवस्था के संबंध में शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त पर आवश्यक बल दिया।[2] इनके विचारानुसार भारतवर्ष में न्यायिक शासन प्रणाली को शाश्वत रूप से आधारित करने के लिए शासन के न्यायांग एवं कार्यागों को पृथक करना चाहिए। बिना किसी व्यय के विभाग बनाए जा सकते है और विभागों के अधिकारियों के अधिकारों को पृथक–पृथक रखना चाहिए। इस प्रबंध से जो व्यक्ति एक प्रकार का कार्य करेगा, वह उसे बहुत ही साधारण और सहज रूप में करेगा, और उसका अधिकार क्षेत्र बढ़ जाएगा लेकिन व्यय वही रहेगा। वाद का निर्णय लेने में भी विलम्ब नहीं होगा। लगभग दो वर्ष से स्वायत्त शासन ने सर्किट न्यायधिपति के अधिकार

---

1. 19 सितम्बर, 1831 में लंदन में प्रवर समिति के समक्ष "जुडीशियल सिस्टम आफ इण्डिया" पर राजा राममोहन राय के उत्तर
   सम्पादित–नाग एण्ड बर्मन, "इंग्लिश वर्क्सआफ राजा राममाहन राय, भाग–3, पृष्ठ–32–33
2. बी0एन0दास गुप्ता, राजा राममोहन राय द लास्ट फ़ेज, पृष्ठ -136

रेवन्यू कमिश्नर को सौंप दिए गए थे ।[1] राजा राममोहन राय ने कहा कि ऐसे दो अधिकारों का समन्वय होना असंभव है इससे अनेक हानियाँ हो सकती हैं । यद्यपि मुस्लिम सरकार न्याय प्रशासन के प्रति उदासीन थी, लेकिन वह भी इससे उत्पन्न होने वाली हानियों को समझती थी । उन्होंने कोई भी न्यायधीश या न्यायधिकारी जिसे मृत्युदण्ड आदि फौजदारी के वादों का निबटाने का अधिकार होता था, उन्हें कभी रेवन्यू नहीं बनाया था ।

रेवन्यू कमिश्नर और खंड न्यायधिपति इन दोनो विभागों का समन्वय पृथक-पृथक है । रेवन्यू कमिश्नर साधारणतया रेवन्यू कलेक्टर पर नियत्रंण रखते है और उनके कार्यो की देख-रेख करते है, उन अधिकारियों के साथ जो कलकत्ता बोर्ड आफ रेवन्यू में समाहित है, जिसे पहले राजस्व परिषद कहते थे और ऊपर के प्रान्तों में बोर्ड आफ कमिश्नर्स होते हैं । अब बोर्ड आफ कलकत्ता कमिश्नर के अपील सुनने का अधिकार रखती है, जिसको अब बहुधा सर्वोच्च परिष्द के नाम से जाना जाता है, अब एक की अपील दूसरे को भी जाती है जिससे अपीलों का ढेर लग गया है और कार्यभार दुगना और तिगुना बढ़ गया है ।

इस पद्धति में सरकार का व्यय बहुत अधिक नहीं होगा और सब पर समान देख-रेख रहेगी । जनपद के अधिक से अधिक लोगों को उनके द्वार पर ही न्याय प्राप्त हो जाएगा, साथ ही धोखाधड़ी जैसे अपराध पर भी अवरोध लग जाएगा ।

किसानों की दशा में सुधार करने के उद्देश्य से राजा राममोहन राय ने सन् 1831 में प्रवर समिति के समक्ष किसानों के साथ न्याय किए जाने की मांग की और उन्होंने स्वयं इसके विषय में सुझाव दिए ।[3] इस संबंध में राजा राममोहन राय के विचार प्रगतिशील हैं । उन्होंने कहा कि किसानों को जमींदारों, बिचौलिए या सरकारी अधिकारियों के अत्याचार से बचाने के लिए लगान में

---

1. कालिदास एण्ड बर्मन , द इंग्लिश आफ राजा राममोहन राय, 24 पृष्ठ-25
2. उपरोक्त पृष्ठ-25
3. रेवन्यू सिस्टम आफ इन्डिया पर राममोहन राय के उत्तर, अगस्त18, 1831, (इग्लैड)

वृद्धि करने में ही रोक नहींलगानी चाहिए, अपितु उसे घटाया जाए, जिसके पुलस्वरूप राजस्व में जो कमी होगी, वह विलास–सामग्री पर कर लगाकर तथा लम्बे–लम्बे वेतन वाले यूरोपीयों के स्थान पर भारतीयों को कलेक्टर नियुक्ति करके पूरी की जा सकती हैं । किसी बहाने कोई बेदखली या लगान बृद्धि नहीं होगी, इस प्रकार की सार्जजनिक सूचनाएं जनता की प्रचलित भाषा में लगा देनी चाहिए और पुलिस अधिकारियों से यह कह देना चाहिए कि वह इसकी देखरेख करते रहे कि ये सूचनाएं कम से कम वर्ष भर तक लगी रहे । जज या मजिस्ट्रेट को सप्ताह में एक दिन ऐसे विषयों को अवश्य सून्नना चाहिए ।[1] प्रत्येक जिलो में मजिस्ट्रेट द्वारा वर्ष में एक बार तथ्य की जानकारी हेतु करना आवश्यक है कि गरीब किसानों की रक्षा के लिए उक्त नियमों और कानूनों का ठीक ढंग से क्रियान्वयन हो रहा है या नहीं । कलैक्टर द्वारा सभी किसानों का एक सामान्य रजिस्टर तैयार किया जाना चाहिए, जिसमें उनके नाम, जमीन का विवरण और प्रस्तावित व्यवस्था के अनुसार स्थायी रूप से निश्चित हो, उनके लगान अलग–अलग दर्ज होने चाहिए ।

राजा राममोहन राय ने कहा कि प्रचलित नियम सरकार को राजस्व की प्राप्ति कराने के लिए पूर्णतया उपर्युक्त है परन्तु जनता को राजस्व अधिकारियों की अन्यायपूर्ण छीना–झपटी से संरक्षण प्रदान करने के लिए कलेक्टरों को किसी भी अवस्था में न्यायिक अधिकार नही दिए जाने चाहिए । राजस्व अधिकारियों के विरूद्ध प्रत्येक आरोप की जांच उन न्यायालयों द्वारा जिनके न्याय क्षेत्र में वे है, न्यायालय की फाईल में दर्ज अभियोगो की संख्या की उपेक्षा करके शीघ्र की जानी चाहिए ।[2]

राजा राममोहन राय ने अंग्रेजो द्वारा अपनायी गयी ज्यूरी प्रथा के संबंध में कहा कि आधुनिक काल की ज्यूरी प्रथा के अंकुर प्राचीन भारत की न्याय पंचायतों में विद्यमान थे । भारत के निवासी पंचायत के रूप में ज्यूरी द्वारा न्याय क सिद्धान्त से भली–भाँति परिचित थे । यद्यपि भारत की

---

1. बी0एन0दास गुप्ता, राजा राममोहन राय द लास्ट फ़ेज, पृष्ठ–107–108
2. नाग एण्ड बर्मन, इग्लिश वर्क्सआफ राजा राममोहन राय भाग तीन पृष्ठ–56

प्राचीनकालीन न्यायपंचायत व्यवस्था तथा आधुनिक ज्यूरी प्रथा का रूप एक समान नहीं है, लेकिन प्राचीन भारत में वैधिक संगठन में पंचायत का महत्वपूर्ण स्थान था क्यों कि पंचायत का उपयोग या तो वादी–प्रतिवादी स्वेच्छा से करते थे, या विभिन्न गण जातियों के प्रधान एक साथ मिलकर न्याय करने का अधिकार अपने हाथों में ले लेते थे, या स्वयं सरकार मुकदमों को पंचायत के सुपुर्द कर देती थी। अतः राजा राममोहन राय का मत था कि पंचायत के रूप में ज्यूरी सिद्धान्त भारतीयों के लिए लाभदायक सिद्ध होगा। अब यह पंचायत विद्धान और प्रतिष्ठित व्यक्तियों की होगी जिनका निर्देशन आंग्ल न्यायधीश करेगे। यह भारतीयों की प्रतिष्ठा को संजोएगा। भारतीय न्यायधीश व्यक्तिगत प्रभाव को दूर करने के लिए वाद के सही तथ्य को समझेगा और सही प्रपत्र के साक्ष्य को और साक्षी के चरित्र को समझते हुए उसे सत्य बोलने के लिए बाह्य करेगा।[1] पंचायत के द्वारा सही निर्णय सही–निर्णय होगा और कोई मिथ्या गवाही देने का साहस नही करेगा।[2]

राजा राममोहन राय ने पंचायत व्यवस्था का समर्थन करते हुए इस बात को भी उपेक्षित नही रखा कि प्राचीन भारत की पंचायत में कुछ दोष थे, जिसके कारण यह वर्तमान परिस्थितियों में ज्यो की त्यों लागू नहीं की जा सकती। यदि इसे वर्तमान के सन्दर्भ में उनके ऊपर यथोचित सुधार करके सुदृढ़ न्यायिक स्वरूप दिया जाए तो निःसंदेह यह पद्धति भविष्य में और भी अधिक प्रतिष्ठा के साथ मानी जाने लगेगी।

सुदृढ़ न्यायिक स्वरूप देने के लिए यह आवश्यक है कि इसे शाश्वत रूप प्रदान करने के लिए अच्छे नियम बनाएं जाए, जिससे जनसाधारण का विश्वास इसमें निहित रहे और वे इसे प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखे। यह एक ऐसी पद्धति है जिससे वर्तमान न्याय पद्धति में बेईमानी, प्रपत्रों का हेर–फेर और उनके भ्रष्टाचार को दूर किया जा सकता है। इस पद्धति को अपनाने से भारतीय को बिना किसी अधिक व्यय के लाभ प्राप्त होगा। उन्होंने सुझाव दिया कि गन्तव्य पूरा करने के लिए

---

1. बी0एन0दास गुप्ता, राममोहन आन जुडीशियल सिस्टम आफ इन्डिया, पृष्ठ–134
2. वही पृष्ठ–135

तीन ज्यूरी या अधिक से अधिक पॉच ज्यूरी उचित होगी और जनपद में इतने लोगों के मिल जाने में कोई कठनाई उत्पन्न नहीं होगी। जितने ज्यूरी या पंचों की आवश्यकता हो उससे तीन गुने लोग बुलाए जाएं ओर उनमें से लाट्री द्वारा नाम निकालकर नियुक्ति की जानी चाहिए।[1] उन्होंने यह भी सुझाव दिया कि "सेवानिवृत न्यायिक अधिकारियों तथा अपने काम से अवकाश ले लेने वाले वकीलों को ज्यूरी का सदस्य चुना जा सकता है।[2]ज्यूरर के चुनाव करते समय इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि सभी कार्य पारसी भाषा को छोड़कर उसी की मातृभाषा में हो और जितना संभव हो सके उनका प्रकाशन अधिक से अधिक करना चाहिए और ज्यूरी ऐसे प्रकाशनों से दूर रहे जैसा कि अंग्रेजी न्यायालयों में होता है। ऐसी पद्धति के निर्णयों में अपील की प्रक्रिया कम और लाभप्रद होगी।[3] पंचायत या ज्यूरी जो स्वदेशी है, उनकी भाषा और साक्ष्य की भाषा में समानता होने के कारण उनके निर्णय में भूल-चूक होने की संभावना बहुत ही कम होती है। अन्ततः ज्यूरी वाह्य प्रभाव से न्यायधीश द्वारा तथा उसके सहायक (असेसंर) द्वारा पूर्व रूप से सुरक्षित रहेगें न्यायालय का कार्य शीघ्रता से होगा न्यायिक प्रशासन को स्थायी आधार पर खड़ा करने के लिए विभिन्न सुझाव देने में राजा राममोहन राय ने शासको और शासितों के हितों का ही केवल ध्यान रखा।[5] शीघ्रता से होगा।

राजा राममोहन राय ने विधि के समक्ष समानता के सिद्धान्त को अपनाए जाने की आवश्यकता पर बल देते हुए ज्यूरी अधिनियम में ऐसे सिद्धान्त का विरोध किया, जिसके अनुसार न्यायपालिका में धर्म के आधार पर भेदभाव किए जाने की बात आ गयी थी।[5] वे इस परम्परा को सर्वथा उचित मानते थे कि भारतीय न्यायलयों में यूरोपियनों के मुकदमों की सुनवायी में हिन्दू और मुसलमान ज्यूरी नहीं रह सकते। न्यायालय के निदेशकों ने सदैव इस बात पर विचार किया था कि

---

1. राममोहन राय, जुडीशियल सिस्टम आफ इंडिया (प्रश्न-उत्तर-36)
2. राजा राममोहन राय, इंग्लिश वर्मन, भाग-तीन, पृष्ठ-23
3. वही पृष्ठ-22
4. वही पृष्ठ-23
5. रिर्माकस आफ राममोहन राय (इन अन्सर टू द आवजैकशन रेस्ड बाए द कोर्ट आफ डायरेक्टर्स अगेंस्ट द इन्टूरडेक्शन आफ द ज्यूरी बिल बाए मि0 ग्रांट) इंडिया गजट, जनवरी 28, 1833

इग्लैंड का यह वैधानिक सिद्धान्त रहा है, कि ज्यूरर और उस व्यक्ति जिसके विषय में निर्णय लेना है, उनमे जातीय विचार का सामंजस्य होना चाहिए ।[1] इस तथ्य को सिद्ध करने के लिए यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या अंग्रेजी और ईसाई, हिन्दू अथवा मुसलमानों के साथ जातीय सांमजस्य रखते हैं । इस सिद्धान्त के आधार पर यदि हिन्दू और मुसलमान भारतीयों को जातीय एकता होने के अभाव मे ईसाईयों के मुकदमें मे यदि ज्यूरी का काम करने से वंचित किया गया तो यही प्रतिरोध ईसाई ज्यूरी–सदस्यों के विरोध में हिन्दू अथवा मुसलमानो के मुकदमों को सुनने मे होगा । इसलिए ज्यूरी के संबंध में जातिभेद का भाव नहीं आना चाहिए क्योंकि न्याय, व्यक्ति में भेद करना नहीं जानता ।

राजा राममोहन राय ने कहा कि न्यायालय के निदेशक इंग्लैड के वैधानिक सिद्धान्त के आधार पर भारत में स्नेह की भावना उत्पन्न करने की अपेक्षा एक ऐसा विधान बना रहे हैं, जो धार्मिक असहिष्णुता की भावना को जन्म देगी विशेषकर नई पीढ़ी के बुद्धिजीवियों में विद्रोह की भावना पैदा करेगी कोई भी राष्ट्रवादी ऐसे भेदभाव को सहन नहीं करेगा, जो भारतीय निवासियों को ईसाई बना दे । यदि उन्हें विशेष धर्म के आघात को सहन करने के लिए विवश किया जाएगा तो वह अपने स्वाभिमान की रक्षा हेतु अपने जन्मजात धर्म के लिए चाहे वह कितना ही दोषपूर्ण क्यों न हो कठोरता के साथ इसका विरोध करेगे । इसलिए ऐसे विचार मूलतः निराधारण हैं । भारतवर्ष में मात्र अंग्रेज ही ईसाई नहीं हैं, वरन पुर्तगाल निवासी ईसाईयों के असंख्य उत्तराधिकारी इनसे पहले पूर्व में सीरियन ईसाई की भाँति आकर बस गये थे। अत. भारत में ईसाई मात्र यूरोपीयन ही नहीं हैं, वरन् अन्य विभिन्न जातियों के लोग भी हैं। संसार में ऐसा अन्य कोई देश नहीं है जिसमें भारत जैसी धार्मिक सहिष्णुता हो ।[2]

इस संबंध में राजा राममोहन राय ने यह तर्क भी दिया कि सन् 1793 से लार्डकर्नवलिस द्वारा भारत के मुफ्तियों ने न्यायधीशों के न्यायालय मे न्यायधीश सहायक के पद पर बैठकर ऐसे महत्वपूर्ण प्रश्नों पर निर्णय दिए है, जिनमें हिन्दू मुसलमान और यहाँ के ईसाई जनता के जीवन–मृत्यु संबंधित प्रश्न थे । ऐसे प्रश्नों पर निर्णय देने के अधिकार का प्रयोग लगभग चालीस वर्षो तक संतोष जनक रूप से करते आए है, यही कारण है कि शासन ने अनेको परिवर्तन किए लेकिन न्यायिक प्रणाली में कोई परिवर्तन नहीं किया ।[3]

---

1. कालिदास नाग एण्ड वर्मन, द इंग्लिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय, भाग चतुर्थ, पृष्ठ–36
2. उपरोक्त पृष्ठ–37
3. उपरोक्त पृष्ठ–37

इस प्रकार राजा राममोहन राय ने ऐसे सिद्धान्तों का खण्डन किया और सुझाव देते हुए कहा था कि प्रत्येक सरकार का अधिकार है कि वह अपने प्रत्येक समुदाय के लोगों में प्रतिभा सम्पन्न लोगों को बिना किसी जाति भेद भाव के समान रूप से निष्पक्ष प्रोत्साहन देने की व्यवस्था करनी चाहिए ।[1]

ईस्ट इंडिया के निदेशकों द्वारा केवल वही व्यक्ति प्रशासन द्वारा जस्टिस आफ द पीस नियुक्ति किए जाएगे जो ब्रिटिश विधि में विनियमित और अपेक्षित योग्यता प्राप्त करने का संकल्प लेगे और स्वतः इस उत्तरदायित्व के निर्वहन के दायित्व को स्वेच्छा से स्वीकार करेगें । जो ऐसा करने को तत्पर नही होगे वह नियुक्त नहीं किए जा सकते, इनके विचार में भारतीयों से यह आशा नहीं की जा सकती है, कि वह अंग्रेजी कानून की किताबों तथा संसद के अधिनियमों आदि का ज्ञान प्राप्त करने के लिए इतना समय और व्यय वहन कर सकेगें और अपने को उपर्युक्त पदाधिकारी सिद्ध कर सकेंगे ।

राजा राममोहन राय ने इस पर विरोध प्रकट करने हुए कहा कि न्यायालय के निदेशकों कोइस बात में अंशमात्र भी संदेह नहीं होना चाहिए कि भारतीयों में अपेक्षित वैधानिक ज्ञान प्राप्त करने ककी क्षमता नही है । इस बात को स्वयं भी स्वीकारते है, कि कोर्ट उनकी प्रज्ञा अथवा उनकी योगयता के विषय में कोई संदेह नही करती, अर्थात कोई प्रश्न वाचक चिनह नहीं लगाती । उन्होनें यह भी मत दिया कि ऐसे यूरोपियन की सूची भी उदघृत की जा सकती है, जो स्थानीय डारेक्टरों प्रशासन के अधीन काम कर चुके है और उन्हें अंग्रेजी विधि की पुस्तकों अथवा पार्लियामेंट के अधिनियम का पूर्ण और उपर्युक्त ज्ञान नहीं था । लेकिन यहाँ यह तथ्य उचित नहीं है । लेकिन यह तो मान्य है कि न्यायालय के निदेशक ही अन्तिम व्यक्ति है जो अंग्रेजी विधि पुस्तकों अथवा संसद के अधिनियमों का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त करने की आशा रखते है जिन्हें वह न्यायधीश और दंडाधिकारी अपने लोखों स्वभक्त प्रजा के ऊपर नियुकत करना चाहते हैं ।[2]

---

1. राजा राममोहन राय, ओपेनियन आन ग्रांटस ज्यूरी बिल साधारण ब्रह्म समाज पृष्ठ–37
2. उपरोक्त पृष्ठ–35–36

न्यायालय के निदेशकों का यह कहना कि "भारत के निवासी कई तरह से जस्टिस आफ द पीस" नियुक्ति होने की श्रेणी में आते यहाँ के निवासियों में विशेषकर चारित्रिक दृढ़ता की कमी है, जो दंडाधिकारी के कर्तव्यों के पालन के लिए और विश्वास प्राप्त करने के लिएउपयोग और आवश्यक साधन है। राजा राममोहन राय ने इस पर असहमति प्रकट करते हुए विचार व्यक्त किए कि यहाँ के निवासियों को पर्याप्त अधिकार प्राप्त है, जिससे वे दंडाधिकारी का कार्य मालगुजारी एकत्रित करने का कार्य, पुलिस तथा दंड देने का कार्य भली-भाँति करते हैं। अतः ऐसी स्थिति में उनके चारित्रिक दृढ़ता की कमी का दोष लगाना न्यायसंगत नहीं है। बिना चारित्रिक दृढ़ता के कोई व्यक्ति ऐसे आवश्यक कार्य कैसे कर सकता है।[1]

न्यायलय के न्यायधीश यह अनुभव करते थे कि भारतीयों के जस्टिस आफ द पीस" की नियुक्ति, यूरोपियन चरित्र के मूल्यांकन को कम करेगा और उसे आघात पहुँचाएगा। राजा राममोहन राय ने एक उदाहरण देकरइस भ्रम को दूर करने का प्रयास किया है। उन्होंने कहा कि "यह इगलैंड में बहुत से यूरोपियन भी जानते है कि साधारण पुलिस का अधिकारी, अर्थात यहाँ का निवासी थानेदार जो कलकत्ता के सीमान्त का रंक्षक है, उसे यूरोपियन पर संदेह करने और ऐसे छोटे या बड़े अधिकारी को गिरफ्तार कर सकते है जो अशांति फैलाते हुए पाए जाएगे। यह साधारण सी घटना है जिससे यहाँ के निवासी व्यवहार में लाते है और स्थिति का नियंत्रण रखते है। क्या यह आघात ब्रिटिश भारतीय सल्तनत की राजधानी में ही यूरोपियन चरित्र के मूल्याकंन को कम नहीं करता अथवा भारत में आंग्ल शक्ति को आघात नहीं पहुँचाते।[2]

किसी भी देश की प्रगति के लिए उसके सामाजिक व राजनीतिक उत्थान के लिए एक सुदृढ़ अर्थ व्यवस्था का होना आवश्यक है। राजा राममोहन राय के समय में तत्कालिक अर्थ व्यवस्था पतितावस्था में थी यह अर्थ व्यवस्था सामाजिक पतन का प्रमुख कारण थी। भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य यहाँ का आर्थिक शोषण करना था। भारत में

---

1. राजा राममोहन राय, ओपेनियन आन ग्रांटस ज्यूरी बिल साधारण ब्रह्म समाज पृष्ठ-36
2. उपरोक्त पृष्ठ-36

जमींदारी प्रथा के कारण किसानो की स्थिति बड़ी दयनीय हो गयी थी। जमींदारी तथा जागीदार, किसानों व मजदूरो के शोषक थे। भारत के किसान जमींदारो की लोलुपता और महत्वाकांक्षा की दयापर निर्भर रहते थे। राजस्व के निर्धारण में सरकार ने जमींदारों के साथ तो रियायत की थी किन्तु गरीब किसानों के साथ कोई रियायत नहीं की थी। लगान इतना अधिक देना होता था कि उसे देने के बाद किसानों के पास कुछ नहीं बचता था।

किसानों पर लगान की वर्तमान समान्य दर को बताते हुए राजा राममोहन राय ने किसानों पर अधिक बोझ डालने वाली बताया जैसा कि उन्होंने एक प्रश्न के उत्तर में कहा है सिद्धान्त यह माना गया है कि किसान अपनी उपज का आधा भाग लगान के रूप मे देता है जिसका 10/" या 9/10 भाग वह राजस्व के रूप में सरकार को दे देता है और यूरोप 1/11 या 1/10 भाग अपने पास रखता है। बीज और मजदूरों आदि का सारा व्यय किसान को करना पड़ता है। उसके बाद उससे आधी उपज देने को कहना बहुत बड़ी ज्यादती है। परन्तु यह ज्यादती यही नहीं समाप्त हो जाती व्यवहार में जमींदार 1793 से इस्तमरारी बन्दोबस्त के अन्तर्गत उस अधिकार के द्वारा जो उन्हें प्रदान किया गया है किसनों पर लगान बढ़ाने के सभी उपाय करते रहते हैं।[1]

इस्तमरारी बन्दोबस्त के अन्तर्गत सरकार ने केवल जमींदारों का ही जमीन पर पूरा अधिकार माना था किसानों का नहीं।

तत्कालीन अर्थ व्यवस्था को भारत की दशा अत्यन्त ही शोचनीय थी। किसान मजदूर व कारीगर अथवा शोषित वर्ग आदि को पारिश्रमिक बहुत कम मिलता था। राजा राममोहन राय ने भारत की दशा का उल्लेख करते हुए बताया कलकत्ते में उद्योगों जैसे लुहार और बढ़ई यदि कुशल कारीगर है तो उन्हें दस या बारह रूपए प्रतिमाह दिया जाता है। साधारण श्रमिक को साढ़े तीन या चार

---

1. राममोहन पेपर्स रीटिन इन लंदन आन रेवन्यू सिस्टम, 19 अगस्त 1831
सेलेक्टेड वर्क्स, पृष्ठ–45

रूपये प्रतिमाह, खेती में काम करने वाले कृषक या माली को लगभग चार रूपए प्रतिमाह पारिश्रमिक दिया जाता है। बड़े शहरों में कुछ कम और गाँवों में उससे भी कम पारिश्रमिक मिलता है। जिसके कारण यह लोग चावल, थोड़ी सी सब्जी, नमक व गर्ममसाला और मछली से अपना जीवन यापन करते हैं। कुछ बहुत गरीब लोग चावल और नमक से ही जीवन यापन करते हैं और कच्चे मकानों और बहुधा कूस चटाई अथवा नरकूट के झोपड़ों में रहते हैं।[1]

राजा राममोहन राय ने यह भी सुझाव दिया कि जमीन का जो स्थाई बन्दोबस्त जमींदारों के साथ किया गया है, वही स्थायी बन्दोबस्त किसानों और मजदूरों के साथ देश भर में कर दिया जाए। ऐसा करने से सभी सरकार के वफादार बने रहेगें और देश की रक्षा के लिए भी सदैव तत्पर रहेगें।

राजा राममोहन राय ने व्यापार का समर्थन किया। उन्होंने कहा कि सन् 1824 तक मुफ्त व्यापार की, विशेष रूप से नील उगाने वालों की मांग ऐसी भ्रांत धारणाओं और युक्तियों द्वारा दबायी जाती रही, जो यह सिद्ध करने के लिए उपस्थित की गई कि मुफ्त व्यापार से अजारकता पैदा होगी और विनाश आरम्भ हो जाएगा। मुफ्त व्यापारियों के विरोधियों ने, जिनमें एक पादरी और बहुत से भारतीय जमींदार थे, उन्होंने कहा कि यदि यूरोपीयों को भारत में जमीन रखने का अधिकार दे दिया गया तो वे भारतीय जमींदारों को अधिकार च्यूत कर देंगे। यही नही इन नए बसे यूरोपीयों की सहायता से समस्त हिन्दुओं को बलात ईसाई बना लिया जाएगा। मुफ्त व्यापार के सबसे अधिक मुखर विरोधी जमींदार थे, क्योंकि कम्पनी का शासन जारी रहने में उनका स्वार्थ निहित था।

राजा राममोहन राय ने स्पष्ट किया कि जिन क्षेत्रों मे यूरोपियनों के नील की खेती की है, वहाँ निम्न एवं मध्यम वर्ग के लोगों की आर्थिक स्थिति सुधरी है। धन के प्रचार से रोजगार के अवसरों में बढ़ोतरी हुयी है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि जमींदार जिन किसानों से बिना

---

1. राजमोनस पेपर्स रीटिन इन लंदन, (द कन्डीशन आफ इन्डिया) 28 सितम्बर, 1831, इंगलिश वर्क्स भाग तीन पृष्ठ–65

पारिश्रमिक दिए अथवा थोड़ा बहुत लालच देकर मनमानी ढंग से काम करा लेते थे, उन्हें अब उनके पिरश्रम का वेतन मिल रहा है । राजा राममोहन राय ने यह विचार प्रतिपादित किया कि ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न की जानी चाहिए, जिनमे बिटिश प्रौद्योगिकी और पूंजी भारत में आर्थिक क्रान्ति लाने के लिए काम कर सके । उन्होंने कहा कि यदि चरित्रवान एवं पूँजीपति यूरोपीय को इंडिया बोर्ड या निदेशक मंडल या भारत सरकार की अनुमति से इा देश मे बसने दिया जाए, तो इससे देश के साधनों में बहुत सुधार होगा और यहाँ के निवासियों की दशा भी सुधरेगी, क्योकि उन्हें कृषि की उत्तम विधियाँ तथा अपने नौकरो और आश्रितों के साथ वयवहार करने का एक समुचित ढंग देखने को मिलेगा ।

नमक के व्यापार पर ईस्ट इंडिया कम्पनी के एकाधिकार को समाप्त कराने में भी राजा राममोहन राय की भूमिका महत्वपूर्ण है । उन्होंने कहा कि मनुष्यकृत नमक अकाल के परिणामस्वरूप समस्त जनता को कष्ट उठाना पड़ता है । अतः उन्होंने सुझाव दिया कि नमक यदि उचित मूल्य पर बेचा जाए तो उसकी खपत बढ़ सकती है, इसलिए अंग्रेजी नमक के आयात की अनुमति दी जाए क्योंकि वह सस्ता भी है और अच्छा भी है । नमक के आयात से नौकर बेरोजगार हो जाएगें, उन्हें कृषि क्षेत्र में वैकल्पिक रोजगार उपलब्ध करा देना चाहिए ।

इस प्रकार राजा राममोहन राय ने कम्पनी का एकाधिकार समाप्त कराने के लिए ऐसे अकाट्य और विश्वसीय प्रमाण उपस्थित किए कि प्रवर समिति को उनकी बात माननी पड़ी ।

इस संघर्ष से पता चलता है, कि राजा राममोहन राय सामान्य जनता के हितों का सर्वथा ध्यान रखते थे । वे न केवल मानवतावादी थे, वरन् एक व्यावहारिक अर्थशास्त्री भी थे । राजा राममोहन राय अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग, सहिष्णुता, साहचर्य तथा मन और आत्मा की स्वतन्त्रता में विश्वास रखते थे । उन्होंने एक ऐसे विश्व समाज की कामना की जो सम्पूर्ण मानवता की सहानुभूति, सहिष्णुता तथा बुद्धि पर आधारित हो ।

राजा राममोहन राय ने दो राष्ट्रों के विवादों को निपटाने के लिए एक विश्व संस्था का स्वप्न देखा। उन्होंने विश्व के समस्त राष्ट्रों की एक कांग्रेस स्थापित करने की योजना प्रस्तुत की। यह उनकी राजनीतिक दूरदर्शिता का परिणाम हे, कि उन्होंने सन् 1920 में स्थापित अन्तर्राष्ट्रीय संघ की रूपरेखा तथा योजना एक शताब्दी पूर्व सन् 1831 में ही कर दी थी। उन्होंने कहा कि सांविधानिक सरकार के उद्देश्य दो देशों के मध्य राजनीतिक मतभेदों के मामलों को एक विश्व संस्था (कांग्रेस) के समक्ष प्रस्तुत करके अधिक अच्छी तरह से सिद्ध हो सकते हैं। इस संस्था में प्रत्येक देश की संसद के सदस्यों की संख्या समान होनी चाहिए। दोनो राष्ट्रो को बहुमत का निर्णय मानना चाहिए। अध्यक्ष का चुनाव प्रत्येक राष्ट्र से एक-एक वर्ष के लिए परिवर्तन करके होना चाहिए तथा अधिवेशन का स्थान, एक वर्ष, एक देश की सीमा में और दूसरे वर्ष दूसरे देश की सीमा में होना चाहिए। यह संस्था (कांग्रेस) संवैधानिक सरकार वाले किसी भी सभ्य देश के निवासयिों के मतभेदों को चाहे वह राजनीतिक हो, चाहे वाणिज्यिक संबंधी मामला हो, मैत्रीपूर्ण और न्यायपूर्ण ढंग से सुलझा सकती है, और दोनों देशों को संतुष्ट कर सकती है तथा इस प्रकार उन दोनों देशों मे पीढ़ी दर पीढ़ी शन्ति एवं मित्रता का भाव बना रह सकता है।[1]

इसलिए उन्होंने पारस्परिक लाभ तथा समस्त मानव जाति के आनन्द की वृद्धि के लिए मनुष्यों के पारस्परिक मिलन पर लगाए गए समस्त प्रतिबन्धों को हटाने की मांग की। फ्रांस में प्रवेश के लिए इच्छुक विदेशी यात्रियों को प्रमाण-पत्र लेना पड़ता है। राजा राममोहन राय ने इसका विरोध करते हुए कहा कि विदेशियों के विरूद्ध ऐसे प्रतिबन्ध तो एशिया के राष्ट्रों मे भी नहीं लगाए जाते। यदि फ्रांस अपने पड़ोसी राष्ट्रों के साथ युद्धरत होता या उसकी जनता को हानि पहुँचने की संभावना होती तो यह प्रतिबन्ध उचित था। एशिया के राष्ट्रों तक में (जो धार्मिक पक्षपातों एवं राजनीतिक मतभेदों के कारण एक दूसरे के विरोधी हैं) चीन को छोड़कर कहीं ऐसा नियम नही है। चीन तो विदेशियों के साथ अपनी घोर ईर्ष्या के लिए विख्यात है, और उसे सदैव यह भय बना

---

1. राजा राममोहन राय द्वारा, फ्रास के विदेश मंत्री को लिखा गया पत्र 20, दिसम्बर 1831 लन्दन

रहता है, कि कहीं नए रीति–रिवाजों और विचारो का प्रवेश न हो जाए । फ्रांस जैसे राष्ट्र जो अन्य विषयों में विनम्रता और उदारता के लिए प्रसिद्ध है, उसके लिए यह नियम उचित नही है । इस संबंध में फ्रांस की यदि यह नीति है कि दुराचारी व्यक्तियो को फ्रांस में प्रवेश नहीं करने दिया जाएगा तो भी इस तथ्य पर उचित नही हैं, कि यहाँ के फ्रांसीसी राजदूत द्वारा जो प्रमाण–पत्र दिए जाते हैं, वे साधारणतया चरित्र प्रमाण–पत्र द्वारा आधारित नहीं होते हैं, और न ही प्रमाण–पत्र देने से पूर्व किसी व्यक्ति के चाल–चलन की ही जाँच करायी जाती है ।[1]

राजा राममोहन राय ने यह भी तर्क दिया कि यूरोप में अनेक वर्षों से सामान्य शान्ति है और विशेष रूप से फ्रांस और इंग्लैंड की जनता तथा वर्तमान सरकारों में मेल है, ऐसी स्थिति में यह नियम फ्रांस की सहृदयता एवं विश्वास के अभाव को प्रकट करता है । व्यापार, व्यवसाय से संबंधित विषयों में तथा घरेलू विपत्तियों के मामले में प्रमाण–पत्र प्रणाली से अत्यन्त ही असुविधा होती है ।[2]

अन्तर्राष्ट्रीयतावाद तथा मानवतावाद पर राजा राममोहन राय के विचारों के आधार पर यह निष्कर्ष स्वाभाविक रूप से निकलता है कि उन्होंने पूरब तथा पश्चिम के विभेद को समाप्त करने का प्रयास किया ।

---

1. राजा राममोहन राय, सलेक्टेड वर्क्स पृष्ठ–37
2. उपरोक्त पृष्ठ–38

चतुर्थ अध्याय

केशवचन्द्र सेन के सामाजिक तथा राजनीतिक विचार

ब्रह्म समाज आन्दोलन के इतिहास में सन् 1858 में एक ऐसे प्रकाशवान देदीप्यमान नक्षत्र का उदय हुआ, जिसके आलोक से समस्त ब्रह्म समाज सहसा चमत्कृत हो उठा। यह नवीन नक्षत्र केशवचन्द्र सेन के नाम से विख्यात हुए। इनके अदम्य उत्साह ने आन्दोलन में एक नए जीवन का संचार किया। केशवचन्द्र सेन, महर्षि देवेन्द्र नाथ टैगोर के शिष्य थे। महर्षि देवेन्द्र नाथ टैगोर का इन पर अपार स्नेह था। और वह हृदय से उनको चाहते थे। केशवचन्द्र सेन में सामाजिक क्रांति के लिए अपार उत्साह था।

केशवचन्द्र सेन बहुमुखी प्रतिभाशाली लेखक, कुशलवक्ता, मेधावी एवं क्रांतिकारी समाजसुधारक थे। उनका जन्म 19 नवम्बर सन् 1838 को कलकत्ते के एक सम्पन्न परिवार में हुआ था।[1] केशवचन्द्र सेन के पिता का नाम प्यारेमोहन था। जब केशवचन्द्रसेन की आयु मात्र दस वर्ष थी उनके पिता का स्वर्गवास हो गया था। अतः इनका बाल्यजीवन माता सुश्री शारदा सुन्दरी के संरक्षण में व्यतीत हुआ। शारदा सुन्दरी ने अपने पुरातन कठोर धार्मिक विचारों को मानते हुए अपने महान् पुत्र के आधुनिक विचारों के साथ बड़े ही सुन्दर ढंग से सामंजस्य स्थापित किया। केशवचन्द्र सेन का अपनी माता के संम्बन्ध में कितना सार्थक कथन परिलक्षित होता है-'तुम्हारी जैसी कोई माता नहीं हो सकती, तुम्हारे सुन्दर सभी गुणों को भगवान ने मुझे प्रदान किए हैं, जिन सभी को मैं अपना कहता हूं, वे सभी तुम्हारे हैं।'[2]

केशवचन्द्र सेन की प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही हुयी। इसके बाद 'हिन्दू कालेज' के छात्र बने, वहां बड़े ही परिश्रम के साथ अध्ययन किया। धैर्य के साथ लगातार परिश्रम करना, क्रमबद्ध ज्ञान का अर्जन करने की आदत ने उनको महान् बनाने में पूर्ण सहयोग प्रदान किया।

---

1. पी.सी.मजूमदार: द लाइफ एंड टिंचिग्स आफ केशवचन्द्र सेन (प्रस्तावना)

केशवचन्द्र सेन गेरिफा के सेन के उत्तराधिकारियों की पंक्ति में आते हैं, जिनका संबंध बंगाल के सेन राजाओं के प्राचीन शाही घराने से रहा है, जो वेंद्य जाति के थे, जिनकी परम्परागत प्रभुत्वशाली ब्राह्मण जाति के पश्चात् सबसे अधिक प्रभावशाली तथा बुद्धिमान मानी जाती है । गेरिफा केशवचन्द्र सेन के पुरखों का ग्राम था, जो कलकत्ते से 24 मील की दूरी पर हुगली के किनारे पर स्थित है।[1]

केशवचन्द्र सेन अत्यन्त ही बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न तथा प्रखर बुद्धि के थे। वस्तुओं के रहस्यों को समझने की उनमें आश्चर्यजनक सूक्ष्म असाधारण क्षमता थी। बचपन में वह धार्मिक नहीं थे, परन्तु अच्छे आचार वाले नैतिक प्राणी थे। अपने विद्यार्थी जीवन में केशवचन्द्र सेन ने मानसिक तथा नैतिक दर्शन की ओर अधिक ध्यान दिया। उनके तत्कालीन सहयोगी नवयुवक उन्हें दार्शनिक के रूप में देखते थे। दर्शन का इतिहास उनका प्रिय विषय था, जेसा कि उन्होंने लिखा है कि -'दर्शन ने सर्वप्रथम अर्न्त:मुखी होना सिखाया , और मेरी आँखों को बाहरी दुनिया के आकर्षण से हटाकर भीतरी दुनियाँ की ओर मोड़ दिया,जिसके द्वारा मुझे अपनी वास्तविक स्थिति, चरित्र तथा अन्तिम लक्ष्य का ज्ञान प्राप्त हुआ।'[2]

उन्होंने अपने प्रारम्भिक वर्षों में बहुत से व्यापारिक क्रियाकलापों को छोड़ दिया था। उन्होंने लिखा है कि 'वह घर जिसमें मैं रहता, वह घर जिसमें मैं सोता , वह मेरे लिए कब्रगाह या कब्रस्थान इससे मैने अनुभव किया कि भगवान का हाथ मेरे ऊपर है, जो मेरे चरित्र का निर्माण कर रही है।'[3] और वह महान् सत्ता उनको किसी महान कार्य को पूर्ण कराने के लिए प्रारम्भिक सिद्धान्तों का प्रशिक्षण दे रही है, जिसको केशवचन्द्र सेन को पूर्ण करना है। ये सिद्धान्त अपने स्वरूप में लगभग आचार सम्बन्धी थे। अपना धर्म आरम्भ करने से पूर्व उनमें नैतिक भावना परिपक्व हो चुकी थी। इन नैतिक विचारों पर धर्म का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। केशवचन्द्र सेन ने 'प्रार्थना' की अति आवश्यकता में विश्वास किया। उन्हीं के

---

1. ब्रह्मानंद केशव, लाइफ एंड वर्क्स भाग प्रथम 1838-1866 पृष्ठ 8
2. ब्रह्मानंद केशव, लाइफ एंड वर्क्स भाग प्रथम पृष्ठ 6
3. ब्रह्मानंद केशव, लाइफ एंड वर्क्स भाग प्रथम पृष्ठ 6

शब्दों में 'मैं नहीं जानता था कि ठीक धर्म क्या था? मैं यह भी नहीं जानता था कि वास्तविक चर्च क्या था? क्यों और किसके लिए प्रार्थना करूँ मैं नहीं जानता था, परन्तु प्रकाश की प्रथम आभा जो मेरे पास आयी, मैंने आवाज सुनी प्रार्थना करो, प्रार्थना करो, प्रार्थना के अतिरिक्त और कोई रास्ता नहीं है।[1] इसके द्वारा केशवचन्द्र सेन की बुद्धि, पवित्रता तथा प्रेम का विकास हुआ। केशवचन्द्र सेन को इसबात का भी अनुभव हुआ कि केवल भगवान में आस्था ही आवश्यक नहीं है, अपितु विश्व बन्धुत्व की भावना भी आवश्यक है। अतः केशवचन्द्र सेन दो सिद्धान्तों की ओर आकर्षित हुए। प्रथम-ईश्वर हमारा पिता है। द्वितीय- प्रत्येक प्राणी हमारा भाई है।[2] यहीं से केशवचन्द्र सेन ने अपने जीवन में संघर्ष की यात्रा प्रारम्भ की, उन्हें नवीन प्रेरणा मिली। तत्कालीन अंधविश्वासों, कटटरपन का विरोध किया और उन्हें इसमें विजय भी मिली ।

अप्रैल सन् 1859 में केशवचन्द्र सेन ने कलकत्ता में ईश्वरीय ज्ञान से संबंधित ब्रह्म स्कूल का आरम्भ किया, जो ब्रह्मआंदोलन की मुख्य संस्था थी, जिसके द्वारा ब्रह्म तथा तत्व ज्ञान से संबंधित कुछ विचारों को क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत किया और दर्शन को तर्क का आधार दिया। और ब्रह्म समाज के सुप्रशिक्षित संदेशवाहकों को तेयार किया।

केशवचन्द्र सेन सितम्बर 1859 को देवेन्द्र नाथ टेगोर के साथ लंका की यात्रा पर भी गए। परिवार के दबाब के कारण इक्कीस वर्ष की आयु में बंगाल के एक बैंक में क्लर्क के रूप में भर्ती हुए, जिसमें उन्होंने जून 1861 तक कार्य किया। केशवचन्द्र सेन ने अंग्रेजी अध्ययन से बाइबिल का भी अध्ययन किया, अतः उनके ऊपर ईश्वरीय एकता का अच्छा प्रभाव पड़ा। बचपन से ही अंग्रेजी में प्रार्थनाएं लिखनी शुरू कर दी थीं। सन् 1857 में एक 'गुडविल फेटरनिटी' नाम से एक छोटी सोसायटी खोली जिसमें प्रार्थना और सामाजिक-धार्मिक विषयों पर चर्चाएं होती थी।[3] केशवचन्द्र सेन, राजा राम मोहन राय की तत्वबोधिनी पत्रिका और राज

---

1. केशवचन्द्र सेन, जीवनवेद: ब्रह्मनंद केशव लाइफ एंड वर्क्स पृष्ठ 442
2. ब्रह्मनंद केशव, लाइफ एण्ड वर्क्स पृ0 6
3. एन.एस.बोस, अवेकनिंग इन बंगाल पृष्ठ 90

नारायण बोस की 'ब्रह्म क्या है? से प्रभावित हुए। 1861 में केशवचन्द्र सेन ने अपने पद को छोड़ दिया और ब्रह्मकार्य में लीन हो गये। एक पाक्षिक अखबार 'इंडियन मिरर' का आरम्भ हुआ, जिसके सम्पादक केशव चन्द्र सेन बने। देवेन्द्र नाथ टैगोर, मोहन घोष ने इस पत्रिका को चलाने में तन-मन-धन से सहयोग दिया। अब केशवचन्द्र सेन ब्रह्म समाज के एक नए प्रेरणास्त्रोत बन गए, जिन्होंने लोगों में नयी स्फूर्ति पैदा की। अब ब्रह्म समाज के रूप में केशवचन्द्र सेन ने सामाजिक सुधार, शिक्षा आदि उद्देश्यों को लेकर कार्य करना प्रारम्भ कर दिया। सन् 1862 में देवेन्द्रनाथ ने केशवचन्द्र सेन को 'ब्रह्मानंद' की उपाधि दी और समाज का आचार्य बना दिया।[1]

सन् 1864-65 में केशवचन्द्र सेन मद्रास तथा बाम्बे धार्मिक यात्रा के तहत गए। उनकी यह यात्रा सफल रही। ब्रह्मों का अखिल भारतीय स्वरूप बना। केशवचन्द्र सेन अभी तक बंगाल के नेता थे अब सबके नेता बन गए। केशवचन्द्र सेन भारतवर्ष को आत्मसुधार की ओर उत्साहित करने के लिए लालायित रहते थे, इसके लिए सन् 1870 में इग्लैण्ड की यात्रा की। यहां केशवचन्द्र सेन का उद्देश्य ईसाई-जीवन की आध्यात्मिक बातों को सीखने का था, वह यह ज्ञात करना चाहते थे कि इग्लैण्ड के लोग यथार्थ ईसाई जीवन किस भांति व्यतीत करते हैं? वह ईसाइयों के परोपकार, आत्मसमपर्ण और सम्मानीय आत्मत्याग के भावों का मनन करना चाहते थे। उनका विचार था कि इंग्लैण्ड की महत्ता का कारण केवल उद्योग धन्धे ही नहीं है, बल्कि एक जीवन-दायक धर्म के एवं -त्याग के प्रभाव से इतना बड़ा बन सका है।[2] केशवचन्द्र सेन पक्के राजभक्त थे। उन्होंने इग्लैण्ड में भारत के प्रति इग्लेण्ड के कर्तव्य पर व्याख्यान दिए।[3] विलायत से लौटकर उन्होंने भारत संस्कारक सभा की स्थापना की। इस सभा का उद्देश्य भारतवासियों में सामाजिक और नैतिक सुधार करना था।

केशवचन्द्र सेन उदार प्रकृति वाले पुरूष थे। उनके जीवन-वेद में इस बात का स्पष्ट भाव दृष्टिगोचर होता है। जीवन-वेद के 'शिष्य प्रकृति' शीर्षक पन्द्रहवें परिच्छेद में लिखा

---

1. एन.एस.बोस: अवेकनिंग इन बंगाल पृष्ठ 92
2. विदेशी एकेश्वरवादी संघ: 8 जून, 1870 (इग्लैंड में केशवचन्द्र सेन का व्याख्यान)
3. द ब्रह्म समाज, केशवचन्द्र सेन इन इग्लैण्ड पृष्ठ 137

है:-

'शिक्षक नहीं हुआ हूं, इसलिए क्या चिरकाल स्वार्थ पर नाई रहूंगा? ज्ञान लाभ कर क्या किसी को नहीं दूंगा? कृपण की नाई क्या मेरा धन अँधेरे मैं चिरकाल बन्द रहेगा।' मेरे अन्दर ब्लाटिंग कागज की तरह एक वस्तु है, उसके द्वारा दूसरे के सदगुणों को सहज ही चूस ले सकता हूं।[1] इसी उदार प्रकृति ने केशवचन्द्र सेन को इतना महान बनाया है।

ब्रह्म समाज के अन्तर्गत केशवचन्द्र सेन का नाम उल्लेखनीय है। केशवचन्द्र सेन के नेतृत्व में ब्रह्म समाज का सिद्धान्त शुद्ध ईसायत्व के अधिकाधिक निकट आ गया था। केशवचन्द्र सेन डीन स्टेनले की 'वर्क्स' राबर्टसन की 'सरमन्स' लिडन की 'डिवाईनिटी आफ अवर लार्ड्स', 'दि थियोलाजिका जरमनिका' सीले की 'इकेहेमो' नामक पुस्तकों से अत्यधिक प्रभावित थे।[2]

सामाजिक एवं राजनीतिक विचारों के संबंध में केशवचन्द्र सेन गांधी के समान समाजशास्त्र और राजनीति को धर्म से अलग करने में विश्वास नहीं करते थे। बिना धर्म में परिवर्तन किए समाज सुधार करना असंभव है। उनका कहना था कि समाज सुधार का आधार धर्म होना चाहिए। सच्चा और स्थायी सुधार अन्त:करण से आना चाहिए।[3] सच्चा धर्म आत्मा में सर्वोच्च सत्ता की प्रतिष्ठा करके भ्रष्टाचार की जड़ों पर कुठाराघात करता है। चाहे वह भ्रष्टाचार व्यक्तिगत चरित्र में हो अथवा सामाजिक संस्थाओं में हों[4]। जब तक राष्ट्र पूर्वाग्रहों से युक्त है तब तक धार्मिक सुधार के बिना समाज में क्रान्ति करना सेन के लिए स्वीकार नही था।

केशवचन्द्र सेन के विचारानुसार धर्म और संकीर्णतावाद परस्पर विरोधी हैं, क्योंकि धर्म का आधार प्रेम है और धर्म का उद्देश्य विभाजित करना नहीं एक करना है दीवारें उठाना

---

1. केशवचन्द्र सेन: जीवनवेद: पन्द्रहवां परिच्छेद: लाइफ एण्ड वर्क्स पृष्ठ 479
2. जे. एन. फर्कुहर: रिलीजि्‌समूवमेण्ट्स इन इण्डिया: पृष्ठ 45
3. द ब्रह्म समाज, केशवचन्द्र सेन इन इग्लैंड- पृ0 144
4. केशव चन्द्र सेन, लेक्चर आन सोशल रिफोमेशन इन इंडिया: 21 फरवरी 1863

नहीं गिराना है।[1] इस संबंध में विपिन पाल ने लिखा है कि 'केशवचन्द्र सेन की सबसे बड़ी देन है उनकी मानव जाति की एकता की अवधारणा। उनसे पहले इस अवधारणा पर घटाने की पद्धति द्वारा सब धर्मों को उनके सरलतम् रूपों में रखकर ही पहुंचा जाता था। केशवचन्द्र सेन ने सब धर्मों की मूलभूत एकता की घोषणा उनके विकास तथा सरलतम् अवस्थाओं में नहीं बल्कि उच्चतम तथा जटिल अवस्थाओं में की।'[2]

धर्म के संबंध में केशवचन्द्र सेन की अवधारणा समय-समय पर परिवर्तित होती रही है, परन्तु मौलिक रूप से वे समस्त धर्मों की एकता के आदर्शो पर बल देते रहे। उनका कथन था कि धर्म का अर्थ साम्प्रदायिकता, रूढ़िवादिता व कट्टर सम्प्रदायवाद से नहीं लगाना चाहिए, प्राचीन धार्मिक आस्थाओं के साथ आधुनिक बौद्धिकता परख धर्म को संयुक्त कर एक अधिक उपादेय धर्म को प्रतिष्ठित करना चाहते थे। सच्चा धर्म वह है जो एक ही साथ बुद्धिवादी हो एवं आध्यात्मिक हो, भावुक व व्यावहारिक हो साथ ही जिससे हम आधुनिक ज्ञान व सभ्यता तथा आदिम उत्प्रेरणाओं के सम्मिलित गुणों से लाभान्वित हो सकें।[3] केशवचन्द्र सेन ने समाज सुधार के लिए चार बातों की ओर ध्यान आकृष्ट किया।[4]

✓ प्रथम- समाज सुधार से पूर्व धर्म सुधार होना चाहिए। समाज सुधार के धार्मिक आधार के प्रश्न पर सन् 1866 मे केशवचन्द्र सेन ने मुख्य ब्रह्म समाज से पृथक होकर 'भारतीय ब्रह्म समाज' की स्थापना की थी। उनके मत में एक सार्वभौम सत्ता के प्रति चेतना जाग्रत कर मस्तिष्क को परिष्कृत करके धर्म व्यक्ति के चरित्र तथा सामाजिक संवासों में सुधार करता है। समाज व व्यक्ति के भ्रष्ट आचरण के मूल पर धर्म में परिवर्तन के द्वारा कुठाराघात किया जा सकता है। जब तक राष्ट्र पूर्वाग्रहों से युक्त है, समाज में गहराई तक अंधविश्वास की जड़े

---

1. ब्रह्मनंद केशव, लाइफ एंड वर्क्स, भाग प्रथम पृ0 27
2. जी.सी. बनर्जी, ब्रह्मानन्द केशवचन्द्र सेन टेस्टामनीज एण्ड मेमोरियमं पृष्ठ 327
3. केशवचन्द्र सेन, लेक्चर्स इन इंडिया पृ0 150-151
4. ब्रहमनंद केशव, लाइफ एंड वर्क्स भाग प्रथम पृष्ठ 114-117

प्रविष्ट है तब तक धार्मिक सुधार के बिना समाज में क्रांति करना सेन के लिए स्वीकार नहीं था ।

द्वितीय -समाज सुधार सकारात्मक होना चाहिए । परिवर्तन के दौरान जिन संस्थानों पर आघात किया जाता है, उनमें सृजनात्मक पहलू भी संलग्न किया जाना चाहिए । उदाहरणार्थ जाति व्यवस्था की कट्टरता को कम करने का सकरात्मक पहलू यह होगा कि समाज में हितों की एकता को जन्म देने के लिए वातावरण तैयार किया जाए । जाति व्यवस्था की आलोचना करने के स्थान पर अन्तर्जातीय भोजन व विवाह को बढ़ावा देना अधिक सकरात्मक है । दृढ़ प्रतिज्ञ होकर जाति के भेदभाव को कर्म, वचन से विस्मृत कर देना चाहिए । ऐसे विचारों का सृजन करना चाहिए जो मनुष्यों को मन्दिर के एक घेरे में ला दे और एक ही सच्चे ईश्वर के चरणों में डाल दें, जो जगत् पिता हो । स्वभाविक रूप से सामाजिक सौहार्द की भावना हो, जो धार्मिक भावना के असहिष्णु वातावरण में जाति को मिटा देगा किन्तु भ्रातत्व भाव को जगा देगा ।

तृतीय - स्वतन्त्रता व सत्ता के मध्य समन्वय हो । समाज में व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन नहीं किया जाना चाहिए, अन्यथा समाज सुधार की एक निरंकुश सत्ता की भाँति अप्रिय प्रतीत होने लगता है । इसलिए देश की सामाजिक शासन प्रणाली के लिए विधान बनाना हम लोगों का कर्तव्य है ।

चतुर्थ - साहस व बुद्धिमता का समन्वय होना चाहिए । समाज सुधार के लिए बिना विचार किए प्रयास करना मात्र उतावलापन रह जाता है । सुधार के लिए नैतिक साहस तो आवश्यक है, लेकिन सामाजिक संबन्धों में कोई भी संशोधन हड़बड़ी व शीघ्रता से नहीं किया जाना चाहिए । न केवल विचार से ही, और न सिद्धान्तहीन कर्म से किसी स्थायी परिवर्तन की आशा की जा सकती है । साहस के अभाव में विचारणा भी निर्बलता एवं कायरता के समतुल्य है ।[1]

---

1. ब्रह्मानंद केशव, लाइफ एण्ड वर्क्स भाग प्रथम, पृ. 115-117

केशवचन्द्र सेन वस्तुतः धर्म सुधारक नहीं, वरन् एक महान् क्रांतिकारी समाज सुधारक कहा जा सकता है । उन्हें हिन्दू समाज की अवनति, अधःपतन और भ्रष्टता को देखकर भारी दुख होता था । उनका विश्वास था कि समाज की इस दुर्दशा का उत्तरदायित्व उस पुरोहित वर्ग की कुटिल चालों पर था जो जनता को अज्ञान तथा अंधविश्वास में डाले रहने के लिए दीर्घकाल से प्रयत्न करता आया था और जिसने अगणित देवी देवताओं के सम्पर्क में होने का दावा करके अपनी स्थिति को सुदृढ़ बना लिया था ।[1] उन्होंने कहा कि प्राचीन काल का भारत आधुनिक सभ्यता की तुलना में अधिक शानदार और सौम्य सभ्यता का जनक था उस समय हिन्दू एक सुन्दर साहित्य रखते थे, तथा पवित्र सामाजिक एवं घरेलू परम्पराएं तथा आचरण करते थे । वे सुशिक्षित थे और स्वयं में सुसभ्य थे कम से कम उच्च व मध्यम श्रेणी के लोगों में मूर्तिपूजक नहीं थे और न ही मूर्तिपूजा करते थे । और जातिभेद की भावना नहीं पनपती थी । किसी भी तरह का कुशल पादरी उन्हें दासता और आध्यात्मिक क्षेत्र में पराजय नहीं दे सकता था । हमारे देशवासी भूतकाल में अपने दर्शन और सिद्धान्त के लिए प्रसिद्ध थे । किन्तु आज भारत की आकृति परिवर्तित हो गयी है । सदियों पूर्व वाला भारत आज नहीं है ।[2]

केशवचन्द्र सेन के अनुसार जातिवाद और मूर्तिपूजा जैसे हथियारों से भारतवर्ष पतन की अवस्था में पहुँचा है उन्होंने हिन्दू धर्म के संस्कारों, अंधविश्वासों एवं मूर्तिपूजा से संबंधित संस्कारों का विरोध करते हुए कहा कि लोग व्यक्तिगत एवं आध्यात्मिक ईश्वर की कल्पना की ऊँचाई तक नहीं पहुँच सकते थे इसलिए मूर्तिपूजा का अविष्कार हुआ, जिसकी संरचना कुशल पुरोहितों ने की ।[3] अतः पूर्तिपूजा दूषित मान्यताओं तथा क्षुद्र अंधविश्वासों पर आधारित है। वर्तमान भारत की सामाजिक स्थिति का अवलोकन करने पर यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वास्तव में देश का कल्याण तभी हो सकता है जब भारतवर्ष जातिबंधन से ऊपर उठ जाए, उनमें भाई चारे का विकास हो और एक ही ईश्वर की पूजा हो ।[4]

---

1. केशवचन्द्र सेन का प्रथम ट्रैक्टः यंग बंगाल दिस इज फार यू, जून 1860
2. द ब्रह्म समाजः केशवचन्द्र सेन इन इग्लैंड, पृष्ठ 32
3. द ब्रह्म समाज, केशवचन्द्र सेन इन इंग्लैंड, पृष्ठ 32
4. विदेशी एकेश्वरवादी संघ 1870, 8 जून (इंग्लैंड में केशवचन्द्र सेन का व्याख्यान)

धार्मिक स्वतन्त्रता पर बल देते हुए कहा कि मूर्तिपूजा व जातिवाद जैसी भयानक कुरीतियाँ धार्मिक स्वतन्त्रता के द्वारा ही दूर की जा सकती हैं।[1] 'मूर्तिपूजा' जिसका अभिप्राय पत्थरों की पूजा है, वास्तव में इसने ब्राह्मणवादी पाडित्य के प्रभाव में लोगों को डाल दिया है।[2] उन्होंने कहा कि यह सत्य है कि भारतवर्ष में अनेकों मन्दिर हैं, देवताओं का नाम गाया जाता है ऐसी संस्थाएं व समुदाय भी हैं, जहाँ ईश्वर के उपदेश दिए जाते हैं लेकिन यदि ये उपदेश व जातिबंधन प्रगति में बाधक बने तो प्रत्येक समाज सुधारक का यह कर्तब्य बन जाता है कि वह एक ही ईश्वर की पूजा का प्रचार करे , मूर्तिपूजा व जातिवाद का खंडन करे। विभिन्न प्रकार के सम्प्रदाय जो दोष फेलाते हैं यह मनुष्य को मनुष्य से मिलाने के लिए अवरोध उत्पनन करते हैं । देश में इस प्रकार के दोष उत्पन्न होने का कारण वर्तमान हिन्दू समाज है । विश्वास व्यक्त करते हुए कहा कि यह दोष हमारे पूर्वजों में नहीं था।[3]

धार्मिक ग्रन्थों में अनेकों ऐसे उद्धरण मिलते हैं, जो निश्चयात्मक रूप से यह सिद्ध करते हैं कि हिन्दू अपने धर्म के प्रोन्नति के इतिहास में एक समय में केवल एक ही ईश्वर की पूजा करते थे । सैद्धान्तिक रूप से नहीं वरन् व्यवहारिक रूप से मूर्ति पूजा का विरोध कर उसे त्याज्य समझते थे ।

वेद प्रकृति की पूजा और अनेक शक्तियों की पूजा की शिक्षा देता है, किन्तु उसकी अनेक रिचाओं से यह स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है कि एक सच्चे परमात्मा की पूजा अनेकों नाम से की जाती है और विभिन्न विभागों के मुख्य देवता के स्वरूप में पूजा की शिक्षा देते हैं, लेकिन फिर भी ईश्वर वही एक है, परमात्मा एक ही है, इसका निरूपण इस रिचा में कर सकते हैं। व इसे इन्द्र, मित्र, वरूण और अग्नि के नाम से पुकार सकते हैं । बाद में निरीह चेतना तथा मन की अनुभूति शक्ल के रूप में कल्पित होने लगी, उसका एक निश्चयात्मक स्वरूप बन गया और उसके बाद ग्रन्थों में उल्लेख किया गया , जो बाद में

---

1. विदेशी एकेश्वरवादी संघ 1870, 9 जून(इग्लैंड में केशवचन्द्र सेन का व्याख्यान)
2. केशवचन्द्र सेन का प्रथम ट्रैक्ट:यंग बंग दिस इज फार यू, जून 1860
3. द ब्रह्म समाज: केशवचन्द्र सेन इन इग्लैंड पृष्ठ 147

वेदान्त के नाम से पुकारा गया ।[1]

हिन्दू धर्म के अन्दर बहुत से देवी देवताओं का विस्तार हुआ जिसने राष्ट्र को पतन के गर्त में गिराया है उनकी आत्मा को बेजान कर दिया है । भारत में मूर्तिपूजा के संबंध में यह कहा जाता है कि इसके बिना ईश्वर को याद नहीं कर सकते हैं ।इसका यह अभिप्राय नहीं है कि अशिक्षित आदमी ही पूजा करते हैं, अपितु बुद्धिमान मनुष्य भी जो आध्यात्मिकता में पूर्ण रूचि रखते हैं वह भी मूर्तिपूजा करते हैं । इससे यह ज्ञात होता है कि भारत का आदमी आत्मा परमात्मा की आत्मा को जानने के लिए उत्सुक है । केशवचन्द्र ने कहा कि ईश्वर "मैं हूं" के द्वारा प्रत्यक्ष करता है । इसके लिए हमें किसी विशेष प्रकार की आध्यात्मिक मार्ग की आवश्यकता नहीं है । तर्क के आधार पर निश्चित रूप से ईश्वर को सिद्ध करना पुराने पड़ गए हैं, यह भगवान में विश्वास करने वाले सच्चे भक्त को ईश्वर को सिद्ध नहीं कर सकते उसके लिए "मैं हूं" कहना ही प्रमाण है । दृढ़ता के साथ मनुष्य की आत्मा स्वीकार करती है । तर्क के आधार पर संतुष्ट हुआ जा सकता है कि ईश्वर है । जब नयी मुसीबतें परीक्षाएं होंगी तब बुद्धि पर आधारित ज्ञान बिल्कुल शून्य हो सकता है । "मैं हूं" इन दो शब्दों में गहरे अर्थ हैं । जेसा कि साधारणतया जाना जा सकता है ईश्वर का अस्तित्व है। ये दो शब्द ईश्वर का सच्चा प्रमाण प्रकट करते हैं । इसके विषय में कोई वाद-विवाद नहीं हो सकता है ।[2]

केशवचन्द्र सेन ने पुनः कहा कि शुद्ध धार्मिक विचारों से हम स्पष्ट रूप से स्वयं को अंधविश्वास के थपेड़ों से बचा सकते हैं।[3] हिन्दुओं के धार्मिक ग्रन्थों में सत्यता है, सौम्य है और क्रियाशीलता है । जिसे हम श्रद्धा से पूज सकते हैं या नतमस्तक हो सकते है यह सब अमूल्य निधि विरासत में हमारे पूर्वज हमारे लिए छोड़ गए हैं । जिसका प्रयोग करके हम सुखी हो सकते हैं । ऐसे भारतीय लोग देशद्रोही कहलाएगें, जो अपने देश के प्रति और पूर्वजों के प्रति इन सिद्धान्तों को छोड़े। ऐसे सुन्दर और दृढ़ नैतिकता के सिद्धान्तों को

---

1. रिसेप्शन इन एडनबर्ग, केशवचन्द्र सेन इन इंग्लैंड, पृ. 147
2. बिहोल्ड द लाइट आफ हेविन इन इंडिया, केशवचन्द्र सेन का व्याख्यान, 1875
   द ब्रह्म समाज केशवचन्द्र सेन इन इंग्लैंड पृष्ठ 159
3. द ब्रह्म समाज, केशवचन्द जैन इन इग्लैंड, पृ. 149

छोड़ा नहीं जा सकता है । इस प्रकार परिलक्षित होता है कि भारतवर्ष में आदिकाल के ग्रंथों तथा हिन्दुओं की संस्थाओं में भविष्य की सुधारात्मक भावनाएं सुदृढ़ और चट्टान की तरह अडिग है । इस प्रकार के विश्वस्त रूप से शुद्ध सैद्धान्तिक धर्म और नैतिकता के सिद्धान्तों के सामने, विदेशी रीति-रिवाज को भारत के कुछ ही लोग श्रद्धा की दृष्टि से आकेगें । कुछ समय बाद यह सब भी विलीन हो जाएगे अर्थात नष्ट हो जाऐगें । लेकिन यदि राष्ट्रीय विचारधारा और आत्मानुभूति के आधार पर सुधार करने का प्रयास किया जाए तो, निश्चय ही सुधार सदियों तक स्थिर रह सकेगा । वास्तव में राष्ट्रीय सूत्र के आधार पर ही भारत नागरिकता प्राप्त करेगा ।[1]

मूर्ति पूजा व अंधविश्वास जैसी कुरीतियों को दूर करने के लिए यदा-कदा हिन्दू विचारकों ने इन्हीं राष्ट्रीय सिद्धान्तों को पुनर्जीवित करने के लिए सतत् संघर्ष किया है । लगभग चार सौ वर्ष पूर्व जब लूथर की विचारधारा यूरोप में क्रान्ति ला रहा था, नानक जो वास्तव में ही पंजाब के लूथर कहे जाते थे, मूर्तिपूजा के विरूद्ध आन्दोलन छेड़ दिया था । और पंजाब में सिख समुदाय को स्थापित करने में सफल रहे । इसी प्रकार बंगाल में चैतन्य महाप्रभु ने जातिवाद के विरूद्ध आन्दोलन छेड़ा था और मानव को समानता का संदेश दिया था ।उन्होंने कहा कि ब्राह्मणों को शूद्रों के पास जाकर इस बात का गुणगान करना चाहिए कि सब एक ही ईश्वर की संतान है । चैतन्य महाप्रभु के इस प्रकार के उपदेशों का प्रभाव आज भी बंगाल में परिलक्षित होता है । जब भारत में अंग्रेजों ने अपनी शक्ति का विस्तार किया तब राजा राममोहन राय ने अंग्रेजी शिक्षा से प्रभावित होकर एक राष्ट्रीय विशुद्ध एकेश्वरवाद चर्च बनाया, उन्होंने वेद और हिन्दुओं के पूर्व धार्मिक ग्रन्थों का गहन अध्ययन किया, और साथ ही साथ महान पुस्तक बाइबिल का भी अध्ययन किया । हिन्दुओं के पूर्वग्रन्थों के प्रभुत्व को बताते हुए बंगाल के एक छोर से दूसरे छोर तक मूर्तिपूजा छोड़ने के लिए उत्साहित किया । ऐसे चर्च की स्थापना की जो कलकत्ता में ब्रह्मसमाज के नाम से प्रसिद्ध हुआ ।

---

1. द ब्रह्म समाज, केशवचन्द्र सेन इन इग्लैंड:ब्रह्मट्रेक्ट सोसायटी पृ. 148

केशवचन्द्र सेन ने जातिवाद के विरूद्ध क्रांतिकारी कदम उठाया । धार्मिक वर्गो में कोई चिन्ह न रहे इसलिए उन्होंने ब्राह्मणों के जनेऊ उतरवा दिए, और अन्तर्जातीय विवाह को मान्यता दी । इस मान्यता को देवेन्द्र नाथ ठाकुर ने स्वीकार नहीं किया, उन्होंने इसे अमान्य ठहराते हुए कहा कि यह पुराने लोगों पर आक्षेप है, और समाज के लिए अनुचित है ।[1]

वास्तव में केशवचन्द्र सेन व्यक्ति तथा समाज को जातिप्रथा के बन्धनों से मुक्त करना चाहते थे और ब्राह्मणवाद के कट्टर विरोधी थे । जैसा कि उन्होंने कहा कि इसने व्यक्ति व व्यक्ति के मध्य भेदभाव को देवी संस्थान का रूप देकर अलंघनीय व पावन ईश्वर के नाम पर उसी के संतानों के मध्य घृणा को चिरस्थायी बनाया है । सन् 1863 में केशवचन्द्र ने 'वामबोधिनी' नामक पत्रिका प्रकाशित की जिसका उद्देश्य था, झूठे जातिभेद का विरोध करना तथा अन्तर्जातीय विवादों का खुले रूप से प्रचार करना ।[2] सन् 1880 में केशवचन्द्र सेन ने संगत सभा का आयोजन किया और उनके नेतृत्व में सभा ने निम्न बातों का निर्णय लिया । प्रथम: जातिबंधन तोड़ना, द्वितीय: यज्ञोपवीत का बहिष्कार, तृतीय: मूर्तिपूजा में अनास्था, चतुर्थ:त्याग व पवित्रता का व्यक्तिगत जीवन व्यतीत करना ।

केशवचन्द्र सेन बाल विवाह तथा बहुविवाह के विरोधी एवं विधवा तथा अन्तर्जातीय विवाहों के समर्थक थे । राजाराममोहन राय की मृत्यु के पश्चात् वास्तव में सुधारवादी केवल एक ईश्वर की पूजा करने लगे थे, और एक प्रमुख पूजा के सिद्धान्त को मानने लगे, किन्तु स्वभावत: वह इतने निर्भीक नहीं थे कि वह जातिवादिता की वेदी को तोड़ डालते, और बाल विवाह, बहुविवाह, और विधवा पुनर्विवाह निषेध जैसी कुप्रथाओं को दूर कर देते । केशवचन्द्र सेन ने कहा आवश्यकता इस बात की है, ऐसी प्रथाओं को समूल नष्ट कर देना चाहिए । हमें विवाह प्रथा में सुधार और समुन्नत करना चाहिए । लोगों को विवाह के पवित्र कर्तब्य और उत्तरदायित्व को समझाना चाहिए । सिद्धान्त और कार्यरूप में सामाजिक प्रथाओं के दोषों और

---

1. एन.एस. बोस, अवेकनिंग इन बंगाल, पृ. 93
2. ब्रह्मानन्द केशव, लाइफ एण्ड वर्क्स पृ. 152

जातिभेद से दूर रहना चाहिए ।[1] इन्हीं विचारधाराओं से प्रेरित होकर ब्रह्म समाज एक होकर लगभग छः वर्षो तक अग्रसर हुआ । इसी के परिणामस्वरूप केवल पुरूषों ने ही नहीं वरन् स्त्रियों ने भी मूर्तिपूजा और अंधविश्वास से मुँह मोड़ लिया और नित्य प्रति क्रम से एक ईश्वर की प्रार्थना करते हैं और उसको धन्यवाद अर्पित करते हैं । केशवचन्द्र सेन ने हिन्दू विधवा पुनर्विवाह के लिए 1859 में विधवा विवाह नाटक की रचना की ।[2] केशवचन्द्र के नेतृत्व में ब्रह्म समाज के ही एक सदस्य ने निम्न जाति की कन्या से विवाह कर उदाहरण प्रस्तुत किया[3] इसके अतिरिक्त अगस्त सन् 1864 में एक अन्य विवाह सेन द्वारा कराया गया जो कि न केवल विजातीय ही था, अपितु विधवा विवाह भी था ।[4] उनके नेतत्व में प्रगतिशील ब्रह्मसमाज द्वारा सरकार से सन् 1862 में विवाह संबंधी कानून पास कराया गया, जो कि एक्ट-3 के नाम से जाना गया । जिसके अन्तर्गत स्त्रियों की विवाह योग्य आयु कम से कम चौदह वर्ष तथा पुरूषों के लिए विवाह योग्य आयु कम से कम अठ्ठारह वर्ष निर्धारित की गई ।[5] परन्तु सन् 1878 में स्वयं केशवचन्द्र सेन द्वारा अपनी चौदह वर्षीय पुत्री का विवाह कूच के महाराज जिसकी आयु पन्द्रह वर्ष की थी, हिन्दू संस्कारों के अनुसार की गई । वे व्यक्ति जो केशवनचन्द्र सेन को बुद्धिवादी सिद्धान्तों का विरोधी मानते थे, समाज से पृथक हो गए और एक अन्य साधारण ब्रह्मसमाज नाम की संस्था की स्थापना की ।[6]

सामाजिक एवं धार्मिक सुधारों को बढ़ावा देने के लिए केशवचन्द्र सेन ने पत्रकारिता का आश्रय लिया । इसके लिए 'सुलभ समाचार' व 'इंडियन मिरर' का प्रकाशन किया । अक्टूबर सन् 1861 में केशवचन्द्र सेन ने कलकत्ते में एक विशाल जनसभा आयोजित की, जिसमें उन्होंने मुख्यतः तीन बातों पर बल दिया था ।

प्रथम-शिक्षा प्रणाली में पूर्ण रूप से सुधार।

द्वितीय-मानसिक तथा आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति।

---

1. द ब्रह्म समाज केशवचन्द्र सेन इन इग्लैंड पृ. 150
2. ब्रह्मानन्द केशव,लाइफ एण्ड वर्क्स प्रथम भाग, पृ. 7
3. ब्रह्मानन्द केशव,लाइफ एण्ड वर्क्स; द्वितीय भाग, पृ. 60
4. ब्रह्मानन्द, केशव, लाइफ एण्ड वर्क्स प्रथम भाग पृ. 144
5. हेमचन्द्र सरकार:रिलीजन आफ ब्रह्म समाज पृ. 114
6. के.पी.करूणाकरन, रिलीजियन एण्ड पालिटिकल अवेकनिंग इन इंडिया पृ.46

तृतीय - निम्न वर्ग तथा स्त्री वर्ग के लिए शिक्षा ।[1]

सन् 1870 में केशवचन्द्र सेन ने भारतीय सुधार संघ की स्थापना की, जिसकी सदस्यता सभी भारतीयों को प्राप्त थी । इस संघ द्वारा भी शिक्षा पर अनेक महत्वपूर्ण कार्य किए, इसके अतिरिक्त मद्यनिषेध स्त्री सुधार और सस्ता साहित्य तथा दान जैसी पांच शाखाएं थी।[2]

समाज सुधार हेतु केशवचन्द्र सेन पाश्चात्य शिक्षा के समर्थक थे । इन्हीं के शब्दों में "अंग्रेजी तालीम ने मेरे दिमाग को विचलित कर दिया था और उसे खोखला बनाकर छोड़ दिया था मैंने मूर्तिपूजा का परित्याग कर दिया था, परन्तु बिना किसी विशेष धर्म के माने हुए कोई मनुष्य इस संसार में किस तरह रह सकता है ? अन्त में परमेश्वर ने कृपा करके अपनी ज्योति दिखलाई । मेरा कोई भी मित्र ऐसा नहीं था, जो मुझसे धर्म, परमात्मा और अमरत्व के विषय में कुछ कहता । मैं मूर्तिपूजा को छोड़कर बिल्कुल सांसारिक झगड़ों में फँसता जाता था । दैवी कृपा से मेरे हृदय में किसी उच्चतर वस्तु की आकांक्षा उत्पन्न हुई । मुझे इस बात का ज्ञान हो गया कि पाप क्या होता है मैंने अपने हृदय के भीतर पाप की कालिमा देखी । क्या अब इस पाप रोग का कोई इलाज नहीं था ? क्या मैं अपने जीवन को भार समझता हुआ व्यतीत कर सकता था ? परमात्मा ने कहा - नहीं, पापी तेरे लिए इस रोग से मुक्त होने की आशा है । मैंने ऊपर की ओर देखा और मुझे स्पष्टतया परमात्मा की ज्योति दिखाई पड़ी । मुझे प्रतीत हो गया कि मैं उस अनाथ बच्चे की तरह नहीं हूं जिसे कि उसके माता-पिता ने सुनसान जंगल में फेंक दिया हो और जो अँधेरे में टटोलता-फिरता हो । मुझे इस बात का अनुभव हुआ है कि परमात्मा मेरा स्वर्गीय मित्र है । स्वयं परमात्मा ने ही, जो हर समय सहायता देने के लिए निकट रहता है, यह बात मुझे बतलाई- किसी किताब ने नहीं, किसी शिक्षक ने नहीं, बल्कि परमेश्वर ने ही यह बात मेरे हृदय के गूढ़तम् प्रवेश में कहीं परमात्मा ने अत्यन्त स्पष्ट भाषा में मुझे आध्यात्मिक जीवन की कुंजी बतायी । यह कुंजी थी प्रार्थना की । प्रार्थना के कारण ही मेरे विचारों में परिवर्तन हुआ । मैंने स्वयं अपने अनुभव से इस बात को अच्छी तरह जाना कि

---

1. मेरेडिथ बार्थविक, केशवचन्द्र सेन पृ. 3।
2. वी.ए.नारायण, सोशल हिस्ट्री आफ मार्डन इंडिया पृ.100

प्रार्थना में बड़ी भारी शक्ति है । मुझमें बुद्धि, पवित्रता और प्रेम की उन्नति होने लगी "।[1]

केशवचन्द्र सेन के अनुसार इस शिक्षा के माध्यम से भारतवर्ष में पिछले पचास वर्षो से परिवर्तन आया है । सम्पूर्ण सामाजिक संगठन जागृत होकर नवजीवन के बंधन में बध गया है ।[2] लेकिन कहीं-कहीं दुर्भाग्य से लोग अंधविश्वास और अत्यन्त भौतिकवाद की ओर बढ़ रहे है । जब तक इन दोषों को सभ्यता के प्रभाव से ढकेला नहीं जायेगा , तब तक पूर्ण सुधार संभव नहीं हो सकता है ।[3] वंगीय युवकों की अधार्मिकता का कारण यह बतलाया कि गर्वमेन्ट स्कूलों में जो शिक्षा दी जाती है, वह बिल्कुल धर्मरहित होती है । इस शिक्षा का बुरा प्रभाव मात्र कुछ व्यक्तियों पर नहीं पड़ा है, बल्कि हमारी सामाजिक उन्नति के मार्ग में भी इसने बड़ी बाधा डाली दी है, और हमारे देश के लाखों निवासियों की मानसिक गृहसंबंधी और नैतिक दशा को भयंकर बना दिया है । उन्होंने विश्वास व्यक्त करते हुए यह भी कहा कि हमारे देश में नवयुवकों की मानसिक उन्नति के साथ उनके हृदय में धार्मिकता का विकास भी होता और हमारे शिक्षित देशवासी अपने को धार्मिक शिक्षा भी देते तो आज देशभक्ति केवल भाषणबाजी एवं लेखों में नहीं रह जाती बल्कि हम लोग सचमुच ही नित्य प्रति के व्यवहारों में देशभक्ति का प्रयोग करते हुए पाए जाते ।[4]

इसलिए भारत के प्रति इग्लैंड का प्रथम कर्तब्य है कि भारतवासियों में शिक्षा का और भी विस्तार किया जाए और सभी संभव साधनों को एकत्रित करके सहिष्णु शिक्षा का प्रचार और प्रसार करें । जो लोग भारतवासियों को राजभक्त बनाने की अभिलाषा रखते हैं उन्हें उचित है कि वे पहले भारतवासियों को शिक्षित बनाए । किसी जाति की क्षमता और समृद्धि रक्षा के लिए बड़े-बड़े किलों की अपेक्षा स्कूल और कालेज उत्तमत्तर उपाय है.......बंगाल में 388 आदमी के पीछे एक आदमी शिक्षा प्राप्त करता है, जिनके पास धन है, वे ही वर्तमान शिक्षा प्रणाली से शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं । और उन्हें ही इस शिक्षा का फल मिल सकता है ।

---

1. केशवचन्द्र सेन इन इग्लैंड: 28 अप्रेल 1870 लाइफ एण्ड वर्क्स पृ. 199
2. रिसेप्शन एट बाथ: केशवचन्द्रसेन 15 जून 1870 पृ. 49
3. रिसेप्शन एट बाथ:केशवचन्द्र सेन 15 जून 1870 पृष्ठ 49
4. यंग बंगाल दिस इज फार यू: लाइक एण्ड वर्क्स पृ. 6-8

लेकिन निर्धन लोगों की शिक्षा का कोई उपाय नहीं है । ....शिक्षा देने के साथ ही साथ लोगों को शिक्षा के उपयुक्त पद भी देना उचित है ।[1]

अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव के कारण ही कुछ लोग मूर्तिपूजा और जातिवाद जैसी बुराइयों से पृथक होते जा रहे हैं और सच्चे सुधार के रास्ते का निर्माण कर रहे हैं ।[2] केशवचन्द्र सेन ने पुनः कहा कि भारत में अंग्रेजी शिक्षा का जितना अधिक प्रसार होगा, उतना ही तीव्र गति से सामाजिक बुराइयाँ दूर हो सकेगीं।[3]

केशवचन्द्र सेन नारी स्वतन्त्रता के बहुत बड़े समर्थक थे । उनका विचार था कि यदि पुरूषों की शिक्षा अधिक आवश्यक है, तो स्त्रियों की शिक्षा उससे कम महत्व की नही है । कोई भी देश जिसका स्त्री वर्ग पिछड़ा हुआ हो प्रगति नहीं कर सकता है ।[4] केशवचन्द्र सेन स्त्री तथा पुरूष की समानता में विश्वास करते थे तथा दोनों के समान अधिकारों के समर्थक थे । केशवचन्द्र सेन के नेतृत्व में ब्रह् समाज ने नारी जाति के उत्थान के लिए यथोशक्ति कार्य किया ।[5]

इग्लैंड में एक सभा में केशवचन्द्र सेन ने कहा कि प्राचीन काल में हिन्दू समाज जैसा था वेसा आज नहीं रहा । जब दूसरे राष्ट्र घोर अज्ञानता और बर्बरता में डूबे हुए थे और भारतवर्ष की सभ्यता उच्च शिखर पर थी । ऐसे समय में भारतीय नारियाँ सर्वसाधारण संस्थाओं में आगे थीं। स्त्री और पुरूष एकत्र मिलते थे, स्त्रियाँ सुशिक्षिता होती थी गणित शास्त्र में निपुण होती थी, और अपने स्वामियों के साथ धार्मिक विषयों पर बातचीत करती थीं । हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक युग में ऐसे भारतीय नारियों के नाम[6] उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने धर्म के विषय में अपने पति और गुरूओं से प्रश्नोत्तर किए हैं । उन दिनों कन्याएं अपने आप ही वर चुनती थीं, किन्तु भारतवर्ष में अब वह दिन नहीं रहें । पुरूष श्रेष्ठ है या स्त्रियाँ, इस बहस में दोनों ओर से बहुत कुछ कहा जाता है । यह विरोध यह कहने से ही मिट सकता है कि किसी

---

1. केशवचन्द्र सेन इन इग्लैंड-द ब्रह्मसमाज' पृ. 129-138
2. रिसेप्शन इन एडनवर्गः पृ. 143-153
3. केशवचन्द्र सेनः विजिट टू लीवरपूल' पृ. 114
4. रिसेप्शन एट बाथः 15 जून 1870 पृष्ठ 49-50
5. एन.एस.बोस, अवेकनिंग इन बंगाल, पृ. 93
6. केशवचन्द्र सेन इन इग्लैंड द ब्रह्म समाज पृ. 129-130

किसी विषय में पुरूष श्रेष्ठ है, और किसी-किसी विषय में स्त्रियां। कोई-कोई कहते हैं पुरूषं विशेष्य है और स्त्रियां केवल विशेषण मात्र है, लेकिन पुरूष लोग पु-वाचक विशेष्य मात्र है, किन्तु कर्मकारक है और नारी रूप सकर्मक क्रिया द्वारा अनुशासित व्याप्त है । संसार में वस्तुतः स्त्रियाँ ही पुरूषों पर शासन करती हैं ।[1]

स्त्री शिक्षा की घोर अनिवार्यता बताते हुए कहा कि स्त्री शिक्षा से उसका प्रभाव आगे आने वाले युगों तक चलता रहेगा । भारतीय माताओं और सहधर्मियों को शिक्षित करने से भारतवर्ष में उत्तरोत्तर अंधविश्वास को रोका जा सकता है । स्त्री शिक्षा के बिना सुधार लाने का प्रयत्न भी किया गया, तो वह सुधार अवश्यमेव ही छिछला और आडम्बरपूर्ण होगा । उसका प्रभाव गहन एवं ग्राहय प्रभावकारी नहीं होगा । अतः अंग्रेजों का यह कर्तब्य है कि वह भारतवर्ष को अच्छी माताएं दे, जिससे वे ईश्वर के भय और सम्मान में बच्चो को शिक्षित करें। उनमें उत्कृष्ट एवं नैतिक विचारों का उद्भव हो सके जो वर्तमान समय के लिए आवश्यक है । उन्होंने यहां तक कहा कि यह बात बड़ी ही अच्छी होगी कि यदि कुछ स्त्री भारत के बाहर जाकर शिक्षा प्राप्त करके अपनी बहनों को जाति अज्ञानता स्पर्धा से मुक्त कराने का उद्देश्य बना लें ।[2]

उन्होंने कहा कि इग्लैंड वह इग्लैंड नहीं होता यदि वह स्त्री शिक्षा क्षेत्र में आगे नहीं होता।[3] भारत में स्त्री शिक्षा के विकास के लिए इग्लैंड की सहानुभूति परम आवश्यक है । उन्होंने इग्लैंड में और अन्य भागों में रहने वालों से ऐसे आंदोलन को संगठित करने का आह्वाहन किया जिससे भारतीय स्त्रियों को अज्ञान और अंधविश्वास से बचाया जा सके ।[4]
सन् 1871 में कलकत्ते में स्त्रियों के लिए, केशवचनद्र सेन ने एक प्रौढ़ विद्यालय की स्थापना की, जिनमें प्रौढ़ स्त्रियों की शिक्षा के लिए, चाहे वे स्वयं निर्दिष्ट हो अथवा दूसरों को निर्दिष्ट करना चाहें, भाग ले सकती थी । यह कार्यक्रम अत्यन्त सफल हुआ । इसमें पचास स्त्रियों ने जो सभी उच्च परिवारों की थी, विद्यालय में नियमित भाग लिया । 28 नवम्बर सन् 1876 में

---

1. द ब्रह्मसमाज :केशवचनद्र सेन इन इग्लैंड पृ. 5।
2. रिसेप्शन लिमेस्टर :केशवचन्द्र सेन इन इग्लैंड पृ. 54-6।
3. विजिट टू लीवरपूल : पृ. 116
4. रिसेप्शन एट बाथः पृ. 5।

व्यापार संबंधी तथा पुरूषों के कार्य संबंधी संस्थाएं खोली गयीं जिनका उद्देश्य था मध्यम परिवार के युवाओं को ऐसी लाभकारी कलाओं से प्रशिक्षित किया जाए, जिससे वे आत्मनिर्भर बन सके ।

ब्रह्म समाज में स्त्रियों की शिक्षा और स्वतन्त्रता का जो रूप दिखाई देता है, उसकी नींव ब्रहानंद केशव चन्द्रसेन द्वारा ही डाली गयी थी । इसके बाद से ही ब्रह्म समाज में स्त्रियों का अधिकाधिक आदर किया जाने लगा । उनकी शिक्षा और सुधार के लिए और भी प्रयत्न किए जाने लगे ।

केशवचन्द्र सेन ने भारत में मद्यनीति के प्रचलन को समाप्त करने का आह्वाहन किया । उन्होंने कहा कि इस दिशा में भारत का सबसे बड़ा सुधार उस समय होगा, जब सरकार शराब का लाइसेंस उन हाथों से सुरक्षित कर दे, जिनका उददेश्य शराब के व्यापार से अधिक से अधिक लाभ कमाना होता है ।[2] उन्होंने यह भी कहा कि अंग्रेजी शासन ने भारत में शराब पीने के व्यसन को कायम रखा है, जिसके कारण भारतीयों की आत्मा का चारित्रिक पतन व आध्यात्मिक रूप से हनन हुआ है । यह प्रथा न केवल जनमानस का पतन करती है, वरन् उनका मानसिक व चारित्रिक पतन भी करती है ।[3]

मद्यनीति का विरोध करते हुए ब्रिटिश शासन पर आरोप लगाया कि राजस्व में अभिवृद्धि के लिए भारतीयों को प्रोत्साहित किया जा रहा है । अकाल व संक्रामक बीमारियों से भी अधिक ब्रिटिश आबकारी नीति ने भारतीय जनजीवन को अस्त व्यस्त कर दिया है । शासन को धनसंग्रह के लिए राष्ट्रजनों को पाप व मृत्यु के मुँह में ढकेल देने का कोई अधिकार नही है । मद्यनीति से धन के लिए शासन द्वारा लोक चरित्र भ्रष्ट किया जाना देवी विधि, मानवीय विधि तथा ईसाईयत के भी विपरीत है ।[4] केशवचन्द्र सेन ने भारत में मद्यनीति को समाप्त करना भारत के प्रति इंग्लैंड का दूसरा कर्तब्य बताया ।[5]

---

1. वी.ए.नारायण:सोशल हिस्ट्री आफ मार्डन इंडिया, पृ. 101
2. केशवचन्द्र सेन: रिसेपशन एट मैनचेस्टर, पृ. 94
3. केशवचन्द्र सेन इन इग्लैंड:विजिट टू लीवरपूल, पृ. 116
4. ब्रह्मानंद केशव चन्द्रसेन: टेस्टीमोनीज इन मेमोरियम पृ. 157
5. केशवचन्द्र सेन से का व्याख्यान भारत के प्रति इग्लैंड के कर्तब्य पृ. 303-304

इग्लैंड में मादक द्रब्य निवारिणी सभाओं मे केशवचन्द्र सेन ने बहुधा व्याख्यान दिए थे । इग्लैंड से वापस आने पर केशवचन्द्र सेन ने यह उचित समझा कि भारत में भी इस प्रकार की सभाएं होनी चाहिए । इसलिए उन्होंने एक 'सुरापान निवारिणी सभा' आयोजित की यह सभा सर्वसाधारण में व्याख्यानों द्वारा और ट्रेक्ट बाँटकर हुयी, जो शराब पीने के दोषों को प्रकट करती थी । केशवचन्द्र सेन आबकारी विभाग की नीति के दोष प्रमाणों और तर्कों के साथ स्पष्ट करते थे । जिसके परिणामस्वरूप भारत सरकार को अपने आबकारी विभाग की नीति की जांच कराने के लिए विशेष आज्ञा देनी पड़ी थी ।[1]

राजनीतिक विचार

केशव चन्द्र सेन का विचार था कि धार्मिक प्रगति के साथ देशभक्ति का जन्म हो सकता है । यदि भारत की बौद्धिक प्रगति धार्मिक विकास के साथ चले । यदि देश के बुद्धिजीवी धर्म के जीवित सत्यों से प्रेरित होकर कार्य करे, तो देशभक्ति , प्रवचन, वक्तृता व निबन्ध की विषय वस्तु न रहकर मूर्तरूप धारण कर लेगी, जिससे 'नेटिव समाज' स्वथ्स्थ व समृद्ध हो सकेगा।[2] धर्म के जीवन तथ्य त्याग, सेवा, समर्पण, सत्य के प्रति आग्रह मानवीय शुभ संकल्प में आस्थाआदि के द्वारा देशभक्ति की प्रेरणा भारतीयों को देना चाहते थे । जिसको स्पष्ट विस्तृत सुबोध व प्रभावी ढंग से विवेकानंद व अरविन्द आदि ने कहा । भारतीय समाज के स्वास्थ से केशवचन्द्र सेन का तात्पर्य एक कुरीतिविहीन सामाजिक व्यवस्था से था, जिसके आधार विश्वजनीयता तक विस्तृत हो । केशवचन्द्र सेन देशभक्ति को व्यावहारिक रूप में देखना चाहते थे । इसके लिए आवश्यक था कि देश का सृजन वर्ग अपने को धार्मिक सत्यों के समान्तर रखता ।

---

1. केशवचन्द्र सेनः एक भारतीय हृदयः पृ. 177

2. ब्रह्मानंद केशवः लाइफ एण्ड वर्क्स, पृ. 14

जनवरी 1881 में केशवचन्द्र सेन ने नवविधान की घोषणा की । जिसमें हिन्दू, बौद्ध, ईसाई, व इस्लाम की सत्यता व एकता का प्रकाशन था । केशवचन्द्र सेन के अनुसार धर्म का कार्य मानव जाति के मध्य एकता, दृढ़ीकरण व पारस्परिकता स्थापित करने का होना चाहिए न कि विभाजन, पृथक्करण व विलगाव।[1]

केशवचन्द्र सेन ने अपने समन्वयात्मक सार्वभौमवाद के अनुरूप राज्य के संबंध में एक ऐसा सिद्धान्त प्रतिपादित किया, जो प्रत्ययवाद के बहुत निकट था । उनका विचार था कि राज्य एकजटिल ढांचा और विभिन्न प्रकार के अंगों की अवयवी एकता है । उसका उद्देश्य एक सार्वलौकिक साक्ष्य की सांमजस्य पूर्ण प्राप्ति है । धनी कुलीनों तथा पूंजीपतियों और दरिद्र किसानों तथा श्रमिकों के मेल से राज्य के अवयवी समग्र का निर्माण होता है । किसी एक वर्ग को बहिष्कृत करने से राज्य प्रभावहीन हो जाएगा । केशवचन्द्र सेन के शब्दों में "दृढ़ीकृत साहचर्य की पूर्णता ही राज्य है ।[2] :राज्य व्यवस्था में पृथकत्व, साम्प्रदायिक संकीर्णता तथा पारस्परिक घृणा की नीति के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता । सरकार वही श्रेष्ठ है , जो विभिन्न वर्गो का प्रतिनिधित्व करती है । प्रत्येक ओर न्याय की आवाज आ रही है, शक्तिहीन तथा दुर्बल को एवं मजदूर वर्ग को न्याय मिलना चाहिए । इस आवाज को न सुनने का परिणाम भयंकर होगा ।

केशवचन्द्र सेन यूरोप में किए जाने वाले सांविधानिक तथा सामाजिक प्रयोगों से परिचित थे । यद्यपि स्पष्टतः उन्होंने सामाजिक परीक्षणों का भारत के लिए समर्थन नहीं किया, परन्तु उनके भाषणों में इसका उल्लेख मिलता है । उन्होंने कहा कि यूरोप की आधुनिक राजनीति की प्रवृत्ति किसी वर्ग को अलग करने की नहीं है, वरन् सब वर्गो को सम्मिलित करने की है । किसी वर्ग को समाप्त अथवा उसकी उपेक्षा करने की नहीं है । वरन् पूरे राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करने की है ।[3] विभिन्न प्रकार के सम्प्रदाय जो दोष फैलाते हैं यह

---

1. ब्रह्मानंद केशवः लाइफ एण्ड वर्क्स, पृ. 27
2. केशवचन्द्र सेनः यूरोप को एशिया का संदेशः आन इंडिया, पृ. 506
3. पी.सी.मजूमदारः लाइफ एण्ड टीचिंग्स आफ केशवचन्द्र सेन, पृ. 353

मनुष्य को मनुष्य से मिलाने में अवरोध उत्पन्न करते हैं । उन्होंने यूरोप के लिए एशिया का प्रथम संदेश देते हुए कहा कि यह अलगाववादी विचार रूपी तलवार म्यान में रख लें, क्योंकि यह फिरकापरस्ती वास्तव में एक भोतिकवाद है जो ईश्वर की दृष्टि में घृणास्पद है । उन्होंने कहा कि जहां जीवन होगा वहाँ विभिन्नता होगी । एशिया, विभिन्नता में एकता कायम करने की कामना करता है । हर धर्मावलम्बी अपने स्पष्ट भेदों को रखें, किनतु उनको अपने मूल सिद्धान्तों के आधार पर एक होना चाहिए । यह एकता संगीत की भाँति होनी चाहिए जिस प्रकार संगीत की एकता में स्पष्ट विसंगति के बीच भी सुसंगति होती है, हर तंत्र का अपना महत्व होता है , उसका एक विशेष गुण होता है , हर ध्सनि में एक विचित्र राग होता है, फिर भी सभी ध्वनियाँ मिलकर विभिन्न तंत्रों से एक मीठा और सुरीला गान निकलता है । सच्चा संगीत मात्र ढोल या वायलिन ही नही होता है, यह तो सम्पूर्ण विभिन्न ध्वनियों चाहे वह गायन के हों या तंत्रों के उनका सम्पूर्ण तालमेल ही है । यद्यपि तंत्र और सुर अलग होते है फिर भी उनका तालमेल एक होता है । इसी प्रकार चर्च, विभिन्न जातियां, विभिन्न धर्मावलम्बी, विभिन्न मतावलम्बी के विचार एक होने चाहिए ।[1] एक अन्य उदाहरण देते हुए कहा कि शरीर के अनेक अंग होते हैं किन्तु शरीर एक है, उसी प्रकार विचार भी अनेक है, लेकिन चर्च एक है । कोई यह नहीं कहता कि मनुष्य के शरीर में केवल नाक है, या हाथ है, या सिर है, बहुत से अंग है, लेकिन उनकी हरकत एक है । नाड़ियां अनेक हैं, किन्तु वह एक स्वस्थ मजबूत और सुन्दर जीवन की रचना करती है । विभिन्न सदस्यों से बने परिवार को देखिए, उन सबकी एकता से एक सुन्दर घर की रचना होती है, अटूट एकता होती है, जो स्वर्ग जैसा लगता है, तो फिर चर्च की यह स्थापना इस घर की भाँति क्यों नहीं हो सकती।[2]

राज्य में इस प्रकार की एकता का सिद्धान्त पूर्ण रूप से मिलता है । एक विशाल प्रजातंत्र लाखों इकाइयों के साथ ज्वालामुखी पर सो रहा है, और एक अनिष्ट की संभावना सदेव बनी रहती है, इसमें एक ऐसी शक्ति है, जो इन सभी इकाइयों को एक सूत्र में बांधे हुयी हैं ।

---

1. डा. प्रेम सुन्दर बसु : लाइफ एण्ड वर्क्स आफ ब्रह्मानंद केशव पृ. 497

2. ,, पृ. 495

यह शक्ति अदृश्य शासन करने वाली शक्ति लाखों आत्माओं को एक सूत्र में बांधे हुए है, और अटूट जादू के विधान ने सबको एक संस्कृति में बाँधा हुआ है । एक राज्य एक विशाल दुरूह यांत्रिक वस्तु है , जिनमें अनगिनत विभिन्न प्रकार के और रूप के पहिए सदा चल रहे हैं । और प्रत्येक अपने अपने स्थान पर और प्रत्येक समान इष्ट प्राप्त की ओर एक समान लगे हुए हैं, यही सामूहिक बन्धुत्व की परिकाष्ठा है ।[1]

राज्य के संबंध में केशवचन्द्र सेन अवयवी ही नहीं, वरन् लगभग प्रत्ययवादी सिद्धान्त के समर्थक होते हुए भी राजकीय निरंकुशवाद के पक्षपोषक नहीं थे । अन्तर्राष्ट्रीय मैत्री के आदर्शों से प्रभावित होकर उन्होंने घोषणा की "सभ्य जगत में शक्ति का संतुलन क्या ही आश्चर्यजनक वस्तु है । लोक सभा या संसद किस तरह के विभिन्न मतों का नुमाइन्दा है, कैसा ही विभिन्न दलों अनुयायियों राजनैतिक धार्मिक एवं सामाजिक दलों का समिश्रण है ।[2] उन्होंने कहा कि प्रत्येक चर्च और अनुयायियों की नुमाइन्दगी एक राष्ट्रीय सर्वसाधारण हाउस को दी जाए, और धार्मिक जीवन के प्रत्येक पहलू को निष्ठा और कर्तब्य के प्रत्येक पहलू का उसे अनुमोदन प्राप्त होने देना चाहिए, प्रत्येक कर्तब्य प्रणाली को अपनी आवाज उठाने का अवसर देना चाहिए और प्रत्येक धार्मिक आस्थाओं को अपनी व्याख्याए करने का प्रावधान होना चाहिए जिसके फलस्वरूप स्वयं परिलक्षित होगा कि प्रतिनिधित्व संसार भर में कितना संवैधानिक है । उन्होंने यह भी कहा कि प्रत्येक अनुयायी किसी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है, और किसी निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिए होता है । जो किसी एक दूसरे के अधिकार में नहीं होता है । स्वर्ग का राज्य किसी एक अनुयायी का छोड़कर दूसरे का नहीं होता । यह यहूदी या मूर्तिपूजक नहीं होता, लेकिन यहूदी या मूर्तिपूजक, एशिया या यूरोप का, पूरब का या पश्चिम, पुरातन अथवा नूतन सभी विश्वास अथवा चरित्र का एकरस समिश्रण है । एशिया बड़े ही उदारता के साथ ऐसे साम्राज्य की संरचना के लिए उद्बोधित करता है, जिससे एक प्रेम एवं शांति का विश्व चर्च बन सके ।[3]

---

1. डा. प्रेम सुन्दर बसु 'लाइफ एण्ड वर्क्स आफ ब्रह्मानंद केशव: पृ. 495
2. केशवचन्द्र सेन, यूरोप को एशिया का संदेश' लेक्चर्स इन इंडिया पृ. 506
3. ब्रह्मानंद केशव, लाइफ एण्ड वर्क्स, पृ. 498

यह विडम्बना ही है कि इस समाज के सृजन में जहां एकता में अनेकता की सुखद संभावनाएं परिलिक्षित होती है, व्यक्तियों की एकता नहीं है, किन्तु यह बन्धुत्व एवं सौहार्द की एकता है । प्रत्येक मानव अपने व्यक्तित्व को संजोए हुए भी उस समाज का सदस्य होता है , जिससे वह पहचाना जाता है । इस प्रकार समाज की व्युत्पत्ति को देखा जाए, तो अवश्य ही समाज एकता है । सभ्यता का इतिहास समाज के संरचना का इतिहास है, राष्ट्र के संसार के विभिन्न भागों में उन्नति का एक इतिहास है । एक समय था जब मनुष्य समाज से बचना चाहता था, समाज से घृणा करते थे, उससे डरते थे इसके बाद अपने निर्जन निवास से, अपने स्वार्थ के धक्के से बाहर निकलकर आया, उसने अपने पड़ोसी को देखा, उससे परिचय किया, और उसे अपना मित्र बनाया । इससे एक थोड़े से लोगों की बस्ती बनी, समूह बना और उसमें एक छोटा सा गांव बना, जो ग्राम सभा की भाँति था । स्त्री-पुरूष एक गांव से दूसरे गांव गए और उससे व्यापार किया, ओपचारिक विचारों का आदान-प्रदान किया, आदान-प्रदान का क्षेत्र इतना विस्तृत हो गया कि सहानुभूति का घेरा हो गया, कस्बे बने और बड़े-बड़े शहर हो गए मानव प्रोन्नत का प्राकृतिक स्वभाव और अडिग झुकाव सामाजिक बन्धुत्व की ओर स्वभाविक है।[1]

केशवचन्द्र सेन के अनुसार मानव समाज के क्रियाकलापों का प्रबंध केवल कुछ बुद्धिमान नेतृत्व के द्वारा ही नहीं होता । यह महानपुरूषों का कुलीनतंत्र है , जो विश्व का संचालन करते हैं या उस पर राज्य करते हैं । परन्तु यह कुलीनतंत्र किसी तानाशाही का प्रतिनिधित्व नहीं करता । महानपुरूष अपने गुणों तथा तर्क शक्ति के द्वारा ही आम जनता पर राज्य नहीं करते अपितु वह उनकी रूचियों या इच्छाओं व विश्वास का प्रतिनिधित्व करते हैं जिन पर वह शासन करते हैं ।[2]

'महापुरूष' अपने देश तथा समय का प्रतिनिधित्व करता है । एक प्रकार से वह तत्कालीन राष्ट्रीयता का नेतृत्व करता है । उसके अन्दर आम जनता अपने विश्वास का

---

1. ब्रह्मनंद केशव, लाइफ एण्ड वर्क्स, पृ. 499
2. केशवचन्द्र सेन: लेक्चर्स इन इंडिया, पृ. 53

प्रतिनिधित्व करती है, और स्वतंत्र रूप से पैगम्बर पर विश्वास करके अपने आपको उसकी देखरेख में समर्पित कर देते हैं । वह शासन करता है, क्योंकि वह उनकी सेवा करता है, उसकी जनता उसकी आज्ञा मानकर उसका अनुसरण करती है, क्योंकि वह उन्हीं व्यक्तियों में से है, जिनकी वह सेवा करता है । इस प्रकार महापुरूष दो अर्थ में प्रतिनिधित्व करते हैं । प्रथम - वह अपने तथा युग का प्रतिनिधित्व करते हैं, दूसरे वे किसी विशेष उद्देश्य का प्रतिनिधित्व करते हैं ।[1]

'महापुरूषों' का आविर्भाव आवश्यकता के अनुसार होता है ।[2] राष्ट्रों के इतिहास में जब कभी कोई गम्भीर संकट उत्पन्न होता है, जब उन्नति तथा प्रगति का ज्वार भाटा समाज की नींव को ही हिला देता है उसी समय महान मस्तिष्क की प्रतिभा युग की मांग के अनुसार भय को उत्पन्न करने वाले खतरों को दूर करने के लिए, उन्नतिशील तथा ठोस आधारों पर समाज का सुधार करके युग की मांग को पूर्ण करने के लिए उत्पन्न होती है । उनके द्वारा समाज में बदलाव तथा राष्ट्रीय जीवन की धारा में मोड़ के नवीन बिन्दु उभरते हैं । भगवान द्वारा निर्धारित आर्थिक क्षेत्र में मानव जाति की विशेष आवश्यकताओं तथा इच्छाओं को रहस्यात्मक ढंग से पूर्ण करते हैं । एक महानपुरूष, जैसा कि कहा जाता है कि आम जनता में नया जीवन फूँकते हैं, उन्हें शक्ति प्रदान कर पुनर्जीवित करते हैं । उनके द्वारा पुरानी पीढ़ी मरती है और उसके स्थानपर नवीन पीढ़ी जन्म लेती है।[3]

'महानपुरूष' मानव जाति की भलाई के लिए इस संसार में भगवान के द्वारा भेजे जाते हैं । वह उसके दूत तथा प्रचारक है, जोहम लोगों को ईश्वरीय प्रसन्नता लाते हैं ताकि वह यहां आकर अपने प्रभावशाली ढंग से उस कार्य को पूर्ण कर सके जिसके लिए उस असीम सत्ता ने एक निश्चित शक्ति तथा बुद्धि के साथ उसको इस जगत में भेजा है । उनको संस्कृति तथा अनुभव के द्वारा महान नहीं बनाया जा सकता । ये व्यक्ति जन्म से महान् होते हैं । यह सत्य है कि वह मानव है, परन्तु यह साधारण मानव जाति से ऊपर हैं । यह ईश्वरीय है,

---

1. केशवचन्द्र सेनः लेक्चर्स इन इंडिया पृ. 55
2. हर सुन्दर मेमोरियल सीरिजःब्रंहमनंद केशव लाइफ एण्ड वर्क्स, प्रथम भाग,पृ.205
3. हरसुन्दर मेमोरियल सीरिजः ब्रह्मनन्द केशव लाइफ एण्ड वर्क्स प्रथम भाग , पृ. 205

जिसके कारण महापुरूषों को आसानी से पहचाना जा सकता है । उसके जीवन की तह में एक अदृश्य शक्ति निरन्तर कार्य करती रहती है । उसके अस्तित्व का स्तर एक अवर्णनीय रहस्यात्मक पहेली बन जाता है । कुछ राष्ट्र उनको श्रद्धा से मसीहा के रूप में देखते हैं, और उनकी भगवान की तरह पूजा करते हैं। केशवचन्द्र सेन के शब्दों में 'मैं महापुरूष मसीहा को ईश्वरीय अवतार के रूप में देखता हूं , इस अर्थ में कि वह भगवान की आत्मा है, जो हाडमांस के मानव में प्रकट हो रही है ।[1] इसका साधारण अभिप्राय है, कि ईश्वर अपने आपको मानव जाति में प्रकट करते हैं । भगवान ने मानव को नहीं बनाया अपितु भगवान मनुष्य के अन्दर है । 'महापुरूष' मनुष्य से उच्च है, इसके साथ ही केशवचन्द्र सेन ने यह भी कहा कि प्रकृति से परे या ऊपर परन्तु उनमें चमत्कारी जैसी कोई वस्तु नहीं है । महापुरूष पुच्छल तारे की भाँति केन्द्र बिन्दु के चारों ओर घूमते हैं । जेसा कि पुच्छल तारों का मार्ग तारों के घूमने की तुलना में अनिश्चित है । ठीक इसी प्रकार महापुरूषों का जीवन एक साधारण मनुष्य की तुलना से भिन्न है । एक मसीहा जो आम नहीं है साधारण मनुष्यों की अपेक्षा एक निश्चित दिशा में स्थायी रूप से नियमों के अन्तर्गत केन्द्रित रहता है ।[2]

बाइबिल के अनुसार विश्व का इतिहास 'महापुरूषों'की जीवन गाथा है । उनमें राष्ट्रों की रूचि और युग उनका चक्र लगाते हैं । ये मानव जाति की आम जनता तथा सेनाओं के साथ बिना किसी सूचना के अनजानेमें ही अपने आप नेताओं के साथ कार्य करते हैं । इनमें केवल 'महानपुरूष' के नाम ही आँखों के सामने आते हैं, और हमारी रूचि तथा सहानुभूति को जागृत करते हैं । आम जनता अधिक संख्या में उनका अनुसरण करती है । यह सब मानव जाति के इन महानपुरूषों के द्वारा होता है, इन्हीं के द्वारा भगवान स्वयं को इतिहास में प्रकट करते हैं ।[3]

केशवचन्द्र सेन ने इन महापुरूषों का धार्मिक महत्व बताते हुए कहा कि इनमें

---

1. महापुरूष केशवचन्द्र का व्याख्यान: लेक्चर्स इन ईंडिया, पृ. 47
2. हरसुन्दर मेमोरियल सीरिज: ब्रह्मनंद केशव लाइफ एण्ड वर्क्स प्रथम भाग पृ.204
3. हर सुन्दर मेमोरियल सिरीज:ब्रह्मनंद केशव लाइफ एण्ड वर्क्स प्रथम भाग पृ.201

हमारी आत्मा की गहन रूचि तथा महत्व नीहित है । राष्ट्रों का उत्थान तथा पतन, क्रान्तियां तथा युद्ध समाज कानाश करती रहेगी, परन्तु वास्तविक महानता सदेव एक स्थायी चमत्कार के रूप में इस विश्व के समस्त राष्ट्रों की लगातार आने वाली भावी पीढ़ियों को उस आगाध तथा दुर्बोध बुद्धि, शक्ति और कल्याणकारी देविक शक्तियों की निरन्तर भविष्यत्वाणी करती रहेगी । मनुष्य चाहे जितना भी महान क्यों न हो चाहे उसका चरित्र कितना ही सुन्दर तथा ईश्वरीय शक्तियों से सम्पन्न हो, फिर भी वह मानव है अतः इस दृष्टि से वह अपूर्ण तथा अयोग्य है, उसमें हजारों गल्तियाँ भी है फिर भी भगवान के अवतारों की भाँति उसको सम्मान मिलता है अतः यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि प्रत्येक मानव कुछ सीमा तक उस महान् सत्ता का या देविक शक्ति का अवतार है ।[1]

'महापुरूष' अपने युग का ही प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं वरन् यह विशेष विचार का भी प्रतिनिधित्व करते हैं । प्रत्येक महापुरूष इस संसार में, किसी महान विचार को लेकर जीता है, जिसको पूर्ण करके युग पर अपनी छाप छोड़ देता है । यह विचार अचानक नहीं आता, अपितु उसके जीवन अस्तित्व का सार है, जो भगवान के द्वारा उसके मस्तिष्क में पेदा की जाती है । यही उसके विचारों, इच्छाओं तथा प्रेरणाओं को शासित करने वाला सिद्धान्त है, जो सभी आन्दोलनों की बुनियादी या प्रारम्भिक प्रेरक शक्ति है । इसके द्वारा राष्ट्र की सभी शिकायतों तथा समस्याओं का निराकरण होता है । इस प्रकार उसका जीवन एक लगातार संघर्ष की प्रक्रिया बन जाता है, जिसका अन्त उसके जीवन के साथ होता है और यह संघर्ष तब तक निरन्तर चलता है जब कि आम जनता के विचार व्यवहारिक रूपसे सत्य का रूप न धारण कर लें।[2] महापुरूषों के चार विशेष गुण होते हैं।[3]

प्रथम: स्वार्थी नहीं होना चाहिए । महानपुरूष केवल अपने लिए ही नहीं जीवित रहते, अपितु वे दूसरों के लिए जीवित रहते हैं। क्योंकि उनका आगमन आम जनता की भलाई के लिए होता है । यदि वे स्वयं को दम घुटने वाले स्वार्थी अस्तित्व वाले वातावरण में सीमित कर लेगें तो अपनी शक्ति को क्षीण कर लेगें ।

---

1. केशवचन्द्र सेन: लेक्चर्स इन इंडिया, पृ. 46
2. ब्रह्मनंद केशव: लाइफ एण्ड वर्क्स प्रथम भाग, पृ. 207
3. 'महापुरूष' लेक्चर्स इन इंडिया(केशवचन्द्र सेन का व्याख्यान) पृ. 56

द्वितीय : वे अपने उद्देश्य को सच्चाई और संलग्नता से लेते हैं । वे स्वयं को कल्पनाओं के द्वारा धोखा नहीं देते ओर दिखावटी और कल्पना जाल से दूर रहते हैं ।

तृतीय : -उनमें स्वभाविक अपनी बुद्धि होती है । महानपुरूष अपने विचार तथा धारणाएं दूसरों से उधार नहीं लेते, वह जगत किसी मार्ग दर्शक के उदाहरण का आँखमूद कर अनुसरण नहीं करते । उनके मस्तिष्क के भीतरी भाग में पवित्र बुद्धि का स्रोत नीहित है । एक महान् सुधारक एक विशिष्ट बुद्धि का मानव होता है ।

चतुर्थ : -सभी महापुरूषों में वीरत्व अथवा अतिमानवीय-शक्ति होती है । उनमें उच्च कोटि की दृढ़ता एवं पक्का अटल विश्वास होता है । उनके चरित्र में दृढ़ता की तथा कार्य करने की एक शक्तिशाली इच्छा होती है, जो पराजय का मुँह देखना या झुकना नहीं जानती है। परन्तु यह शक्ति उसकी अपनी नहीं होती, यह भगवान की शक्ति होती है जो उसको कठिनाइयों तथा परीक्षा की घड़ियों में निरन्तर उसका साथ देती रहती है । उसको तभी सफलता प्राप्त होती है , जब वह भगवान की शक्ति से लड़ता है, न कि अपनी शक्ति से ।[1]

केशवचन्द्र ने उपर्युक्त गुणों के होने के कारण कहा कि 'हमको स्थानीय प्रभावों दबाव, दलगत भावना, या किसी विशेष सम्प्रदाय या सिद्धान्तों के बिना इन सबसे दूर रहकर महापुरूषों का सम्मान करना चाहिए । प्रत्येक महापुरूष इस संसार में भगवान के दूत के रूप में आया है, जो धार्मिक जागृति, उन्नति तथा प्रगति के लिए खुशियों के ज्वार भाटे के वितरण का मुख्य ध्येय लिए होता है ।[2]

महानपुरूषों का प्रभाव भी सबसे अधिक पड़ता है । वे उदाहरण के रूप में नैतिक शक्तियों के साथ इस संसार में आते हैं और उनके उदाहरण से हम ज्ञान का जीवन, दया और पवित्रता से जीवन व्यतीत करना सीखते हैं । प्रेरणा देने वाली महानशक्ति की तुलना किसी से भी नहीं हो सकती, यह भगवान की आत्मा में सीधा स्नान करती है । जो पूर्णतया: आत्मा में

---

1. 'महापुरूष' लेक्चर्स इन इंडिया (केशवचन्द्र सेन का व्याख्यान) पृ. 207-208
2. केशव चन्द्र सेन : लेक्चर्स इन इंडिया पृ. 65

नवीन जीवन का संचार करती है जो उसको इस सांसारिक और अपवित्रता से ऊपर रखती है । भगवान से सीधा सम्पर्क होने के कारण आत्मा अधिक शक्तिशाली हो जाती है ।[1]

केशवचन्द्र सेन की प्रकृति में 'स्वाधीनता' का प्रबल भाव छिपा हआ था । जैसा कि उनके जीवनवेद से स्पष्ट होता है 'अधीनता संसार में विष फैलाने वाली और अनेक अपवित्र कष्टों की जन्मदाता है । मैं नहीं कह सकता कि प्रारम्भ से ही मैं अधीनता से इतना विरक्त क्यो हो रहा हूं ....इसलिए आज तक मैंने अपना माथा किसी के सामने नीचा नहीं किया । इस कारण मुझे बहुत कष्ट भी उठाने पड़े हैं । तथापि मैंने स्वाधीनता के मंत्र को नहीं छोड़ा । मैंने उस स्वाधीनता को जो पहाड़ की तरह अटल है खूब कसकर पकड़ लिया है......स्वाधीनता ही मेरा सबसे पहला मंत्र है, दासता मुझसे नहीं हो सकती, किसी आदमी के पैरों तले मैं नहीं पड़ सकता । जहां एक ओर मैंने यह सब प्रतिज्ञाएँ की है वहाँ दूसरी ओर मैंने यह प्रतिज्ञा भी की है कि स्वेच्छाचार और अहंकार के अधीन कभी नहीं होऊँगा और ईश्वर के निकट मैंने जो व्रत लिए हैं उनका कभी परित्याग नहीं करूँगा।[2]

केशवचन्द्र सेन सामाजिक स्वतन्त्रता के संदेशवाहक थे ।[3] वे पराधीनता व दासता को ईश्वर के प्रति पाप मानते थे । उनका विचार है कि ईश्वर ने मनुष्य को जन्म के साथ ही स्वतन्त्रता का अधिकार दिया था लेकिन मनुष्य ने अपना यह स्वतन्त्रता का अधिकार समाप्त कर दिया ।

मनुष्य के जीवन में स्वतन्त्रता की धारणा अत्यन्त महत्वपूर्ण है । जब से सृष्टि की रचना हुयी, स्वतंत्रता की धारणा चली आ रही है । 'स्वतंत्रता ' वह शब्द है, जो ईश्वर ने दिया है, यदि इसे नहीं अपनाया गया तो न जाने कितने लोगों को दसता का जीवन सहना पड़ेगा । ईश्वर ने ही इसे अपनाए जाने की प्रेरणा दी है । अतः इस मार्ग को नहीं छोड़ना चाहिए । उनका विचार था कि पराधीनता या दासता ईश्वर के प्रति पाप है । कभी भी किसी के प्रति निर्भर होना दासता है। इसलिए जीवन में किसी के ऊपर निर्भर नहीं होना

---

1. केशवचन्द्र सेन:लेक्चर्स इन इंडिया पृ. 69
2. केशवचन्द्र सेन:जीवन वेद अध्याय-5 लाइफ एण्ड वर्क्स आफ केशव पृ. 450
3. केशवचन्द्र सेन:जीवन वेद अध्याय 5 „ पृ. 450

चाहिए । केशवचन्द्र सेन ने इसी प्रतिज्ञा को लेकर अपने नए जीवन का शुभारम्भ किया था । उनका मत था कि स्वतन्त्रता ही पूर्वाग्रह तथा अज्ञात का प्रतिहार कर सकती है। दासता चाहे मनुष्यों की हो, चाहे ग्रन्थों की हर दशा में पाप है । परिवार में पत्नी, बच्चों से लगाव दासता है, अतः इससे दूर रहना चाहिए । क्रोध, वासना आदि का दास भी नहीं होना चाहिए कोई मनुष्य यदि अपने क्रोध का दास है, तो हमें क्रोध पर ही दोष नजर आता है, लोग अपनी धनसम्पत्ति के ऊपर गर्व करते हैं, बड़े ही गर्व के साथ यह भी कहते हैं कि हमारे यहां इतने नौकर है इस प्रकार से उनके तथ्य यह प्रदर्शित करते हैं वह मानसिक रूप से दास हैं । केशवचन्द्र सेन ने यहां तक कहा कि माता पिता का कहना मानने में भी स्वतन्त्रता का हनन होता है। इसका तात्पर्य भी पराधीन होना है । हमें किसी के कहने पर महान से महान् उपलब्धि को भी नहीं अपनाना चाहिए, क्योंकि हमें स्वतंत्रता से प्यार है । स्वतन्त्रता का अर्थ घमंड, मित्याभिमान और स्वेच्छाचार नहीं है । अगर कभी किसी के कहने पर किया जाए तो केवल ईश्वर के अनुसार किया जाना चाहिए क्योंकि ईश्वर हमारे माता-पिता के समान है, ईश्वर ने हमें स्वतन्त्र रहने के लिए कहा है ।[1]

'स्वतंत्रता' ईश्वर से पृथक नहीं है ।[2] केशवचन्द्र सेन ईश्वर का भक्त होने के कारण ईश्वर निर्भरता को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्ति का एक मात्र साधन माना है । साथ ही यह भी कहा कि स्वतंत्रता बाजार से खरीदने वाली वस्तु नहीं है ।

हमें दूसरों को स्वतन्त्रता दिलाने के लिए वही कार्य करना चाहिए, जो हम अपने लिए चाहते हैं । अर्थात हमें वह नहीं करना चाहिए जो हम स्वयं अपने लिए दूसरों से नहीं चाहते हैं । अन्यथा निश्चित ही नर्क के दरवाजे हमारे लिए खुल जाऐगें और स्वर्ग के मार्ग बन्द हो जाएंगे ।[3] इस संबंध में उन्होंने प्रश्न उठाते हुए कहा कि क्या हम कभी दूसरों के दास रहे हैं ? यह कोई नहीं जानता है । ऐसी दशा में हम ही क्यों दूसरों को दास की भांति रहने दें । जब दूसरों को शासन के नेतृत्व में लाने की कोशिश नहीं की, हम कभी

---

1. केशवचन्द्र सेन:जीवन वेद और लाइफ इट्स डिवाइन डायनिमिक्स पृ. 49
2. केशवचन्द्र सेन:जीवन वेद और लाइफ इट्स डिवाइन डानिमिक्स पृ. 47
3. केशवचन्द्र सेन: जीवन वेद और लाइफ इट्स डाइबिंग डायनिमिक्स पृ. 48

मास्टर नहीं रहे, दूसरों को वही सिखाया है, जो स्वयं सीखा है सीखने वाले ही रहे है, और सीखते चले आ रहे हैं और सीखने के लिए तेयार हैं ।

केशवचन्द्र सेन ने कहा कि शासक किसी को भी नहीं बनना चाहिए क्योंकि शासन केवल एक ही है वह है ईश्वर । हम सब अलग-अलग प्रकार से स्वतंत्र है, उसी भाँति स्वतंत्र है जिस भाँति सूर्य और चन्द्रमा है । हम रहें या न रहें इन पर कोई अतर नहीं पड़ता है । हमारे समुदाय में ऐसा कोई मनुष्यं नहीं है, जो निर्भर हो अर्थात् सब स्वतंत्र हैं ।

समाज में बहुत से ऐसे लोग भी हैजिन्होंने स्वयं को पारिवारिक बन्धनों से अलग करके धार्मिक समुदाय में बांध लिया है और कुछ ऐसे लोग भी हैं जो किसी भी सांसारिक वस्तुओं से नहीं बँधना चाहते, धार्मिक संगठन में बंधना चाहते हैं किसी भी धार्मिक ग्रंथों को अपना लेते हैं, उसी के दास बन जाते हैं । किसी मनुष्य को या धार्मिक ग्रन्थ को पूर्णतया सत्य नहीं मान सकते हैं । यह ठीक है कि कोई ईसा को मानता है, चेतन्य को मानते हैं लेकिन ये लोग भी साधारण मनुष्य थे । इन्हें आदर्श नहीं माना जा सकता है क्योंकि इसमें ईश्वर का प्रकाश नहीं पहुँचा है । केशवचन्द्र सेन ने कहा कि कोई भी ऐसी पुस्तक नहीं है जिसे आदर्श कहा जा सके इसलिए हमें किसी भी पुस्तक को आदर्श नहीं मानना चाहिए ।[1]

केशवचन्द्र सेन 'स्वतंत्रता' को एक आध्यात्मिक मूल्य मानते थे वे भारत की प्राचीन आध्यात्मिक विरासत की कपटपूर्ण भोतिकवाद तथा उपयोगितावाद से रक्षा करना चाहते थे । अतः उनका संदेश था 'राष्ट्र की दासताग्रस्त आत्मा को स्वतंत्रता पूर्वक उठकर तथा सचेष्ट होकर उच्चतर जीवन के पवित्र कार्य कलाप में संलग्न हो जाना चाहिए ।[2]

केशवचन्द्र सेन ने बड़े ही सुन्दर ढंग से इस तथ्य को स्पष्ट करने का प्रयास किया है । उन्होंने कहा कि शेर की खाल का आसन बना लिया जाता है या एक तारा । ये दोनों चीजे प्रिय हैं, लेकिन इससे बहुत अधिक लगाव हो जाए तो यही चीजें हमारे जीवन में ईश्वर

---

1. केशवचन्द्र सेनः स्वतंत्रता पृ. 48
2. केशवचन्द्र सेनः लेक्चर्स इन इंडिया, पृ. 39

का स्थान ग्रहण कर लेंगी । इसलिए ऐसा न हो कि हम इनके दास बन जाएं, पूजा के समय और इसके बाद इस विषय में सोचना नहीं चाहिए कुछ ही क्षण के लिए प्रयोग किया जाता हे बहुत से लोग प्रयास करके सोने-चाँदी के लालच मेंस्वयं को मुक्त कर लेते हैं लेकिन वह मोह माया के जाल में फँसते चले जाते हैं । हमें अपनी आत्म को सभी बन्धनों से स्वतंत्र रखनी चाहिए । छोटी सी छोटी चीजों का काम हो जाने के पश्चात छोड़ देना चाहिए । क्योंकि ये चीजे हमें दास बनाने के लिए नहीं है वह हमारे लिए हे न कि हम उनके लिए हैं ।[1]

केशवचन्द्र सेन पूर्ण स्वतंत्रता के पक्ष में थे । उन्होंने यह कहा कि एक ओर स्वतंत्रता रहे, दूसरी ओर गल्तियाँ, अंधविश्वास। तो दोनों में से जीत स्वतन्त्रता की होगी, ईश्वर पूर्ण रूप से स्वतंत्रता की सहायता करेगा । उनका विचार था कि स्वतंत्रता चट्टान की भाँति शाश्वत या सत्य है । जिस प्रकार चट्टान को कभी हिलाया नहीं जा सकता है, उसी भाँति स्वतंत्रता है । इसी स्वतंत्रता ने ही हमें धार्मिक मूर्तिपूजा अंधविश्वास से ऊपर उठाया है ।[2]

केशवचन्द्र सेन समकालीन युग की प्रवृत्तियों को समझते थे । उन्होंने 'भावी धर्म संघ' शीर्षक व्याख्यान में कहा- स्वतंत्रता का प्रेम वर्तमान युग का मुख्य लक्षण है । यह बात एकदम स्पष्ट हो जाएगी, यदि हम अपने को बधाई देने की शेखीभरी प्रवृति पर ध्यान दें । जिसके वशीभूत होकर लोग कहते हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी में रह रहे हैं । स्वतंत्रता की आकांक्षा और प्रत्येक प्रकार की दासता से घृणा वर्तमान युग की भावना में इस पूर्णता के साथ व्याप्त है कि उनकी अभिव्यक्ति इस शताब्दी के नाम से ही हो रही है, और इसीलिए यह शताब्दी प्रधानतः तथा निश्चयात्मक रूप से स्वतंत्रता के युग के रूप मं प्रसिद्ध हो गयी है । स्वतंत्रता का यह प्रेम चिन्तन तथा आचरण हर क्षेत्र में व्यक्त हो रहा है । राजनीति में लोग ऐसी शासन-प्रणाली की आकांक्षा करने लगे हैं, जिसके अन्तर्गत समाज के प्रत्येक अंग को समुचित और पूर्ण प्रतिनिधित्व प्राप्त हो । जहां तक शिक्षा का संबंध है, सम्पूर्ण सभ्य विश्व में आवाज उठायी जा रही है कि जनता को ज्ञान का प्रकाश दो और उसे अज्ञान के बन्धन से

---

1. लाइफ एण्ड वर्क्स आफ केशव पृ. 5।
2. पी.सी.मजूमदार, लाइफ एण्ड टिचिंग आफ केशव चन्द्र सेन, पृ. 329

मुक्त करो । सामाजिक जीवन में परम्परा, रूढ़ि और परिपाटी के बन्धनों को तोड़ने के लिए सच्चे हृदय से संघर्ष किया जा रहा है । धर्म के क्षेत्र में आत्मा को आत्म निर्णय का अधिकार देने की बलवती इच्छा का प्रभाव दिखाई दे रहा है । स्वतंत्रता के प्रेम ने पुराने सिद्धान्तों और मतवादों में लोगों की आस्था को विचलित कर दिया है, और सत्ता के प्रति उनके सम्मान की भावना को झकझोर दिया है कि अत्यधिक निर्भीक और स्वतन्त्र अनुसन्धान से कम कोई चीज उन्हें सत्य तक पहुँचने में सहायता नहीं दे सकती । स्वतंत्रता का सही मूल्यांकन व्यक्ति तथा व्यक्ति तथा राष्ट्र को अनुप्राणित कर सकता है ।[1]

केशवचन्द्र सेन के स्वतंत्रता सम्बन्धी विचारों का सार था कि हमें ऐसी स्वतंत्रता का भोग करना चाहिए जो हमें पाप के दोषों से मुक्ति दिला सके, ऐसी परम्पराओं व ऐसे सिद्धान्तों से दूर रखें जो एकता भंग करने में सहायक है । जिससे हम एक स्वतंत्र मनुष्य के रूप में ईश्वर के सामने खड़े हो सकें ।

केशवचन्द्र सेन का मत था कि इतिहास के पीछे देवी शक्ति है । वे हीगल, बोसान्के की भाँति यह विश्वास रखते थे कि इतिहास में देवी शक्ति कार्य करती है इसलिए उन्हे ईश्वरी आदेशों में आस्था थी । उन्होंने विचार व्यक्त करते हुए कहा कि भारत में ब्रिटिश शासन को प्रादुर्भाव ऐसे समय में हुआ जब कि भारत अंधकार के गर्त में गिर रहा था । मुस्लिम आक्रमणों के साथ ही भारत का नैतिक तथा सामाजिक पतन प्रारम्भ हो चुका था, देश के लिए महान सकट का समय था । आशा की कोई किरण नहीं दिखाई दे रही थी, ऐसे समय में ब्रिटिश सरकार की एक नयी व्यवस्था हमारे देश में लेकर अवतरित हुयी । व्यक्तिगत अंग्रेजों की कर्म तथा अकर्मण्यता संबंधों के भूलों के फलस्वरूप ब्रिटेन द्वारा देश की विजय अनेक बौद्धिक तथा नैतिक उपलब्धियों की भूमिका सिद्ध हुयी थी ।[2] भारत के साथ इग्लैंड का सम्पर्क विधि का विधान था , कोई आकस्मिक घटना नहीं थी । यदि गहनता से देखने का प्रयत्न करें तो हमें निश्चय ही सर्वत्र ईश्वर की विवेकपूर्ण तथा कल्याणकारी व्यवस्था ही

---

1. केशवचन्द्र सेन का व्याख्यान 'द फ्यूचर चर्च' (23 जनवरी 1869)
   लेक्चर्स इन इंडिया पृ. 99
2. केशवचन्द्र सेन का व्याख्यान 'इंडियन रिफोर्म' 17 जून,1870

दृष्टिगोचर होती हे । इस संबंध में केशवचन्द्र सेन ने विश्वास व्यक्त करते हुए कहा कि देश कि सहायता करने के उद्देश्य से ही अंग्रेजों को यहां शासन करने के लिए स्थापित किया हे कुछ घटनाएं इस देश में उलझी अवश्य है, लेकिन ब्रिटिश शासन एक अच्छी शासन व्यवस्था के रूप में आयी है । इसी शासन व्यवस्था के अन्तर्गत सामाजिक तथा नैतिक एवं धार्मिक क्षेत्रों में अनेक सुधार किए गए । नवीन उत्साह के साथ यहां के निवासी परिवर्तन के लिए जुट गए हैं । जैसे ही अंग्रेज मन की प्रकृति का भारतीय मन से सम्पर्क हुआ, वैसे ही एक महान् क्रांति फूट पड़ी । देशी समाज केन्द्र तक हिल गया भारतीय जीवन के सभी क्षेत्र आन्दोलित हो गए, मानों किसी रहस्यमयी शक्ति ने उन्हें झंकझोर दिया हो ।[1]

भारत में अंग्रेजी शासन ईश्वर के दूतों के सदृश है।[2] जिन्होंने देश को अज्ञान तथा अंधविश्वास से मुक्ति दिलायी है । कृतज्ञता प्रकट करते हुए केशवचन्द्र सेन ने कहा कि यूरोप ने जो कुछ भी किया है, जो भी धार्मिक तथा आर्थिक लाभ पहुचाया है, हम एशियावासी उसके कृतज्ञ हैं । उसके विज्ञान और साहित्य ने, व्यापारिक ढंग ने, राजनीति और धर्म ने हमें अज्ञानता व भूलों से बचा लिया है और हमें प्रकाश, स्वतन्त्रता और खुशहाली दी है साथ ही एशिया को सदेव के लिए कृतज्ञता दी है ।[3] आज के युग में प्रत्येक मनुष्य के अन्दर जो भी एक धर्म सुधारक का रूप मिलता है, चाहे जितना ही नम्र स्वभाव का हो, वह ईश्वर की ओर से भेजा हुआ दूत है । इसलिए मेरे लिए व इसमें विश्वास करने वाले प्रत्येक मनुष्य के लिए भारत वर्ष का इतिहास ईश्वर की किताब है । ईश्वर का जीता जागता स्वर है, हमारे मुक्ति का संदेश है । उस परम पिता परमेश्वर के संरक्षण में ही हम आगे बढ़ रहे हैं । ईश्वर ने भारतवर्ष के सुधार के लिए उस आत्मा को जगाया है जो एक आग की भांति एक राज्य से दूसरे राज्य में फैल रही है । ईश्वर ने अपने ढंग से उनके हृदय की रोशनी को प्रज्जवलित किया है ।[4]

---

1. केशवचन्द्र सेनः इग्लैंड इन इंडिया (फरवरी 1870 में दिया गया एक भाषण) लेक्चरर्स इन इंडिया, पृ. 127
2. केशवचन्द्र सेन का व्याख्यान, इंडियन रिफोर्म 17 जून 1870
3. यूरोप को एशिया का संदेश (व्याख्यान) ब्रह्मनंद केशव लाइफ एण्ड वर्क्स पृ. 494
4. केशवचन्द्र सेन का व्याख्यान, बिहोल्ड द लाइट आफ हेविन इन इंडिया' केशवचन्द्र सेन इन इग्लैंड भाग दो . पृ. 152

'विधान' का अभिप्राय बहुत से वेज्ञानिकों को और अध्यात्मवाद को परेशान करता है । केशवचन्द्र सेन स्पष्ट करते हुए कहा कि ईश्वर ने जिस देश को बहुत दिनों से भुला रखा था, एक प्रकार से यह ईश्वर द्वारा दिया गया दंड था । यह दंड ईश्वर ने पक्षपात की दृष्टि से नहीं दिया था । यह नयी व्यवस्था जो ब्रिटिश शासन ने दी है, वह ईश्वर की ओर से भारतवर्ष के लिए पृथक रूप से दी है लेकिन उसे अलग करने के लिए नहीं दी गयी है । भगवान ने इस देश का निर्माण किया है वह किसी के साथ पक्षपात नहीं करता, उसकी कृपा सर्वव्यापक है । कभी रूकता है, कभी क्रियाशील हो जाता है परन्तु परमात्मा का कार्य सदेव मानव जाति की भलाई के लिए चलता रहता है जो एक विशेष रूप से एक व्यवस्थित ढंग से एक विशेष युग की आवश्यकता की घटनाओं को पूरा करता है ।[1]

केशवचन्द्र सेन ने अपने देश के प्रति चिन्ता व्यक्त करते हुए कहा कि इग्लैंड को भारत की सही परिस्थिति को समझ कर न्याय करना चाहिए । उन्होंने कहा कि इग्लैंड ने उनके देश के लोगों की बौद्धिक तथा सामाजिक दशा को प्रोन्नति करने के लिए आश्चर्य जनक कार्य किए है, लेकिन उन्होंने यह भी कहा कि भारत पर शासन करना अत्यन्त कठिन काम है । बहुत से लोग भारत के निवासियों के भाग्य को तुच्छ समझ सकते है, जंगली निवासियों का देश कह सकते हैं । शासकगण चाहे जैसाकर सकते हैं । लेकिन केशवचन्द्र सेन ने कहा कि भारत एक विशाल देश है इसका गौरवान्वित प्रतिभाशाली इतिहास रहा है । इसका भविष्य उज्जवल है ।[2]

शिकायत व्यक्त करते हुए केशवचन्द्र सेन ने भरी सभा में कहा कि संसद में भारतीय विषय को विचारार्थ सत्र के अन्तिम में लाया जाता है, जब कि संसद सदस्य अधिक परिश्रम के कारण थक चुके होते हैं । अत: भारत वर्ष के साथ एक जंगली देशवासियों की भाँति व्यवहार नहीं करना चाहिए । भारत एक विशाल देश है जहां अठारह करोड़ जनता वास करती है , जहां वर्तमान में बीस भाषाए हैं ऐसे देश के आप शासक है । आपके हाथ में एक बहुत बड़ी भयानक और अभूतपूर्व शक्ति है । चाहे तो इसका दुरूपयोग करके एक भयानक

---

1. केशवचन्द्र सेन : बिहोल्ड दी लाईट आफ हेबिन इन इंडिया केशवचन्द्र सेन इन इग्लैंड पृ.-153
2. ब्रह्मसमाज: केशवनचन्द्र सेन इन इग्लैंड पृ.55

और विद्रुप जयश्री प्राप्त कर सकते हैं । अन्यथा आप अपने इन अधिकारों का सही तरीके से और क्रिश्चियन के तरीके से आप अठ्ठारह करोड़ जो परम पिता परमेश्वर के पुत्र हैं उनको ऊपर उठाने और उनकी रक्षा करने में सफल हो सकते हैं । उन्हें ज्ञान के अँधेरे से सामाजिक बुराइयों और नैतिक पतन से बचा सकते हैं । उन्होंने विश्वास व्यक्त करते हुए कहा कि हमारे देश के उज्जवल भविष्य के लिए तब तक कार्य करते रहेगें जब तक कि भारत में शासन प्रणाली की सारी बुराइयाँ दूर नहीं हो जाती है ।[1]

केशवचन्द्र सेन ने अलगाव वादी की संकुचित धारणा को त्यागकर राष्ट्रीय एकता का संदेश दिया । ' यूरोप को एशिया का संदेश' नामक व्याख्यान में केशवचन्द्र सेन के वाक्यों में देशभक्ति संबंधी विचार झलकते हैं । उन्होंने कहा कि यूरोप ने हमारी राष्ट्रीयता को विनष्ट किया है । एशिया सारे जाने माने गिरजाघरों का संसार है । एशिया का आत्मा वसुधैव है, कैथलिक है, विस्तृत है, किसी के साथ पक्षपात नहीं करने वाली एक तरफा नहीं है और अलगाववादी नहीं है । इसने सभी बड़े पूर्वी और पश्चिमी गिरजाघरों को जन्म दिया है । एशिया की आत्मा में सभी धर्मावलम्बी स्पष्ट रूप से एकमत होकर रहते हैं । एशिया में हम जीवन रहित मृतपुरूषों के अस्थि के संयोजन को नहीं देखते किन्तु जीते-जागते चरित्र की एकता की चहल पहल की एकता को देखते हैं । 'एशिया' एक बहुत बड़ा तना है जिससे अनेक शाखाएँ करीब-करीब सभी दिशाओं में फैली हुयी हैं, यह कहीं विपरीत दिशा में भी फैली है, किन्तु उनकी जड़े एक ही मिट्टी में हैं । संसार के सभी मुख्य धर्म भाइयों की भाँति है । प्रत्येक अकेला है किन्तु समष्टि में एक परिवार का बोध होता है औरएक ही वंश के अनुरूप लगता है असंख्य विभिन्नता के बीच सजग राष्ट्रीय एकता है ।[2]

टी.एल.वासवानी के शब्दों में केशवचन्द्र सेन एशिया तथा पश्चिम की आत्मा का समन्वय चाहते थे क्योंकि केशवचन्द सेन के विचार में प्रेम तथा शान्ति का एक सार्वभौम धर्म

---

1. द ब्रह्म समाज-केशवचन्द्र सेन इन इग्लैंड पृ. 52
2. केशवचन्द्र सेन : यूरोप को एशिया का संदेश:लेक्चर्स इन इंडिया पृ. 495

संघ ही पीड़ित मानवता को मुक्ति दिला सकता है । उन्होंने भारतीय जीवन में ईसाई मूल्यों को समाविष्ट करने पर बल दिया । धार्मिक सार्वभौम-वाद के संदेशवाहक थे।[1]

'विदेश एकेश्वरवादी संघ' में केशवचन्द्र सेन ने कहा कि एशियन और यूरोपियन का कभी विभाजन नहीं होगा । सभी एक ही परमपिता परमेश्वर की संतान हैं । हिन्दू, मुसिलम , क्रिश्चियन अलग-अलग नहीं बल्कि एक पवित्र ईश्वर की पूजा करने वाले हैं । सब एक आनंद दायक परिवार है । यूरोप और एशिया पूर्व और पश्चिम सबमें वही रक्तमांस है , इसलिए यह कभी पृथक न होने वाला इशू का शरीर है । यह अनुभूति ही ईश्वर और मनुष्य के बीच अति सुन्दर है । [2]

---

1. टी.एल.वासवानी: 'ए प्रोपेट आफ हारमोनी' माई मदरलेण्ड, पृ. 96-103
2. केशवचन्द्र सेन, स्पीच एट द एनुअल कोलेशन आफ द ब्रिटिश एण्ड फोरेनयूनिटेरियन एसोसियेशन: 9 जून सन् 1870

पंचम अध्याय

राजा राममोहन राय एवं केशवचन्द्र सेन के सामाजिक तथा राजनीतिक विचारों का एक तुलनात्मक अध्ययन

विश्व के पूर्वी गोर्लाद्ध के क्षितिज पर, सदियों तक पराधीनता के कारणो, भारत की शोषित, पीड़ित, जर्जर खंडहरो पर, जब भारत के नव निर्माण के आहवाहन् का । गुल बज रहा था, उस समय "ब्रह्म समाज" एवं उसके सदस्यों ने सर्वप्रथम उसमें सम्मिलित होकर अपना सक्रिय सहयोग प्रदान किया था । राजा राममोहन राय, महर्षि देवेन्द्र नाथ ठाकुर एवं केशवचन्द्र सेन "ब्रह्म समाज" के स्वर्णिम प्रकाशवान् आभा मण्डल वाले सूर्य चन्द्रमा जैसे ऐसे प्रकाशवान नक्षत्र है, जो न केवल बंगाल को अपितु समस्त भारत को सदैव अपनी प्रभा मंडल से आलोकित करते रहेगें । उन्होंने नवीन भारत की ऐसी ठोस नींव डाली है, जो भविष्य में आने वाले तूफानों का साहस के साथ सामना करते हुए भी पूर्ण रूप से सुरक्षित रहेगी । राजा राममोहन राय एवं केशवचन्द्र सेन ऐसे प्रमुख सूत्रधार हैं, जिन्होंने अपने नवीन उद्‌गारों एवं विचारों से भारत में एक ऐसी नवीन क्राति को जन्म दिया, जिसने अर्वाचीन भारत की प्रकाश मयी ज्ञान की खोज कर तत्कालीन परिस्थितियों में ढालकर नवीन भारत का निर्माण किया था ।

जहाँ तक राजा राममोहन राय एवं केशवचन्द्रसेन के सामाजिक एवं राजनीतिक विचारों के तुलनात्मक अध्ययन का विषय है, इस संबंध में यह कहा जा सकता है कि दोनों ही समकालीन विभूतियो ने बंगाल में कुलीनघरों में जन्म लिया । दोनों विचारकों के प्रारम्भिक जीवन पर दृष्टि पात करने से यह ज्ञात होता है कि राजा राममोहन राय का जन्म ब्राह्मण परिवार में हुआ था । भिन्न-भिन्न जाति के होते हुए भी दोनों विचारक अपने प्रारम्भिक जीवन में प्रचलित पूजा पाठ में अगाध श्रद्धा रखते थे ।

राजा राममोहन राय की माता तारिणी देवी जो एक दृढ़ व्यक्तित्व वाली महिला थी, अपने पुत्र राजा राममोहन राय को धार्मिक अनुशासन में रखती थी, प्रारम्भिक जीवन में राजा राममोहन राय पर अपनी माता की धार्मिक प्रवृत्ति का इतना व्यापक प्रभाव पड़ा कि वैष्ण की पूजा बड़ी ही लगनता के साथ करते थे, और नित्य श्री मद्‌भागवत् के पाठ किए बिना जल की एक बूँद भी ग्रहण

नहीं करते थे । राजा राममोहन राय को अपने प्रारम्भिक जीवन में माता का ही संरक्षण नहीं मिला, वरन् पिता का भी सान्निध्य प्राप्त हुआ था । पिता की देख-रेख में ही राजा राममोहन राय ने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही रहकर प्राप्त की थी, जैसा कि उन्होंने अपने एक पत्र में लिखा है कि" मैंने अपनी कुल परम्परा तथा पिता की इच्छानुसार फारसी तथा अरबी भाषाओं का अध्ययन किया था अपने मातामह की कुल प्रथा तथा संस्कारों के अनुसार मैंने श्रद्धा के साथ संस्कृत भाषा और हिन्दू धार्मिक ग्रन्थों का भी अध्ययन किया था ।[1] इस प्रकार राजा राममोहन का प्रारम्भिक जीवन शिक्षा माता-पिता के संरक्षण में व्यतीत हुआ था तथापि केशवचन्द्र सेन को मात्र माता का ही संरक्षण मिल सका था । केशवचन्द्र सेन जब दस वर्ष की आयु के थे, उनके पिता श्री प्यारे मोहन का स्वर्गवास हो गया था । अतः केशवचन्द्र सेन का बाल्य जीवन अपनी माता सुश्री शारदा सुन्दरी के संरक्षण में व्यतीत हुआ । केशवचन्द्र सेन की माता भी कठोर धार्मिक प्रवृत्ति वाली महिला थी, परन्तु इन्होंने अपने पुरातन कठोर धार्मिक विचारों को मानते हुए अपने महान पुत्र केशवचन्द्र सेन के आधुनिक विचारों के साथ बड़े ही सुन्दर ढंग से सामंजस्य स्थापित किया था । अतः केशवचन्द्र सेन अपनी माता से अत्याधिक प्रभावित थे । उन्होंने लिखा है कि " तुम्हारी जैसी कोई माता नहीं हो सकती, तुम्हारे सुन्दर सभी गुणों को भगवान ने मुझे प्रदान किए है, जिन सभी को मैं अपना कहता हूँ, वे सभी तुम्हारे हैं ।[2]

राजा राम मोहन राय को अपने प्रारम्भिक जीवन में माता-पिता का संरक्षण प्राप्त होते हुए भी जीवन में कठोर संघर्ष करना पड़ा था, जब कि केशव चन्द्र सेन को केवल माता का स्नेह प्राप्त हुआ था, लेकिन उनका बाल्य जीवन भी आराम से व्यतीत हुआ और संघर्ष भी नहीं करना पड़ा था ।

किसी महापुरूष के जीवन की एक-एक घटना का मानों उसके जीवन क्रम के निर्धारण में विशिष्ट स्थान रखती है यही राजा राममोहन राय के साथ भी हुआ था ।

---

1. बिस्वास एंड गांगुली, लाइफ एंड लेटर्स आफ राजा राममोहन राय पृष्ठ-496
2. ब्रह्मानंद केशव, लाइफ एंड वर्क्स, प्रथम भाग,

राजा राममोहन राय ने प्रारम्भ में ही विभिन्न धर्मो का अध्ययन किया था, जिसके फलस्वरूप उन्हें हिन्दू धर्म में प्रचलित "मूर्ति पूजा" व्यर्थ प्रतीत हुयी थी । साथ ही वह हिन्दुओं के कर्मकाण्ड की पद्धतियों का भी विरोध करने लगे थे । अपने धर्म के प्रति अनास्था देखकर राजा राममोहन राय के पिता रमाकान्त अत्यन्त ही क्षुब्ध हुए, पिता से धार्मिक विवाद होने के कारण राजा राममोहन राय को घर छोड़ना पड़ गया था । इस घटना ने उन्हें दृढ़ निश्चयी प्रवृत्ति वाला बना दिया था, यही कारण है कि उनके विचारों में दृढ़ता देखने को मिलती है । घर से निकलकर अपने धर्म की जिज्ञासा को शांत करने के उद्देश्य से तिब्बत की यात्रा की, जहा उन्हें बौद्ध धर्म के पाखंड व मिथ्याचार भरे रूप से घृणा हो गयी थी । सभी धर्मो के सम्पर्क में आकर उन्हें एक ही ईश्वर का बोध हो चका था उन्होंने कहा कि सभी धर्मो में निराकार ईश्वर की उपासना समान रूप से विघमान है ।[1]

1803 ई0 में राजा राममोहन राय के पिता रमाकान्त की मृत्यु हो गयी थी । पिता की मृत्यु के पश्चात राजा राममोहन राय को मुर्शिदाबाद में मि0 थामस बुडफोर्ड के प्राइवेट मुन्शी की नौकरी मिल गयी । 1805 में राजा राममोहन राय ने मि0 डिग्बी की नौकरी में प्रवेश किया । मि0 डिग्बी रामगढ़ के मजिस्ट्रेट के रजिस्टार के पद पर थे, दस वर्ष तक राजा राममोहन राय ने डिग्वी के अधीन प्राइवेट मुन्शी की नौकरी की, इस लम्बे समय में राजा राममोहन राय का परिचय जान ग्विी के अतिरिक्त अन्य अंग्रेजों से हुआ । विचारों का आदान – प्रदान हुआ, जान डिग्वी को उनके प्रति विशेष सहानुभूति थी । इन्हीं की प्रेरणा से राजा राममोहन राय ने अंग्रेजी भाषा का ज्ञान प्राप्त किया था । जान डिग्बी से जब राजा राममोहन राय का परिचय हुआ था, तब वह केवल अंग्रेजी समझ सकते थे, और साधारण विषयों पर बोल सकते थे । भली–भाँति लिखना नहीं जानते थे । अंग्रेजों के सम्पर्क में आकर ही उन्होंने अंग्रेजी का गहनता से अध्ययन किया और विदेशियों के सम्पर्क में आने से यूरोपीय लोगों के आचार–विचार व व्यवहार का भी ज्ञान प्राप्त हो गया था । अंग्रेजी

---

1. आर0पी0चन्द्र और जे0के0 मजूमदार, राजाराममोहन राय लेटर्स एंड डाकुमेन्टस, पृष्ठ–30

समाचार पत्रों के अध्ययन से राजा राममोहन राय की जिज्ञासा यूरोप की राजनैतिक जीवन के प्रति जिज्ञासा बढ़ने लगी थी । यूरोपीय ज्ञान को जानने के लिए उनके मन मे यूरोप जाने की इच्छा भी जाग्रत हुयी, लेकिन इस अवधि में राजा राममोहन राय के जीवन में ऐसी घटना घटी जिसने राजा राममोहन राय का ध्यान सर्वप्रथम समाज में प्रचलित कुप्रथाओं सती प्रथा, अंधविश्वासों की ओर मोड़ दिया, जो पूरे देश को पतन की दिशा में ले जा रहे थे ।

सन् 1811 में राजा राममोहन राय के भाई जगमोहन की मृत्यु, विधवा भाभी को सती होने की घटना ने राजा राममोहन राय को अत्यन्त विचलित कर दिया था । जब आग की लपटें अनेक शरीर को छूने लगी तो असह्य ताप से बचने के लिए वह चिता से कूद जाना चाहती थी परन्तु रूढ़िवादी संबंधियों, परिवार के सदस्यों तथा पुरोहितों ने उसे मृत्यु का आलिंगन करने के लिए विवश कर दिया था । ठोल–नगाड़े व अन्य बाजे बजाकर उसकी चित्कार को व्यर्थ सिद्ध कर दिया । इस घटना ने राजा राममोहन राय को स्त्री स्वातंत्र के लिए संघर्ष करने की प्रेरणा दी, यहीं से राजा राममोहन रय ने समाज सुधार का बीड़ा उठाया ।[1]

इस प्रकार राजा राममोहन राय के विचारों को उनके संघर्ष पूर्ण जीवन ने अत्यन्त प्रभावित किया था । केशवचन्द्र सेन की माता ने अपने पुत्र के विचारों में सुन्दर समन्वय स्थापित किया था अतः केशवचन्द्र सेन ने स्वयं को सदैव ईश्वर के मध्य पाया हुआ अनुभव किया । जैसा कि उन्होंने लिखा है कि वह घर जिसमें रहता था, वह मेरे लिए कब्रिस्तान था । मैने अनुभव किया कि भगवान का हाथ मेरे ऊपर है जो मेरे चरित्र का निर्माण कर रहा है और वह महान सत्ता मुझे किसी महान कार्य को पूर्ण कराने के लिए प्रारम्भिक सिद्धान्तों का प्रशिक्षण दे रही है, जिसको मुझे पूर्ण करना है । ये सिद्धान्त अपने स्वरूप में लगभग आचार संबंधी थे ।[2] अपने विद्यार्थी जीवन में केशवचन्द्र सेन ने मानसिक तथा नैतिक दर्शन की ओर अधिक ध्यान दिया । दर्शन का इतिहास

1.नागेन्द्र नाथ चटर्जी, लाइफ आफ राममोहन राय, पृष्ठ–23

2. हर सुन्दर मेमोरियल सीरिज ब्रह्मानंद केशव लाइफ एंड वर्क्स, प्रथम भाग पृष्ठ–8

उनका प्रिय विषय था, जैसा कि उन्होंने लिखा है कि दर्शन ने सर्वप्रथम अन्तर्मुखी होना सिखाया और मेरी आँखों के बाहरी दुनियाँ के आकर्षण से हटाकर भीतरी दुनिया दुनियां की ओर मोड़ दिया, जिसके द्वारा मुझे अपनी वास्तविक स्थिति चरित्र तथा अन्तिम लक्ष्य का ज्ञान प्राप्त हुआ ।[1] केशवचन्द्र सेन राजा राममोहन राय की तत्वबोधनी पत्रिका और राजनारायण बोसकी ब्रह्म क्या है ? से प्रभावित हुए थे । इसके अलावा केशवचन्द्र सेन दीन स्टेनली के "वर्क्स" राबर्ट्सन की" सरमन्स लिड्न की "डिवनिटी आफ अवर लार्डस," सीले की "इकेहोमो" नामक पुस्तको का अध्ययन किया था, जिसके फलस्वरूप केशव चन्द्र सेन ने ईसाई धर्म के प्रति दृष्टिकोण निर्मित हुआ ।[2]

दोनों ही विचारकों ने प्राचीन ग्रन्थों का सम्मान किया है। राजा राममोहन राय ने प्राचीन ग्रंथों का अंग्रेजी अनुवाद करके तथा अन्य भाषाओं बंगला आदि में करके लोगों को अपने प्राचीन ग्रन्थों की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए समाज सुधार का बीड़ा उठाया था ।

उन्नीसवीं शताब्दी में भारत में अनेकों ऐसी प्रथाओं का प्रचलन था जो धर्म से जुड़ी हुयी मानी जाती थीं । इसके लिए राजा राम मोहन रायम ने युक्ति के उचित ओर संयत उपयोग की अवहेलना न करते हुए शास्त्रों की परीक्षा की, और कठोरता के साथ उन पर अमल कर के शास्त्रों के वास्तविक रूप को जनता के समक्ष रखा । सन् 1815 में राजा राममोहन राय ने वेदान्त सूत्र का बंगला में अनुवाद किया । सन् 1816 में "वेदान्त सार" का बंगला मं तथा "वेदान्त का अंग्रेजी अनुवाद किया और "केनोपनिषद" का बंगला व अंग्रेजी में अनुवाद किया था। इन सभी का अनुवाद करके राजा राममोहन राय ने धर्म की वास्तविकता को ही जनता के समक्ष नहीं रखा वरन् अन्य धर्मो की तुलना में अपने इन प्राचीन ग्रंथों का सम्मान भी किया ।[3]

---

1. एन0एस0बोस, अपेकनिंग इन बंगाल, पृष्ठ–92
2. जे0एन0फर्कुहर, रिलीजियस मूवमेण्ट्स इन इण्डिया पृष्ट–45
3. सोफिया डाब्सन कोलेट, लाइफ एंड लेटर्स आपु राजा राममोहन राय, पृष्ठ–63

केशवचन्द्र सेन ने भी अपने विचारों में प्राचीन ग्रन्थों का सम्मान किया है । मात्र अन्तर इतना है कि राजा राममोहरन ने अपनी कुशल लेखनी से सम्मान दिया है, केशवचन्द्र से अपने कुशल वक्तव्य से प्राचीन ग्रंथो का सम्मान किया है ।

इग्लैंड में भाषण देते हुए केशवचन्द्र सेन ने कहा कि प्राचीन काल का भारत आधुनिक सभ्याता की तुलना में अधिक शानदार और सौभ्य सम्यता का जनक था, उस समय हिन्दू एक सुन्दर साहित्य रखते थे, तथा पवित्र सामाजिक एवं घरेलू परम्पराएँ तथा आचरण करते थे । वे सुशिक्षित थे, और स्वयं में सुसभ्य थे, कमसे कम उच्च व मध्यम श्रेणी के लोगों में मूर्तिपूजक नहीं थे, और न ही मूर्तिपूजा करते थे । आज भारत की आकृति परिवर्तित हो गयी है । सदियों पूर्व वाला भारत आज नहीं है । "वैड" जैसे प्राचीन ग्रंथों का उद्धरण केशवचन्द्र सेन ने इग्लैड में अपने वक्तव्यों मे दिए है । उन्होंने कहा कि "प्रकृति की पूजा और अनेक शक्तियों की पूजा की शिक्षा देते है, किन्तु अनेक रचनाओं से यह स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है कि एक सच्चे परमात्मा की पूजा अनेकों नाम से की जाती है ।[1]

उर्पुक्त विचारों के आधार पर राजाराम मोहन राय और केशवचन्द्र सेन की तुलना करते हुए कहा जा सकता है, कि राजा राममोहन राय एक उच्च कोटि के लेखक थे, तथापित केशवचन्द्र सेन कुशल वक्ता थे ।

इस संबंध में राजा राममोहन राय एवं केशवचन्द्र से न ने जो भी विचार व्यक्त किए हैं, उनमें समानता है । राजा राममोहन राय ने कहा कि धर्म और समाज की अनुपस्थिति में केवल राजनीतिक विकास का कोई मूल्य नहीं है, जब तक हिन्दू समाज धार्मिक अंधविश्वासों और पांखड़ों से ऊपर नहीं उठेगा, तब तक राजनीतिक स्वाधीनता खोखली होगी ।[2]

---

1. द ब्रह्म समाज, केशवचन्द्र सेन इन इग्लैंड, पृष्ठ–32

केशवचन्द्र सेन ने भी अपने विचारों राजा राममोहन राय के ही विचारों का समर्थन करते हुए कहा कि बिना धर्म में परिवर्तन किए समाज सुधार करना असंभव है और साथ ही यह भी विचार प्रतिपादित किए है कि समाज सुधार का आधार धर्म होना चाहिए । सच्चा धर्म आत्मा में सवोच्च सत्ता की प्रतिष्ठा करके भ्रष्टाचारों की जड़ों पर प्रहार करता है, चाहे वह भ्रष्टाचार व्यक्तिगत चरित्र में है अथवा सामाजिक संबंधों मे । जब तक राष्ट्र पूर्वग्रहों से युक्त है, तब तक धार्मिक सुधार के बिना समाज में क्रान्ति करना केशव । चन्द्र सेन के लिए स्वीकार नहीं था ।[1]

दोनों ही विचारकोने सर्वप्रथम समाज में व्याप्त कुरीतियों को समाप्त करने के लिए सर्वप्रथम धर्मोपर कुठारघात किया है । मात्र हिन्दू धर्म में व्याप्त बाह्य आडम्बरों की ही आलोचना नहीं की वरन् सभी धर्मो का व्यापक अध्ययन करके सभी धर्मो में व्याप्त कुरीतियों की भर्त्सना भी की थी तथापि प्रेरणा स्त्रोत के रूप में राजा राममोहन राय "कुरान" से प्रभावित हुए जब कि केशवचन्द्र सेन ईसाई धर्म से अधिक प्रभावित हुए ।

राजा राममोहन राय ने वेदान्त, मांडूक्य उपनिषदों, केन उपनिषद का अंग्रेजी अनुवाद एवं बंगला अनुवाद करके इसके उद्धरणों से यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है, कि प्राचीन ग्रन्थों में मूर्तिपूजा जैसी कोई प्रथा नहीं थी । विचार व्यक्त करते हुए कहा कि अधिकांश भारतीय बहुदेववाद से उत्पन्न मूर्तिपूजा से स्वतन्त्र मस्तिष्क से निर्णय लेने की क्षमता खो बैठे हैं । उन्होंने कहा कि वेद एक ही ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करते हैं वेदों में मूर्तिपूजा के सदृश किसी कुरीति की व्यवस्था नहीं की गयी है । यद्यपि पुराणों व तंत्रों में अनेकों देवी-देवताओं का उल्लेख है, उनकी अर्चना-पद्धतियां भी भिन्न-भिन्न है तथापि किसी अभिष्ट से साक्षात्कार का अर्थ है क्रमशः अदृश्य सार्वभौम सत्ता की ओर मस्तिष्क का केन्द्रित करते जाना व मूर्तिपूजा से परे उठ जाना । मूर्तियां स्वयं पूजा की पात्र नहीं है इन अविष्कृत प्रतिमाओं की सहायता से गोपन परमसत्ता का ज्ञान प्राप्त

---

1. केशवचन्द्र सेन, लेक्चर आन सोशल रिर्फोमेशन इन इंण्डिया, 21 फरवरी 1863

करना है । जो व्यक्ति चिन्तन व मनन के द्वारा परमसत्ता की आनुभूति कर सकते है, उन्हे मूर्तिपूजा को प्रतिष्ठा की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए ।[1]

राजा राममोहन राय की भाँति केशवचन्द्र सेन ने भी मूर्तिपूजा के खंडन में वेद की ओर इंगित किया है । जहाँ राय ने अपनी लेखनी से शास्त्रों की बातों को जनता के समक्ष रखा, वही केशवचन्द्र सेन अपने भाषणों द्वारा प्राचीन ग्रंथों के उद्धरण देकर मूर्तिपूजा का खंडन किया , उन्होंने कहा कि मूर्तिपूजा जिसका अभिप्राय पत्थरों की पूजा है, वास्तव मे इसने ब्राह्मणवादी दायित्व के प्रभाव में लोगों को डाल दिया है । वेद प्रकृति की पूजा और अनेक शक्तियों की पूजा की शिक्षा देता है, किन्तु उसकी अनेक रिचाओं से यह स्पष्ट होता है कि एक सच्चे परमात्मा की पूजा अनेकों नाम से की जाती है और विभिन्न विभागों के मुख्य देवता के स्वरूप में पूजा की शिक्षा देते हैं, लेकिन फिर भी ईश्वर एक है, परमात्मा एक है इसका निरूपण एक रिचा मे कर सकते हैं । इसे इन्द्र मित्र, वरूण और अग्नि के नाम से पुकार सकते हैं । बाद में निरीह चेतना तथा मन की अनुभूति शक्ल के रूप में कल्पित होने लगी, उसका एक निश्चयात्मक स्वरूप बन गया, जो बाद में वेदान्त के नाम से पुकारा गया ।[2]

राजा राममोहन राय ने विभिन्न धर्मों का अध्ययन करके मूर्तिपूजा के खंडन के संबंध में तार्किक दृष्टिकोण अपनाने पर बल दिया है । अपनी फारसी रचना तुहफतउल मूवहिद्दीन में राजा राममोहन राय ने लिखा है कि हर मामले में यह जरूरी है कि भलाई और बुराई में फर्क करते समय ज्ञान के सिद्धान्तों का आश्रय लिया जाए, क्योकि परम दयालु परमेश्वर ने जो ज्ञान का वरदान दिया है, उसे व्यर्थ नहीं माना जा सकता है ।[3] अधिकांश चिन्तकों के मध्य बहुधा यह मतभेद बना रहा है, कि युक्ति तथा परम्परा के मध्य द्वन्द्व है या नहीं, राजा राममोहन राय का मत था कि इनमें से

---

1. सोकिया डब्सन कोलेट, लाइफ एंड लेटर्स आफ राजा राममोहन राय पृष्ठ–63
2. रिसेप्शन इन एडनबर्ग, केशवचन्द्र सेन इन इंगलैंड पृष्ठ–142
3. डा0 ताराचन्द, स्वतन्त्रता आन्दोलन का इतिहास भाग 2 पृष्ठ–224

किसी एक का ही आश्रय होना शायद अच्छा नहीं होगा, बल्कि दोनों से जो प्रकाश प्राप्त हो उसका उचित प्रयोग करके हमें अपनी बौद्धिक तथा नैतिक शक्तियों की उन्नत करने का प्रयास करना चाहिए ।[1] युक्ति के उचित और संयत उपयोग की अवहेलना न करते हुए शास्त्रों के अर्थ की सही परीक्षा की जाए और कठोरता के साथ उन्हें अमल किया जाए ।[2]

दोनों ही विचारकों ने मूर्तिपूजा का खंडन किया है । मूर्तिपूजा का खंडन दोनों ही विचारकों ने हिन्दू धर्म का विरोध करने के लिए नहीं वरन् अपने कथनों से यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि मूर्तिपूजा के पोषक जो इसमें गूढ़ प्रयोजन बताते हैं, वह मिथ्या है । इस संबंध में समानता होते हुए भी दोनों विचारकों के विचारों में कुछ भिन्नता भी मिलती है ।

राजा राममोहन राय को इस्लाम व ईसाई धर्म के अध्ययन से मूर्तिपूजा व्यर्थ सिद्ध हुयी । सोलह वर्ष की आयु से ही राजा राममोहन राय मूर्तिपूजा का विरोध करने लगे थे । प्रारम्भ में राजा राममोहन राय ने हिन्दू धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन किया था, इसी मसय इनका सम्पर्क कुछ मौलवियों से हुआ, अरबी भाषा का अध्ययन करके अनेक प्रख्यात शिक्षकों के सम्पर्क में आकर उन्होंने इस्लाम धर्म का भी अध्ययन किया । इस्लामी संस्कृति के वातावरण, कुरान और सूफी दर्शन के अध्ययन तथा उर्दू, फारसी व अरबी भाषाओं के ज्ञान ने उन्हें हिन्दू धर्म के अन्तर्गत मूर्तिपूजा की प्रथा का विरोध बना दिया था । राजा राममोहन राय ने मूर्तिपूजा का विरोधी अपनी फारसी रचना 'तुहकलउल मुवाहिद्दी' में की है । इसमें मूर्तिपूजा का विरोध तार्किक दृष्टिकोण के आधार पर करते हुए एक ईश्वर की सत्ता में विश्वास करने का आह्वाहन पूरे समाज से करने की चेष्टा की है ।[3]

केशवचन्द्रसेन को अंग्रेजी शिक्षा व ईसाई धर्म के मानवतावाद से प्रेरित होकर मूर्तिपूजा व्यर्थ प्रतीत हुयी । जैसा कि उन्होंने स्वयं लिखा है अंग्रेजी शिक्षा ने मेरे मस्तिष्क को विचलित कर

---

1. द इंग्लिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय भाग तृतीय पृ0–50
2. द इंग्लिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय भाग द्वितीय पृ0–100
3. मौलवी अब्दुल्ला, 'तुहफतउल मुवाहिद्दीन' का अंग्रेजी अनुवाद पृष्ठ 6–7

दिया था, और उसे खोखला बना दिया था, मैंने मूर्तिपूजा का परित्याग कर दिया था, परन्तु बिना किसी धर्म विशेष के माने हुए कोई मनुष्य इस संसार मे किस भाँति रह सकता है ? अन्त में परमेश्वर ने कृपा करके अपनी ज्योति दिखलाई, दैवी कृपा से मेरे हृदय मे किसी उच्चतर वस्तु की आकांक्षा उत्पन्न हुयी, मुझे इस बात का ज्ञान हो गया कि पाप क्या होता है ? मैंने अपने हृदय के भीतर पाप की कालिमा देखी । क्या अब इस पाप रोग का कोई इलाज नहीं था ? क्या मैं अपने जीवन को भार समझता हुआ व्यतीत कर सकता था ? परमात्मा ने कहा, नही पापी तेरे लिए इस सेवा से मुक्त होने की आशा हे मैंने ऊपर की ओर देखा और मुझे स्पष्टतया परमात्मा की ज्योति दिखायी पड़ी मुझे इस बात का अनुभव हुआ कि परमात्मा मेरा स्वर्गीय मित्र है । परमेश्वर ने ही मेरे हृदय के गूढ़तम् प्रवेश में कहीं परमात्मा ने अत्यन्त स्पष्ट भाषा में मुझे आध्यात्मिक जीवन की कुंजी बतायी, यह कुंजी प्रार्थना ही थी । प्रार्थना के कारण ही मेरे विचारों मे परिवर्तन हुआ मैंने स्वयं अपने अनुभव से इन तथ्य को भली भाँति जाना कि प्रार्थना में बड़ी भारी शक्ति है मुझमें पवित्रता बुद्धि और प्रेम की उन्नति होने लगी ।[1] केशवचन्द्रसेन ने 'प्रार्थना' की अतिआवश्यकता में विश्वास किया । उन्हीं के शब्दों में "मैं नहीं जानता था कि ठीक धर्म क्या था ? मैं यह भी नहीं जानता था कि वास्तविक चर्च क्या था ? प्रकाश की प्रथम आभा मेरे पास आयी मैनें आवाज सुनी कि प्रार्थना करो, प्रार्थना के अतिरिक्त और कोई रास्ता नहीं है ।"[2] इसके द्वारा केशवचन्द्रसेन की बुद्धि, पवित्रता प्रेम का विकास हुआ । अतः केशवचन्द्रसेन दो सिद्धान्तों की ओर आकर्षित हुए । प्रथम – ईश्वर हमारा पिता है । द्वितीय – प्रत्येक प्राणी हमारा भाई है । इन्हीं सिद्धान्तों से प्रेरित होकर केशवचन्द्रसेन ने तत्कालीन अंधविश्वास, मूर्तिपूजा जैसी कट्टरपन कुरीतियों का विरोध किया था ।

इस प्रकार राजा राममोहन राय ने केशवचन्द्रसेन की अपेक्षा आध्यात्मिक अर्न्तदृष्टि और बौद्धिक तर्क के मध्य जो समन्वय प्रस्तुत किया था उसमें ज्ञान शास्त्र और तर्क शास्त्र संबंधी व्यापारों की पूरी–पूरी परीक्षा नहीं की । फिर भी राजा राममोहन राय ने एक ऐसी मशाल जलायी

---

1. केशवचन्द्रसेन, जीवन वेद, ब्रह्मनेद केशव लाइफ एंड वर्मा पृ0–442
2. ब्रह्मनंद केशव, लाइफ एंड वर्क्स पृष्ठ–6

जिसका उनके समय से लेकर अब तक अधिकांश भारतीय चिन्तको ने अनुसरण किया है । एक ओर गरम विचारों वाले लोग अर्थात् कुछ भारतीय नवयुवक, भारतीय परम्परा के विरूद्ध अपने मूर्तिभंजक जोश में बहुत आगे बढ़ गए थे । दूसरी ओर रूढ़िवादी एवं पुराणपंथी भारतीयों ने आधुनिक ज्ञान का तकाज़ा न करते हुए सुधार की आवश्यकता को मानने से इन्कार कर दिया था । राजा राममोहन राय ने इन दोनों के मध्य समन्वय का एक ऐसा समाधान खोजा, जिसमें भारतीय संस्कृति के विशिष्ट योगदान को आह्वान रखते हुए चिन्तन की प्राचीन भारतीय स्वतन्त्रता के साथ पाश्चात्य के युक्तिवादी चिन्तन को एक करके देखने की चेष्टा की । उनका मत था कि धर्म के आवश्यक तत्वों को अनावश्यक तत्वों से पृथक कर दिया जाए और नैतिक तथा धर्मिक चिन्तन की एक सुदृढ़ रचनात्मक और युक्ति युक्त पद्धति प्रस्तुत की जाए ।[1] राजा राममोहन राय ने उन विषैले कंटकों और जहरीले पौधों का जंगल काट डाला, जो हिन्दू समाज को कंठावरोध कर रहा था । उन्होंने अपने कार्य के रचनात्मक पहलू मे सौम्य तर्क के सारे साधनों से काम लिया, परन्तु साथ ही उन्होंने कंटक और कुरीतियों के नाश का अपना कार्य निर्भीकता के साथ जारी रखा । अपने अकाट्य तर्कों के आधार पर, परन्तु बिना किसी प्रकार के कटु शब्द या घृणा जन्म विचार व्यक्त करते हुए राजा राममोहन राय ने मूर्तिपूजा को समाज के ताने–बाने नष्ट कर देने वाली तथा हानिकारक प्रथा कहा ।

केशवचन्द्रसेन के विचारों में उपर्युक्त राजा राममोहन राय के तार्किक दृष्टिकोण के प्रति नकरात्मक दृष्टिकोण परिलक्षित होता है । जैसा कि उन्होंने कहा कि तर्क के आधार पर संतुष्ट हुआ जा सकता है कि 'ईश्वर है' । जब नयी कठिन परीक्षाएं होगीं तब बुद्धि पर आधारित ज्ञान बिल्कुल शून्य हो सकता है । तर्क के आधार पर निश्चित रूप से ईश्वर को सिद्ध करना पुराना पड़ गया हैं । यह भगवान में विश्वास करने वाले सच्चे भक्त एवं 'ईश्वर' को सिद्ध नहीं कर सकते, उसके लिए "मैं हूँ" कहना ही प्रमाण है । "मैं हूँ" इन दों शब्दों में गहरा अर्थ है । साधारणतया जाना जा सकता है कि ईश्वर का अस्तित्व है ।[2]

---

1. कालिदास नाग एंड वर्क्स, दि इंग्लिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय भाग प्रथम पृ0–6
2. द ब्रह्म समाज, केशवचन्द्रसेन इन इंग्लैंड पृष्ठ–159

प्रारम्भ से अन्त तक राजा राममोहन राय के मूर्तिपूजा सबंधी विचारों में एकरूपता व तारतम्यता मिलती है, परन्तु केशवचन्द्रसेन के विचारों में एकरूपता का अभाव मिलता है । सन् 1881 में केशवचन्द्र ने नव–विधान की नींव डाली, इसमें सेन निराकार उपासना से हटकर हिन्दू मंदिरों के भजन, पुष्प, दीप, नैवध की ओर आकृष्ट हो गए थे । यद्यपि वह किसी मन्दिर में नहीं गए, न ही मूर्तिपूजा की परन्तु हिन्दुओं की पूजा का भाव उनकी पूजा में भी झलकने लगा था । जब बंगाल में प्रार्थना करते थे तो हिन्दुओं के देवताओं का एक–एक करके नाम लेते थे और कहते थे कि इनसे ईश्वर की एक–एक शक्ति का प्रकाश होता है ।

केशवचन्द्रसेन ने 'नवसंहिता' के अन्तर्गत नैमित्तिक क्रिया–कलाप शीर्षक में लिखा है कि दैनिक उपासना के प्रति विशेष दृष्टि रखनी चाहिए । देवालयों की वेदी, संगीत पुस्तक, श्लोक संग्रह ग्रन्थ, उपासकों के बैठने के आसन, एक तारा इत्यादि वाद्ययन्त्र तथा पुष्पाधार इत्यादि परिष्कार रखने चाहिए । परिवार की महिलाओं को ताज़े पुश्प चयन करके देवालयों को सजाना चाहिए । हिन्दू मूर्तिपूजा सर्वथा त्याज्य नहीं है और न ही अनादरणीय है यह ईश्वर के लखस्वा भग्नशेषों का प्रतिरूप है । इन सबको जोड़ लिया जाए तो अखण्ड ब्रह्म को प्राप्त किया जा सकता है ।[1]

बहुदेववाद एवं मूर्तिपूजा के विरूद्ध राजा राममोन राय के संघर्ष की अनुप्रेरणा दार्शनिक आस्था के अतिरिक्त राष्ट्रीय और सामाजिक आचार शास्त्रीय में भी नीहित थी ।[2]

राजा राममोहन राय एवं केशवचन्द्रसेन दोनों ही विचारकों ने 'जाति प्रथा' को एक भयानक सामाजिक कुरीति के रूप में देखा और इसके उन्मूलन हेतु अथक प्रयास किये । राजा राममोहन राय का जातिप्रथा के संबंध में विचार था "हम लोग लगभग नौ शताब्दियों से पराधीनता

---

1. ब्रह्मनंद केशवचन्द्र सेन, नवसंहिता, अंग्रेजी न्यू संहिता के बंगलानुवार का श्रीमती यशोदा देवी पमार द्वारा हिन्दी भाषान्तिरीत, जनवरी 1959 कलकत्ता
2. ए0आर0 देसाई, भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, पृष्ठ–230

के शिकार रहे है, इसका कारण यही हे, कि हम सैकड़ों जातियों में विभक्त है, तथा हमारी सभ्यता का अतिवाद हो रहा है ।[1] केशवचन्द्रसेन के विचार भी राजा राममोहन राय की ही भाँति थे, जैसा कि उन्होंने भी कहा कि जाति व्यवस्था ने व्यक्ति व व्यक्ति के मध्य भेदभाव व दैवी संस्थान का रूप देकर अलंघनीय व पावन ईश्वर के नाम पर उसी की संतानों के मध्य घृणा व वैमनस्य को चिरस्थायी बना दिया है ।[2]

यद्यपि उपर्युक्त विचारों में राजा राममोहन राय एवं केशवचन्द्रसेन के विचारों में समानता परिलक्षित होती है, कि जाति प्रथा ने सामाजिक एकता को समाप्त करके देश को पतन के गर्त में पहुँचाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है । अतः इसे दूर करना अति आवश्यक है ।

'जाति प्रथा' को समाप्तकरने में राजा राममोहन राय कोई क्रांतिकारी कदम नहीं उठा सके थे, इसका कारण यद्यपि समयाभाव हो सकता है, तथापि केशवचन्द्रसेन इसको दूर करने के निमित्त कठोर कदम उठाए । सन् 1863 में केशवचन्द्रसेन ने 'वामबोधनी' नामक पत्रिका प्रकाशित की, जिसका उद्देश्य था झूठे जाति भेद का विरोध करना था तथा अन्तर्जातीय विवाहों का खूले रूप में प्रचार करना था ।[3] सन् 1880 में केशवचन्द्रसेन ने संगत सभा का आयोजन किया था, उनके नेतृत्व में भी निम्न बातों का निर्णय लिया था, जिसमें जाति बंधन तोड़ना सर्वोपरी था ।

जातिबंधन तोड़ना, यज्ञोपवीत का बहिष्कार, मूर्तिपूजा मे अनास्था एवं त्याग व पवित्रता का व्यक्तिगत जीवन व्यतीत करना ।[4]

केशवचन्द्रसेन ने जाति प्रथा को तोड़ने के लिए न केवल भारत में वरन् इंग्लैंड में भी अपने कुशल वक्तव्य से लोगों को मूर्तिपूजा और जातिप्रथा को समाप्त करने के लिए इंग्लैंड की

---

1. स्मारक ग्रंथ, द फादर आफ मार्डन इण्डिया भाग दो पृष्ठ–75
2. ब्रह्मनंद केशव, लाइफ एंड वर्क्स पृष्ठ–152
3. ब्रह्मनंद केशव, लाइफ एंड वर्क्स पृष्ठ–152
4. वही पृष्ठ–160

सहानुभूति की आवश्यकता पर बल देते हुए कहा भारतवासियों में सत्ता भ्रातत्व भाव उत्पन्न करना चाहिए, और ऐसे सार्वलौकिक भाव पैदा करें जिससे वर्ण संबंधी भेद विस्मृत हो जाएँ । मूर्तिपूजा व अंधविश्वास की भांति जाति प्रथा भी हमारे पूर्वजों की देन नहीं है । जातिवाद की भावना क्षुद्र प्रकृति के व्यक्तियों के हृदय से संबंधित है । एक विशाल हृदय वाले मनुष्य के लिए प्रत्येक मनुष्य एक दूसरे का बन्धु है । केशवचन्द्रसेन ने जाति प्रथा के विरूद्ध आन्दोलन छोड़ने वाले महापुरुष का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहा कि चैतन्य महाप्रभु ने अभिमानी ब्राह्मणों को अपने निम्न स्तर के शूद्रों के पास जाकर उनसे एक हृदय से प्रेम करने की प्रेरणा दी थी । आज भी बंगाल में उनके उपदेशों तथा उनके व्यक्तित्व का प्रभाव देखने को मिलता है। इस प्रकार के शुद्ध धार्मिक विचारों ने भारत वर्ष को अंधविश्वास के थपेड़ों से बचाने का प्रयास किया है । अतः जाति व्यवस्था की कट्टरता को कम करने का सकारात्मक पहलू बताते हुए केशवचन्द्रसेन ने कहा कि समाज में हितों की एकता को जन्म देने के लिए वातावरण तैया किया जाए अन्तर्जातीय विवाह व भोजन को बढ़ावा देना चाहिए ।

केशव ने कुशल वक्तव्यों से जातिप्रथा का खंडन किया वही राजा राममोहन राय ने महानिर्वाणतंत्र का उद्धरण दिया था । महानिर्वाणतंत्र में शैव विवाह पद्धति में अवस्था तथा जाति या नस्ल का कोई भेदभाव नहीं है । एक व्यक्ति उस औरत से विवाह कर सकता है, जो कि पाप रहित है, 'सपिण्ड' नहीं है तथा जो विवाह के लिए वर्जित क्षेत्र में नहीं आती ।[1]

उपर्युक्त दृष्टिकोण के आधार पर राजा राममोहन राय और केशवचन्द्रसेन के विचारों को व्यावहारिक दृष्टिकोण और दार्शनिक दृष्टिकोण का नामदे सकते हैं । केशवचन्द्रसेन ने चैतन्य महाप्रभु का उदाहरण प्रस्तुत किया और राजा राममोहन राय ने न केवल धार्मिक ग्रंथों का उद्धरण दिया, वरन् व्यावहारिक रूप से स्वयं समुद्र पार जाकर यूरोपीयों के साथ जाति प्रतिबन्धों के होते हुए भी भोजन किया ।[2]

---

1. महानिर्वाण तंत्र, नवमोल्लास,, श्लोक संख्या 279
2. एम0ए0 बुश, राममोहन राय द मैन एंड हिज़ वर्क पृष्ठ–72

इस संबंध में राजा राममोहन राय और केशवचन्द्रसेन के विचारो मे एक भिन्नता यह भी देखने को मिलती है, कि राजा राममोहन राय ने ब्राह्मणों को सर्वोच्च स्थान को स्वीकारते हुए यह भी कहा है कि किसी जाति विशेष को किसी विशेष क्षेत्र में कार्य करने की ईश्वरीय प्रतिभा प्राप्त है। जबकि सेन ने कठोरतापूर्वक ब्राह्मणों का पूर्ण रूप से खंडन किया है। धार्मिक वर्गों मे कोई चिन्ह न रहे, इसलिए केशवचन्द्रसेन ने ब्राह्मणों के जनेऊ तक भी उत्रवा दिए थे, जिसे महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने स्वीकार नहीं किया महर्षि देवेन्द्र नाथ ठाकुर ने इसे अमान्य ठहराते हुए कहा कि यह समाज के लिए अनुचित है, पुराने लोगों पर आक्षेप है।[1] महर्षि देवेन्द्र नाथ ठाकुर ने केशवचन्द्रसेन के विचारों को अमान्य ठहराते हुए उपवीतधारी ब्रह्मणों को भी वेदी पर बैठाकर आचार्य का कार्य करने को प्रेरित किया। इसी कारण केशव और महर्षि में मतभेद हुआ और ब्राह्म समाज दो भागों में बँट गया। महर्षि देवेन्द्र नाथ ठाकुर का आदि ब्रह्म समाज और केशवचन्द्रसेन का भारतवर्षी बृहत समाज के नाम से आगे चला।

अतः उपर्युक्त आधार पर कहा जा सकता है कि केशवचन्द्रसेन ने जाति प्रथा को तोड़ने में क्रातिकारी कदम उठाए। केशवचन्द्रसेन अधिक प्रगतिशील थे। अगस्त 1864 में एक अन्तर्जातीय विवाह केशवचन्द्रसेन द्वारा कराया गया। ब्रह्म समाज के ही एक सदस्य ने निम्न जाति की कन्या से विवाह करके अनोखा उदाहरण प्रस्तुत किया था।[2]

केशवचन्द्रसेन अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव के परिणामस्वरूप स्वयं आध्यात्मिक जीवन की ओर झुक गए थे। अंग्रेजी शिक्षा के कारण उन्हें मूर्तिपूजा व्यर्थ प्रतीत हुयी थी। अंग्रेजी शिक्षा का प्रभाव केशवचन्द्र सेन के व्यक्तिगत जीवन पर अधिक पड़ा था।[3] इनके विचार में अंग्रेजी शिक्षा आध्यात्मिक जीवन की कुंजी है, अर्थात् जहाँ राजा राममोहन राय ने अंग्रेजी शिक्षा का पश्चिम के देशों के वैज्ञानिक एवं प्रजातांत्रिक विचारों के रूप में स्वागत किया[4] वहीं केशवचन्द्र सेन ने अंग्रेजी

---

1. शिवनाथ शास्त्री, ब्रह्मसमाज का इतिहास, पृष्ठ–
2. ब्रह्मनंद केशवचन्द्रसेन, लाइफ एंड वर्क्स, पृष्ठ–144
3. केशवचन्द्र सेन, लाइफ एंड वर्क्स, पृष्ठ–199
4. राजा राममोहन राय, हिज़ लाइफ सइटिंग्स स्पीचिस, पृष्ठ–42

शिक्षा को आध्यात्मिक जीवन की ओर प्रेरणा देने के रूप में स्वागत किया है ।

आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा पद्धति और चिंतन शैलियों के प्रसाद आदि के फलस्वरूप भारत में राष्ट्रीय एवं प्रजातांत्रिक जागरण हुआ उसकी अभिव्यक्ति यह भी थी जिस मध्ययुगी सामाजिक अधीनस्थता और प्रपीड़न से भारतीय नारी सदियों से त्रस्त थी उसके मुक्ति के लिए आन्दोलन प्रारम्भ हुए ।

केशवचन्द्रसेन ने राजा राममोहन की भांति निर्धन लोगों के लिए निःशुल्क शिक्षा की मांग की । दोनों की विचारकों ने देश की प्रगति हेतु नारी शिक्षा का समर्थन किया है, परन्तु राजा राममोहन राय की अपेक्षा केशवचन्द्रसेन ने "नारी शिक्षा" को महत्वपूर्ण विषय बताते हुए कहा कि यदि पुरुषों की शिक्षा आवश्यक है, तो नारी शिक्षा को इसमें कम नहीं आंकना चाहिए । कोई भी देश तब तक प्रगति नहीं कर सकता है, जब तक उसका स्त्री वर्ग पिछड़ा हुआ होगा । शिक्षा के क्षेत्र में स्त्री–पुरुष दोनों में समानता होनी चाहिए ।[1]

राजा राममोहन राय की भाँति केशवचन्द्रसेन ने अपने विचारों में आर्थिक दृष्टि से स्त्री–पुरुष की समानता पर विचार व्यक्त नहीं किए हैं ।

राजा राममोहन राय ने स्त्री–पुरुष को समानता की कसौटी पर लाने के लिए अपने लेखों, निबन्धों में सामाजिक एवं नागरिक क्षेत्रों में ही स्त्री स्वतंत्रता के लिए विचार व्यक्त नहीं किए वरन् स्त्रियों की सम्पत्ति के अधिकारों का समर्थन भी किया है ।[2]

"स्त्रियों के प्राचीन सम्पत्ति के अधिकारों का आधुनिक युग के अतिक्रमण" नामक लेख में राजा राममोहन राय ने स्त्रियों के सम्पत्ति के अधिकारों का समर्थन करते हुए याज्ञवल्य, काव्यायन,

---

1. रिसेप्शन एटबाथ केशवचन्द्रसेन का भाषण 15 जून 1870
2. कालीदास नाग एण्ड वर्मन इग्लिश वर्क्स आफ राजा राम मोहन राय, प्रथम भाग, पृष्ठ–5

नारद, विष्णु, बृहस्पति तथा व्यास में संकलित स्त्री उत्तराधिकार संबंधी नियमों का उल्लेख करते हुए कहा कि प्राचील काल में स्त्रियां अधिक अधिकारों से वंचित नहीं थीं ।[1]

राजनीतिक विचारों की तुलना

राजा राममोहन राय एवं केशवचन्द्र सेन के राजनीतिक विचारों पर दृष्टिपात करने पर यह कहा जा सकता है कि दोनों ही विचारकों के राजनीतिक विचार ऐसे नहीं थे, कि हम उन्हें राजनीतिक नेता के रूप में संज्ञा दें । अर्थात् इनके विचार हाब्स, लाक, रूसो, बेंथम्, मिल आदि विचारकों की श्रेणी में नहीं आते हैं । सही अर्थ में अपने युग के महान् धर्म तथा समाज–सुधारक थे । परन्तु उनके सुधारवादी तर्क तथा कार्य अन्तोत्गत्वा भारत में राजनीतिक पुनर्जागण की प्रेरण दे रहे थे ।

भारत के सर्वांगीण पतन का मुख्य कारण वर्षों से चली आ रही उसकी राजनीतिक दासता थी । राजा राममोहन राय ने अपने युग की पाश्चात्य देशों में कुछ स्वतन्त्रता रूपी क्रांतियों का ज्ञान प्राप्त किया था, फ्रांसीसी क्रांति के महत्वपूर्ण नारे स्वतन्त्रता–समानता, बन्धुत्व से प्रभावित हुए थे, तथापि यह उनकी राजनीतिक दूरदर्शिता का ज्वलन्त प्रमाण ही माना जाएगा, कि उन्होंने भारत की राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए ऐसे किसी क्रांतिकारी आन्दोलन को सफलता की दृष्टि से अव्यावहारिक तथा अवांछनीय व भ्रामक समझा । अतएव उन्होंने अनुभव किया कि राजनीतिक स्वाधीनता के लिए समाज सुधार, शिक्षा प्रसार तथा राजनीतिक चेतना की जागृति करना प्रथम आवश्यक है और शासकों के साथ सहयोग करके संवैधानिक तरीकों से उनके समाज राजनीतिक एवं प्रशासनिक मांगों को रखकर ही स्वतंत्रता प्राप्त करना श्रेयस्कर होगा ।[2] राजा राममोहन राय ने इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रेस की स्वतंत्रता, न्याय व्यवस्था में सुधार, विधि निर्माण आदि की मांगे रखना आरम्भ

---

1. कालिदास नाग एंड बर्मन इंग्लिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय, प्रथम भाग पृष्ठ–5
2. सोकिया डी0 कोलेट "लाइफ एंड लेटर्स आफ राजा राममोहन राय पृष्ठ–23

किया । भारत की विविध राजनीतिक समस्याओं पर भारतीय परिस्थितियों के सन्दर्भ मे चिन्तन किया भारत को एक नवीन राजनीतिक दर्शन प्रदान किया ।

केशवचन्द्र सेन ने यद्यपि राजा राममोहन राय के अनुयायी के रूप में ही राजनीतिक दर्शन का प्रसार किया था । केशवचन्द्र सेन भी संवैधानिक तरीकों से राजनीतिक स्वायत्तता की मांग करने, पाश्चात्य संबंध बनाए रखने तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता से पूर्व भारत में सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक क्षेत्रों में सुधार लाने के पक्ष में थे । परन्तु केशवचन्द्र सेन अपने राजनीतिक विचारों में व्यवहारिक दृष्टिकोण से खरे नहीं उतरते हैं । जिस प्रकार राजा राममोहन राय फ्रांसीसी क्रांति से प्रभावित होकर भी ऐसी क्रांति को भारत के लिए उचित नहीं बताया । 50 प्रकार का दृष्टिकोण केशवचन्द्र सेन के विचारों में नहीं प्राप्त होता है ।

केशवचन्द्र सेन ने भी राजा राममोहन राय के इन विचारों का समर्थन किया कि राजनीतिक स्वाधीनता के लिए सर्वप्रथम समाज–सुधार होना आवश्यक हे, तथापि केशवचन्द्र सेन का यह विचार दार्शनिकता से ओत–प्रोत है । अपने राजनीतिक विचारों मे केशवचन्द्र सेन ने 'ईश्वर' से पृथक होकर विचार व्यक्त नहीं किए हैं । यही कारण है कि चितरंजन दास ने उन्हें 'ईश्वर का पुत्र' कहा है ।[1] केशवचन्द्र सेन के राजनीतिक विचार मुख्यतः दो सिद्धान्तों के इर्द–गिर्द ही घूमते हैं । प्रथमः ईश्वर हमारा पिता है । द्वितीयः प्रत्येक प्राणी हमारा भाई है ।[2]

दोनों ही विचारकों ने भारत में अंग्रेजी शिक्षा तथा अंग्रेजी शासन को देश की परिस्थितियों के अनुसार दैवी वरदान माना है । साथ ही इसे अनिश्चित भविष्य तक बनाए रखने में भारत का कल्याण मानने की धारणा में विश्वास व्यक्त किया है । किसी भी सुधारक या चिन्तक के विचार तथा कार्य–कलाप अपने ही युग की परिस्थितियों के अन्तर्गत विकसित तथा उत्पन्न होते हैं । दोनों ही विचारकों ने यह अनुभव कर लिया था कि भारत में ब्रिटिश शासन के कारण भारतवासियों को

---

1. स्विटजर एलबर्ट, सुरेन्द्र नाथ बनर्जी स्पीचिस पृष्ठ–30
2. केशवचन्द्रसेन, जीवन वेद पृष्ठ–6

बहुत से लाभ हुए हैं, और भविष्य में भी ऐसे संबंध भारत के लिए लाभकारी होगा । भारत में ब्रिटिश प्रभुत्व को लाभकारी मानने का कारण यह भी था कि ब्रिटेन एक प्रबुद्ध राष्ट्र था, जिसके सम्पर्क से पतितावस्था में पहुँच गए भारत की राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक चेतना जाग्रत होगी ।[1]

दोनों ही विचारकों का भारत मे अंग्रेजी शासन का समर्थन करने का उद्देश्य था कि भारत यूरोपीय संस्कृति के सम्पर्क में आकर राष्ट्रीय चेतना प्राप्त कर एक सफल व स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में उभर सकेगा ।[2]

उपर्युक्त विचारों में समानता होते हुए भी हमें राजा राममोहन राय एवं केशवचन्द्र सेन के इन विचारों में भिन्नता देखने को मिलती है ।

राजा राममोहन राय ने भारत में अंगेजी शासन का समर्थन अपने यथार्थवादी दृष्टिकोण के आधार पर किया है, जब कि केशवचन्द्र सेन ने अपने दार्शनिक दृष्टिकोण के आधार पर अंग्रेजी शासन को दैवी विधान कहा है ।

राजा राममोहन राय ने अपने युग की भारतीय परिस्थितियों का व्यापक अध्ययन किया और देश के पतन के कारणों का सही मूल्यांकन करके सुधार अभियान चलाया । उन्होंने धारणा व्यक्त की कि भारत पश्चिम के संसर्ग में आकर आधुनिकता की शिक्षा ग्रहण करेगा, और उससे लाभान्वित होकर नवीन दिशा में स्वयं अग्रसर होगा । राजा राममोहन राय ने भारत में अंग्रेजी शासन अनिश्चित भविष्य तक बना रहे जैसे विचार यथार्थ के धरातल पर कसौटी के आधार पर प्रकट किए थे, क्योकि उन्होंने यह अनुभव कर लिया था कि आंग्ल सरकार ने जिन बुद्धिजीवी व सामाजिक विचारों को अपनाया है, उनसे अवश्य ही बंगाल के हिन्दू समाज में सुधार हुआ हे । सती–प्रथा व बाल–हत्या जैसी बुराइयां उन्मूलन व उनकी साहित्यिक और राजनैतिक प्रोन्नति में भी विकास हुआ

---

1. केशव चन्द्र सेन, इंग्लैण्ड इन इडिया, लेक्चर्स इन इण्डिया, पृष्ठ–127 ·
2. विपिन चन्द्र पाल, (लेख) राजा राममोहन राय, बर्थ सेन्चुरी, भाग–2, पृष्ठ–20

है । अंग्रेज स्वयं नागरिक तथा राजनीतिक स्वतंत्रता का उपभोग नहीं करते, अपितु अपने अधीन देशों में भी स्वतंत्रता सामाजिक सुध तथा बुद्धिवाद को प्रोत्साहन देते हैं ।[1] लेकिन राजा राममोहन राय यह कदापि नहीं चाहते थे, कि अंग्रेज अनन्तकाल तक भारत में आधिपत्य जमाए रहें । सन् 1832 में ब्रिटेन की लोकसभा प्रवर समिति के समक्ष भारत में यूरोपीय लोगों के बसने पर राजा राममोहन राय का मत था कि केवल शिक्षित तथा चरित्र, पूंजी वाले यूरोपीयों को ही भारत मे स्थायी रूप से प्रोत्साहित किया जाए ।[2] तत्कालीन परिस्थितियों में ब्रिटेन की राजनीतिक प्रभुसत्ता से भारतवासियों को लाभान्वित होने भी देना चाहते थे, किन्तु अंग्रेजों की शोषण नीति का भी कड़ा विरोध किया । इस संबंध में रोम रोला ने लिखा है, कि 'राजा राममोहन राय यह तो कभी चाहते ही नहीं थे, कि इंग्लैंड को भारत से निकाल दिया जाए, अपितु उनकी इच्छा थी कि वह वहाँ पर इस प्रकार जम जाएं कि उसका रक्त, उसका सोना और उसके विचार भारतवासियों के साथ घुलमिल जाएं ।[3]

भारत में अंग्रेजी शासक ईश्वर के दूतो के सदृश है – जिन्होंने देश को अज्ञान तथा अंधविश्वास से मुक्त किया है। अतः इस संबंध में सेन के विचारों में भावुकता परिलक्षित होती है । भावुकता वश यहाँ तक कह गए कि हम अपनी साम्राज्ञी का अपनी माता के सदृश प्रेम करते हैं ।[4]

राजा राममोहन राय के बौद्धिक दृष्टिकोण के प्रति नकारात्मक रूझान केशवचन्द्र सेन के विचारों में यहाँ भी दृष्टिगोचर होता है । सेन ने कहा मानव का मस्तिष्क रहस्यात्मक रूपी राष्ट्रीय प्रायश्चित की गहराइयां को नहीं जान सकता है, मात्र, विस्तृत होकर सुन सकता है, श्रद्धा से सिर झुका सकता है । सोते हुए भारतवर्ष की नब्ज़ कब जगी, मात्र ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं जान सकता है । किसी राष्ट्र रूपी हृदय में किस प्रकार सत्य का प्रकाश आया, नहीं ज्ञात कर

---

1. राममोहन राय, हिज़ लाइफ राइटिंग्स एंड स्पीचिस पृष्ठ–42
2. राममोहन राय, रिमार्कस आन सेटिलमेंट इन इण्डिया बाए यूरोपियन्त, 14 जुलाई 1832 लन्दन
3. रोमा रोला, इ लाइफ आफ रामकृष्ण पृष्ठ–106
4. केशवचन्द्र सेन, डिस्पेन्शन की परिभाषा पृष्ठ–4

सकते हैं। जिस प्रकार हवा चली है, उसके प्रभाव से ज्ञात होता है कि हवा चल रही है, लेकिन यह हवा कहाँ से, क्यों आयी है ? मनुष्य नहीं जान सकता है। मात्र ईश्वर ने उस आत्मा को सुधार के लिए जगाया है , जो एक अग्नि की भाँति एक राज्य से दूसरे राज्य में फैला रही है। राष्ट्रपिता ईश्वर को जो उसे अच्छा लगता है वह देश के लिए करता है।[1]

राजा राममोहन राय एवं केशचन्द्र सेन दोनों ही विचारकों ने राजनीतिक स्वाधीनता के लिए संघर्ष किया। यद्यपि समर्थन ही विचारकों ने व्यक्ति की स्वतंत्रता का समर्थन करते हुए अपने स्वतंत्रता संबंधी विचारों को व्यक्त किया है। भिन्नता करते हुए यह कहा जा सकता है कि राजा राममोहन राय ने व्यक्ति की स्वतंत्रता की मांग करते हुए प्रेस की स्वतंत्रता, न्याय संबंधी स्वंतत्रता आदि के लिए कठोर संघर्ष किया। जब कि केशवचन्द्र सेने ने व्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए आध्यात्मिक मार्ग अपनाने पर बल दिया है।

राजा राममोहन राय ने विचारों व्यक्त करते हुए कहा कि बौद्धिक स्वतंत्रता मनुष्य का मूल अधिकार है अतः प्रेस की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगाने का अर्थ है व्यक्ति की स्वतंत्रता का हनन किया जाना इसके अभाव में भारत में ज्ञान के प्रकार तथा तज्जन्य उस मानसिक सुधार का पूर्ण अवरोध हो जाएगा, जो इस समय पूर्व की परिपुष्ट भाषाओं से इस देश की लोक भाषाओं में अनुवाद अथवा विदेशी प्रकाशनों से गृहीत साहित्यिक भाषा के ज्ञान के प्रसार से हो रहा है, देश के सभी भागों का ज्ञान प्राप्त करने से वंचित हो जाएगे। जो सरकारे अपने औचित्य को जानती है, उसे प्रेस के द्वारा सार्वजनिक जांच से भयभीत नही होना चाहिए। प्रत्येक योग्य शासन जिसे यह विश्वासहे कि मानव स्वाभाव अपूर्ण होता है, जो मनुष्य की कमजोरियों से परिचित है, और संसार के चिरन्तर शासक ईश्वर का सम्मान करता है। वह अवश्य इस बात को स्वीकार करता है कि एक विशाल साम्राज्य के प्रबंध में कितनी ही तरह की त्रुटियां हो सकती है, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शिकायतें प्रस्तुत करने की सुविधाएं देगा। इस महत्वपूर्ण उद्देश्य की सिद्धि के लिए प्रकाशन की अबाध स्वतंत्रता ही एक प्रभावशाली अस्त्र है।[2]

---

1. केशवचन्द्र सेन, डिस्पेन्शन की परिभाषा पृष्ठ–4
2. राजा राममोहन राय, मेमोरियल टू द सुप्रीम कोर्ट (1823)

राजा राममोहन राय प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने भारत में राजनीतिक स्वतत्रता का सदेश दिया।[1] वह अपने देश के अभ्युदय के लिए उसी प्रकार चिन्तित और उतकंठित थे जिस प्रचार धार्मिक और सामाजिक पुनरूत्थान के लिए राजा राम मोहन राय के विचार में स्वतन्त्रता मनुष्य का अमूल्य धन है और स्वतंत्रता राष्ट्र के लिए भी आवश्यकहोती है। इस आकाक्षा से प्रेरित होकर ही उन्होंने विदेशी शासन के साथ सहयोग की नीति अपनाने और उनकी सद्भावनाओं पर विश्वास रखने की विशेष रूप से समर्थन किया है।[2]

राजा राममोहन राय ने पाशचात्य विचारों के प्रभाव के फलस्वरूप अपने देश मे स्वतंत्रता के लिए संवैधानिक संघर्ष किया था, परन्तु केशवचन्द्र सेन की "स्वाधीनता धारणा उनकी प्रकृति में ही नीहित थी। जैसा कि उनके जीवन वेद से स्पष्ट होता है स्वाधीनता ही मेरा सबसे पहला मंत्र है अधीनता संसार में विष फैलाने वाली और अनेक अपवित्र कष्टों की जन्म दाता है, मैं नहीं कह सकता कि प्रारम्भ से ही मै अधीनता से इतना विरक्त क्यों हो रहा है....इसलिए आज तक मैंने अपना माथा किसी के सामने नीचा नहीं किया। इसके लिए मुझे बहुत से कष्ट भी उठाने पड़े है तथापि मैंने स्वाधीनता के मंत्र को नहीं छोड़ा।[3]

रूसो की भाँति केशवचन्द्र सेन ने भी कहा कि ईश्वर ने मनुष्य को जन्म के साथ स्वतन्त्रता का अधिकार दिया था, लेकिन मनुष्य ने अपना यह स्वतंत्रता का अधिकार समाप्त कर दिया। केशवचन्द्र सेन "स्व्तंत्रता" को एक आध्यात्मिक मूल्य मानते थे और इससे वह भारत की प्राचीन आध्यात्मिक मूल्य मानते थे और इससे वह भारत की प्राचीन आध्यात्मिक विरासत की कपटपूर्ण भौतिक वाद तथा उपयोगितावाद से रक्षा करना चाहते थे। अतः उनका संदेश था कि

---

1. एस0एस0बोस, अवेकनिंग इन बंगाल पृष्ठ–155
2. सोफिया डी कोलेट, लाइफ एंड लेटर्स आफ राजा राममोहन राय, पृष्ठ–425
3. केशवचन्द्र सेन, जीवन वेद अध्याय पंचम, लाइफ एंड वर्मन आफ केशव, पृष्ठ–450

"राष्ट्र को दासताग्रस्त आत्मा को स्वतंत्रता पूर्वक उठकर तथा सचेष्ट होकर उच्चतर जीवन के पवित्र कार्य–कलाप में संलग्न हो जाना चाहिए ।[1]

राजा राममोहन राय ने अपने विचारो में शासक शासितों की चर्चा करते हुए अंग्रेजों को शासन और भारतीयों को शासित की कोटि मे रखा है ।[2] केशवचन्द्र सेन ने अपने विचारों में कहा कि शासक किसी को भी नहीं मानना चाहिए, क्यों कि शासक केवल एक ही है, वह ईश्वर । केशवचन्द्र सेन ईश्वर का भक्त होने के कारण ईश्वर निर्भरता को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्ति का एक मात्र साधन मानते थे ।[3]

जहाँ राजा राममोहन राय को भारत मे संवैधानिक संघर्ष के प्रेरणा के रूप में जाना जाता है वहीं केशवचन्द्र सेन के नेतृत्व में ब्रह्म समाज ने वैयक्तिक स्वतंत्रता और सामाजिक समानता का नया मन्त्र घोषित किया था, जिसका हमारी शिशु राष्ट्रीयता की भावना और तरूण बंगाल के नए राजनैतिक जीवन और आंकाक्षांओं पर गहरा प्रभाव पड़ा । अपने अंग्रेज राजनैतिक प्रभाओं की श्रेष्ठता को स्वीकार करने की जगह हमारे शिक्षित देशवासियों में एक नया आत्म विश्वास दिखायी पड़ा ।[4]

केशवचन्द्र सेन ने अपने दार्शनिक दृष्टिकोण के भारत में अंग्रेजी शासन को दैवी विधान माना है । केशवचन्द्र सेन के इन विचारों मे कहीं–कहीं भावुकता झलकती हैं । उन्होने कहा सर्वशक्तिमान परमेश्वर ने भारत राजनीतिक और सामाजिक हित के लिए इग्लैंड और भारत को गठबंधित किया है । इस ब्रिटिश रूपी ईश्वरीय शासन में इमें ईश्वर का प्रकाश देखने को मिलता है। सदियों से त्रस्त हुए देश को एक आशा की किरण प्रात हुयी जिससे मनुष्य में शनैःशनैः विकास हो

---

1. केशवचन्द्र सेन, लेक्चर्स इन इण्डिया, पृष्ठ–39
2. राजा राममोहन राय, मेमोरियल टू द सुप्रीम कोर्ट (1823)
3. केशवचन्द्र सेन, जीवन वेड एंड लाइफ इट्स डाइविंग डायनिमिक्स, पृष्ठ–48
4. बी0सी0पाल, मेमार्स आफ माई लाइफ एंड टाइम्स भाग–1, पृष्ठ–229

रहा है और बुराईयो से प्रथक होते जा रहे है । ब्रिटिश शासन ने ऐसे संकट की घड़ी में सहयोग दिया है, जब भारतवर्ष गहरे अज्ञान व अंधकार और अपने भूतकाल से विरवत होरहा था, ऐसे संकट के समय उसने भारत की रक्षार्थ हेतु पर्याप्त कार्य किए हैं । वह दिन दूर नहीं होगा जब यही परमेश्वर की शक्ति सम्पूर्ण राष्ट्र को एक सूत्र में बांध लेगी । केशवचन्द्र सेन अपने भाषण "इग्लैंड तथा भारत" विषय पर अंग्रेजों के साथ भारतीय सम्पर्क को दैवी इच्छा या विधान बताते हुए कहा कि भारत में अंग्रेजी शासन आकस्मिक घटना नही थी । यदि हम सतह के नीचे देखने का प्रयास करे तो हमे निश्चय ही सर्वत्र ईश्वर की विवेक पूर्ण तथा कल्याण व्यवस्था दृष्टिगोचर होती है । केशवचन्द्र सेन ने विश्वास व्यक्त करत हुए कहा कि देश की सहायता करने के निश्चित उद्‌देश्य से ही ईश्वर ने अंग्रेजों को यहां आने तथा शासन करने का आदेश दिया था । यह दैवी उद्‌देश्य अविचल रूप से पूर्ण किया गया है । जैसे ही अंग्रेज मन की प्रकृति का भारतीय मन से सम्पर्क से हुआ, वैसे ही एक महान क्रांति फूट पड़ी देशी समाज केन्द्र तक ले लिया गया। भारतीय जीवन के सभी क्षेत्र आन्दोलित हो गए, मानों किसी रहस्यमय शक्ति ने उन्हें झकझोर दिया हों ।[1] फलस्वरूप भारत मे राजनैतिक, बौद्धिक, सामाजिक तथा धामिर्तक सभी क्षेत्र में द्रुत गति से एक के बाद अनेक सुधार किए गए ।

भारत मे ब्रिटीश शासन को दैवी वरदान के रूप में राजा राममोहन राय एवं केशवचन्द्र सेन दोनों ने ही स्वागत किया है । दोनों ही विचारको पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित थे । क्योंकि अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव के फलस्वरूप ही समाज से मूर्तिपूजा व जातिवाद जैसी कुरीतियां समाप्त होती जा रही थी । भारतवर्ष में इस शिक्षा के माध्यम से पिछले पचास वर्षो से परिवर्तन भी आया था । अतः दोनों ही विचारकों ने यह मत व्यक्त किया कि भारत में अंग्रेजी शिक्षा का जितना अधिक प्रसार होगा उतना ही तीव्र गति से सामाजिक बुराईयां दूर होगी ।

राजा राममोहन राय ने अंग्रेजी शिक्षा का पश्चिम के देशों के वैज्ञानिक प्रजातांत्रिक विचारों

---

1. केशवचन्द्र सेन, "इग्लैंड इन इण्डिया" (फरवरी, 1870 ई. में दिए गए एक भाषण से) लेक्चर्स इन इण्डिया, पृष्ठ–127

के रूप मे स्वागत किया । राजा राममोहन राय का विचार था कि पशिचम देशों ने अपने इन विचारों के माध्यम से विज्ञान, समाज सुधार और राजनीति में विराट उपलब्धियां प्राप्त की है, उनके यही विचार भारतीय जनता मे सुधार की भावना जागृत करने में सहायक होंगे । अपनी दूरदर्शिता से यह भॉप लिया था कि भारवतर्ष में जो शिक्षा दी जा रही है उसमें परिवर्तन की आवश्यकता है । उन्होंने संस्कृत विद्यालयो की अवहेलना न करते हुए यह विचार प्रतिपादित किया कि संस्कृत विद्यालय से मात्र व्याकरण की बारीकियाँ का ही ज्ञान होगा जो व्यवहारिक रूप से समाज के लिए उपयोगी सिद्ध नहीं होगा ।[1] उन्होंने कहा कि अंग्रेज स्वयं ही नागररिक तथा राजनीतिक स्वतंत्रता का उपयोग नहीं करते है, वरन् अपने अधीन देशों में भी स्वतंत्रता सामाजिक सुख तथा बुद्धिवाद को प्रोत्साहन देते है । पाश्चात्य शिक्षा में धर्म को सम्मिलित होना चाहिए ।[2] इस प्रकार भारत मे पाश्चातय शिक्षा के जन्म दाता के रूप में राजा राममोहन राय को विस्मृत नहीं किया जा सकता है । राजा राममोहन राय एवं केशवचन्द्र सेन दोनों ही विचारक यद्यपि ईसाई धर्म के पक्षपाती थे । परन्तु राजा राममोहन राय ने अपने विचारों में ईसाई धर्म को हावी नहीं होने दिया ।

राजा राममोहन राय को न्यू टेस्टामेंट की सरल तथा नैतिक शिक्षाओं से गहरी प्रेरणा मिली थी । किन्तु उन्होने त्रिमूर्ति के सिद्धान्त को कभी अंगीकार नहीं किया ।[3]

सन् 1820 में "एन अपील टू द क्रिशिचयन पब्लिक" इन डिफेन्स आफ द प्रिसेप्ट्स आफ जीसस" नामक पुस्तिका में राजा राममोहन राय ने ईसाई धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों का परीक्षण किया । "ओल्ड तथा न्यू टेस्टामेट" में ईश्वर का जो चित्रण मानवीय स्वरूप में किया गया था, उसे राजा राममोहन राय ने काल्पनिक व अविवेकपूर्ण कहा । ईसा मसीह के द्वैध स्वरूप देवी तथा मानवीय व चमत्कारों के ईसाई विचार को उन्होने स्वीकार नहीं किया । पिता पुत्र व पावनभावना

---

1. एडरीनी मोरे, रामोहन राय एंड अमेरिका, पृष्ठ–19
2. राममोहन राय, हिज़ लाइफ राइटिंग्स एंड स्पीचित, पृष्ठ–42
3. दामोदरन, आधुनिक भारतीय रा. चिंतन, पृष्ठ–362

के रूप में ईश्वर को कल्पित करने वाले ईसाई त्रयी सिद्धान्त को राजा राममोहन राय ने मान्यता नहीं दी । उन्होंने क्षोभ के साथ कहा, ईसाई मिशनरी भारत में विजेता की हैसियत से है, इसलिए वह मनमानी ढ़ग से भारतीय धर्मो पर आघात कर रहे हैं । तुर्की या फारस में जो राज्य विब्रटिश साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं है । ईसाई धर्म प्रचारक भारत की भाँति क्यों नही ईसा के सुसमाचारों का प्रचार करते, बंगाल में जहाँ सत्ता पूरी तरह से अंग्रेजों के हाथ में है, जहाँ लोगों को आंतकित करने के लिए मात्र अंग्रेजों का नाम लेना ही पर्याप्त है, वहाँ पर ईसाई धर्म प्रचार भारतीयों के अधिकार व धर्म पर अतिक्रमण है क्यों कि विवशता दबाव व भय के तातावरण मे धर्म प्रचार वास्तविक धर्म प्रचार नहीं है ।[1] इस प्रकार राजा राममोहन राय ने अपने विचारों में ईसाई धर्म को हावी नहीं होने दिया ।

राजा राममोहन राय प्रमुख रूप से इस्लाम धर्म से प्रभावित हुए थे, महर्षि देवेन्द्र नाथ ठाकुर मुख्यतः ओपनिषद हिन्दू धर्म से प्रभावित हुए थे, किन्तु केशवचन्द्र सेन के विचारों से ब्रह्मनेता के रूप में महत्वपूर्ण वर्षों में मुख्यतः ईसाई धर्म का ही प्रभाव दृष्टिगोचर होता है । उन्होंने अपने विचारों में ईसाई धर्म की कहीं–कही अतिशयोक्तिपूर्ण व असन्तुलित प्रशंसा की है । सेन के शब्दो में "ईसा मसीह का प्रभाव प्रारम्भ में एक छोटा सा नाला था, जो आगे चलकर अधिक चोड़ा और गहरा होता गया, अपने तीव्र बहाव के साथ असत्यता और मिथ्या विचारों को बहा ले गया । ईश्वर ने उसका मनुष्य जाति के सुधार औरपुनर्जीवित करने के लिए भेजा था । इसलिए ईश्वर ने उसको शक्ति और बुद्धि भी प्रदान की थी । उसकी कोमलता और नम्रता मैमने के समान दीनता और सहानुभूति, सच्चाई के प्रति दृढ़ अटल और निश्चिल लाभ सत्यतः ईसामसीह साधारण मनुष्य जाति से उच्च था ।[2]

ईसाई धर्म के अत्याधिक प्रभावित होने के कारण उन्होंने ईसाई सन्तों जैसे शब्दों में कहा कि विश्व एक गिरजाघर है, तथा प्रकृति सर्वोच्च पुरोहित और प्रत्येक मनुष्य को अपने पिता के

---

1. दामोदरन, आधुनिक भारतीय रा. चिंतन, पृष्ठ–363न
2. केशव चन्द्र सेन लाइफ एंड वर्क्स भाग–प्रथम, पृष्ठ–96

पास पहुँचने का अधिकार है, वह चाहे निरक्षर देहाती हो या विद्वान दार्शनिक, सिहासनासीन सम्राट हो या भिखारी यूरोपवासी हो या भारतीय ।[1] वस्तुत. ईसामसीह का पद साधारण मनुष्य समाज में कहीं ऊँचा है । फिर उन्होंने कहा–"क्या ईसा मसीह एशिया के निवासी नहीं थे, वास्तव मे ईसाई मत की स्थापना एशिया में ही हुयी और यहीं के निवासियों द्वारा उसका विकास हुआ है । जब इन बात पर विचार करता हूँ तो मेरे हृदय मे ईसा के लिए सौगना प्रेम बढ़ जाता है और मै अनुभव करता हूँ कि वह मेरे हृदय के निकटतर है और मेरी जातीय सहानुभूति उनके साथ गाढ़तर है । ईसा मसीह के जीवन में केवल मनुष्यता की पराकाष्ठा ही नहीं प्राप्त होती हे वरन् उसमे यह भी ज्ञात होता है कि एशियावासियों की प्रकृति कितने उच्च महत्व को पहुँच सकती है । इस तथ्य पर ज्यो–जयों विचार किया जाएगा, त्यों–त्यों यूरोपियन ईसाई लोगों की पूर्वी जातियों के प्रति जो घृणा और द्वेष बुद्धि है, वह कम होती जाएगी और एशियावासी ईसा मसीह की शिक्षाओं को अधिकाधिक मन लगाकर सुनेगें । केशवचन्द्र सेन ने यहाँ तक कहा है कि यदि किसी मनुष्य के पास बाइबिल और शेक्सपियर के ग्रन्थ हो, तो उस इस लोक से उच्च लोक में समझना चाहिए ।[2]

उपर्युक्त केशवचन्द्र सेन के विचारों पर ईसाईजन का प्रभाव अधिक परिलक्षित होता है, लेकिन इसमें भी केशवचन्द्र सेन के विचारों में परिपक्वता नही थी । उनका मन इतना तीव्रगामी था कि उनको एक विचार की कसौटी पर स्थिर रखना अत्यन्त कठिन था । ब्रह्मसमाज ने आरम्भ से ही जाति भेद का खंडन किया था, राजा राममोहन राय के ब्रह्मसमाज की वेदी पर केवल ब्राह्मण ही चढ़ सकते थे, केशवचन्द्र सेन के नेतृत्व में आचार्य का पद ब्राह्मणों को छोड़कर दूसरी जातियों के उपयुक्त मनुष्यों को भी प्राप्त होने लगा । केशवचन्द्र सेन ने ब्राह्मणों का कोई चिन्ह न रहे, इसलिए जनेऊ व उपवीत का विरोध किया । इस विषय को लेकर केशवचन्द्र सेन एवं महर्षि देवेन्द्र नाथ ठाकुर के विचारों में मतभेद हो गया । अतः ब्रह्मसमाज दो भागों में विभाजित हो गया ।

---

1. केशवचन्द्र सेन, लाइफ एंड वर्क्स, भाग प्रथम, पृष्ठ–36
2. केशचन्द्र सेन, लेक्चर्स इन इण्डिया, पृष्ठ–495

राजा राममोहन राय द्वारा स्थापित "ब्रह्म समाज" का नाम अब "आदि ब्रह्म समाज" के नाम से प्रस्फुटित हुआ और केशवचन्द्र ने एक नवीन "भारतवर्षीय ब्रह्म समाज" की स्थापना की।

केशव का "भारतवर्षीय ब्रह्म समाज" निम्न सिद्धान्तो को लेकर अवतरित हुआ। वृहत् ससार ईश्वर का नियम है , बुद्धि पवित्र तीर्थ स्थान है, सत्य ही नित्य वेद है। श्रर्द्धा धर्म का मूल है। प्रेम सच्ची आत्मिक शिक्षा है। स्वार्थ का नाम सच्चा सन्यास है।

केशवचन्द्र सेन के "भारतवर्षीय ब्रह्म समाज" के इन सिद्धान्तो और राजा राममोहन राय द्वारा स्थापित ब्रह्मसमाज के सिद्धान्तो मे आकाश–पाताल का अन्तर था। राजा राममोहन राय का ब्रह्मसमाज वेद और वैदिक ससकृति का उद्धारक था। केशवचन्द्र सेन के ब्रह्म समाज के सिद्धान्त वस्तुत कोई सिद्धान्त नही थे। सभी धर्म इतनी बातें तो मानते ही है। कोई भी संस्था मात्र इन सिद्धान्तों को लक्ष्य में रखकर आगे नहीं चल सकी।

केशवचन्द्र सेन के ब्रह्म समाज के सिद्धान्तो में एक प्रथक सिद्धान्त है "श्रर्द्धा धर्म का मूल है"। यह राजा राममोहन राय के विचारो का खंडन करता है। यह राजा राममोहन राय के समक्ष मूर्तिपूजा के संबध मे एक सूक्ष्म तर्क था कि "असली चीज श्रर्द्धा, मूर्ति की श्रर्द्धापूर्वक पूजा कीजिए, तो ईश्वर की प्राप्ति होगी। इसका उत्तर देते हुए राजा राममोहन राय ने कहा कि विष को श्रद्धा के साथ दूध मानकर पीने से भी वह घातक ही सिद्ध होगा, बाजार से सौदा खरीदने जैसा मामूली बातो तक में हम सोच समझकर नाप तौल करके काम करते है, तो क्या फिर परम और चरम महत्व की बातो मे ही हम सोचना समझना, नापना, तोलना छोडकर श्रद्धा के सहारे बैठे रहे।[1]

राजा राममोहन राय के विचारो मे एकरूपता दृढ़ निश्चयता है, परन्तु केशवचन्द्र सेन के विचार आजीवन परिवर्तित होते रहे हैं।

अन्त मे उपर्युक्त तथ्यों से यह निषकर्ष निकलता है कि राजा राममोहन राय एव केशवचन्द्र सेन दोनों ही समकालीन उच्चकोटि के लेखक थे। दोनों ही मानवतावादी थे, दोनों ने ही

---

1. वी.एस.नरवणे, आधुनिक भारतीय चिंतन, पृष्ठ–32

समकालीन उच्चकोटि के लेखक थे । दोनो ही मानवतावादी थे, दोनो ने ही देश की महान् सेवा की।दोनों के ही विचारों का जनता पर व्यापक प्रभाव पडा, परन्तु एक निष्पक्ष इतिहासकार के राजनैतिक दृष्टिकोण से मूल्याकंन करने से स्पष्ट होता है, कि जहाँ केशंवचन्द्र सेन की ब्रह्म समाज की धारणाएं सारे भारतवर्ष में फैली और ब्रह्म समाज को व्यापक बनाया वही, राजा राममोहन राय के प्रयास और उनके सुधार की जड धरती की गहराई तक पहुँचे थे, जब कि केशवचन्द्र सेन का प्रभाव केवल पृथ्वी की ऊपरी सतह तक ही रहा ।

राजा राममोहन राय तत्कालीन राजनैतिक धार्मिक, सामाजिक, आर्थक एवं साहित्यिक गतिविधियों के केन्द्र बिन्दु थे । रवीन्द्र नाथ ठाकुर के शब्दों मे "राजा राममोहन राय हमारे इतिहास के आधुनिक युग के उषा काल मे प्रकट हुए, जब कि भारतीय और विदेशी के बीच भेद की चेतना बहुत कम थी, फिर भी उस प्रारम्भिक युग में उन्होंने यह समझ लियाकि उनके युग की चुनौती एकता की महान चुनौती है । वास्तव मे उनका हृदय भारत का हृदय था, क्योंकि भारत का सत्य जगमगा रहा था, वह केवल उसी को भारतीय नाम के योग्य मानते थे, जो सब धर्मो के लोगों को सम्मान की दृष्टि से देखता था और सभी को मानता था ।[1] राजा राममोहन राय के अथक प्रयास से ही भारत में नवीन बौद्धिक क्रांति का सूत्रपात हुआ था । वास्तव में वह एक सच्चे राष्ट्र निर्माता थे।

---

1. स्मारक ग्रंथ, रवीन्द्र नाथ टैगोर प्रेजीडेशन ऐड्रेस आन राममोहन राय, भाग दो, पृष्ठ–227

निष्कर्ष

भारतवर्ष की लम्बी श्रृंखला के इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी एक महत्वपूर्ण और अद्‌भुत स्थान रखती है । यह वह शानदार समय है, जिसके अन्दर नवीन भारत का उदय हुआ था । यहीं से उस विचारधारा का प्रारम्भ हुआ, जिसने नवीन विचारों, नवीन क्रांतियों तथा नए आन्दोलनों को जन्म दिया जिसके फलस्वरूप उन्नीसवी शताब्दी पुनर्जागरण की सदी कहलायी।

उन्नीसवीं शताब्दी को पुनर्जागरण की सदी कहलाने का श्रेय राजा राममोहन राय को दिया जाता है । राजाराममोहन राय ब्रह्म समाज के संस्थापक थे । अपने विकास के दौर में ब्रह्म समाज तीन अवस्थाओं से गुजरा । **प्रथम-** राजाराममोहन राय द्वारा प्रतिनिधित्व किया गया और **द्वितीय-** अवस्था में इसका प्रतिनिधित्व देवेन्द्र नाथ टैगोर द्वारा किया गया , और **तीसरे-** चरण में यह केशवचन्द्र सेन के नेतृत्व में चला । ब्रह्म समाज में एक **चौथा** चरण भी आया, जिसे 'सधर्म ब्रह्म समाज' के नाम से पुकारा गया और इसका विकास केशवचन्द्र सेन के कुछ नीतियों के विरूद्ध में हुआ ।

ब्रह्म समाज की दार्शनिक अवधारणा के दो पक्ष थे, एक ही ईश्वर में विश्वास तथा मनुष्यों के बीच भ्रातत्व में विश्वास । मनुष्यों के मध्य भ्रातत्व की भावना जागृत करने से सामाजिक कुरीतियों को दूर करने तथा कट्टर हिन्दू द्वारा थोपे गए अंधविश्वासी भेदभावों को समाप्त करने में सहायता मिलेगी । ब्रंह्म समाज मूर्तिपूजा, छुआछूत के भेदभाव, जाति प्रथा और धार्मिक कट्टरता का विरोध करता था और विधवाओं के पुनर्विवाह तथा अन्तर्जातीय विवाहों का समर्थन करता था । दमघोटू रूढ़िवादी विचारों से मुक्त करने में ब्रह्म समाज एक सृजनात्मक प्रयास था।

ब्रह्म समाज के इन शब्दों में जातिजन्य सामाजिक विभाजनों की निन्दा की 'ये हानिकारकचिभेद जो हमारे जनजीवन का खून पी रहे हैं कब समाप्त होंगे . देवों ने इस देश

के लिए जिस श्रेष्ठ, उत्कृष्ट नियति का विधान किया है, उसे पूरा कर सकने के लिए यह देश कब संगठित और शक्तिशाली हो सकेगा ? इससे बड़ा सत्य कोई नहीं कि जाति व्यवस्था, जो हमारे समाज की सारी बुराइयों के मूल में है- पूर्ण उन्मूलन के बिना इस नियति की पूर्ति नहीं हो सकती ।

इस प्रकार ब्रह्म समाज के विचारकों राजा राममोहन राय एवं केशवचन्द्र सेन के विचार सामाजिक कुरीतियों के विरूद्ध धर्म युद्ध था । राजा राममोहन राय ने अपने प्रयत्नों के माध्यम से हिन्दू धर्म एवं समाज में आए आडम्बरों कुरीतियों एवं अंधविश्वासों को समाप्त करने के लिए एक सशक्त आन्दोलन का सूत्रपात किया । राजाराममोहन राय के सामाजिक एवं राजनीतिक विचारों में अंग्रेजी शिक्षा एवं पाश्चात्य विचारों का प्रभाव है । पाश्चात्य विचारों के फलस्वरूप राजा राममोहन राय ने बुद्धिवादी, उदारवादी प्रजातांत्रिक विचारों को जन्म दिया और समाज में क्रांति लाने का कार्य किया । राजा राममोहनराय ने अपने धार्मिक विचारों में बुद्धि का सहारा लेने पर बल दिया । बहुदेववाद, मूर्तिपूजा के विरूद्ध उनका संघर्ष सराहनीय रहा है । समाजसुधारक के रूप में राजा राममोहन राय ने एक क्रांति का सूत्रपात किया और भारतीय जनमानस में एक प्रकार की बौद्धिक चेतना उत्पन्न की । उन्होंने सती प्रथा, बाल विवाह विधवा पुनर्विवाह पर अत्याधिक बल दिया । राजा राममोहन राय के कठोर कदम के फलस्वरूप ही सन् 1829 में लार्ड बिलियम बेन्टिंग द्वारा सतीप्रथा जैसी अमानुषिक कुरीति को निषिद्ध दिया गया ।

राजा राममोहन राय अपने राजनीतिक विचारों में पाश्चात्य विचारों से पूर्णतया से प्रभावित थे । राजाराममोहन राय भारत में अंग्रेजी राज के प्रशंसक थे । राजा राममोहन राय भारत के प्रथम नेता थे, जिन्होंने भारत में अंग्रेजी शिक्षा एवं प्रेस की स्वतंत्रता का आह्वाहन किया । राजाराम मोहन राय को भारतीय राजनीतिक स्वतंत्रता का पैगम्बर कहते हैं । स्वतंत्रता की लगन राजाराममोहन राय की अन्तरात्मा की सबसे जोरदार लगन थी और यह प्रबल भावना उनके धार्मिक, सामाजिक राजनीतिक सभी कार्यो में परिलक्षित होती है । जीवन के विभिन्न

क्षेत्रों में राजाराम मोहन राय की विभिन्न क्रियाओं का स्रोत स्वतंत्रता के प्रति उनका महान् प्रेम ही था । धर्म के क्षेत्र में इसने मूर्तिपूजा के विरूद्ध आन्दोलन का स्वरूप धारण किया, सामाजिक सुधार के क्षत्र में सती एवं बहुपत्नी विवाह की प्रथाओं के विरूद्ध जिहाद बोला शैक्षणिक क्षेत्र में इसने स्वतंत्रता से ओत-प्रोत पाश्चात्य पद्धति को मान्यता दी और राजनीतिक क्षेत्र में प्रेस की स्वतंत्रता, नारी अधिकार, कार्यपालिका से न्यायपालिका के पृथक्करण आदि की मांगों का रूप धारण किया । स्पष्ट है कि राजाराम मोहन राय का स्वातन्त्रय प्रेम उनके जीवन के महान् कार्यो का नियामक बन गया । उनकी वेयक्तिक स्वतंत्रता की धारणा समाज धर्म तथा राज्य सभी में व्यक्ति की सुरक्षा की कामना करती थी । स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए प्रत्येक व्यक्ति से आत्म अनुशासित होने की बात कही। प्रेस की स्वतंत्रता का उद्देश्य कानून के शासन की स्थापना करना था । इन्हीं विचारों के फलस्वरूप सन् 1828 में राजाराम मोहन राय द्वारा स्थापित ब्रह्म समाज के रूप में राष्ट्रीय चेतना का धार्मिक प्रस्फुटन हुआ ।राजा राममोहन राय ब्रह्म समाज को सभी धर्मो के प्रति सहिष्णु बनाना चाहते थे, यद्यपि इसकी स्थापना के चार वर्ष के बाद ही उनकी मृत्यु हो गयी तथापि ब्रह्म समाज के विचार क्रमशः बंगाल से बाहर दूर-दूर तक फेल गए और उन्होंने उदारतावाद, तर्कवाद, तथा आधुनिकता का वह वातावरण तैयार किया जिसने भारतीय चिंतन में क्रांति उत्पन्न कर दी ।

राजा राममोहन राय के बाद महर्षि देवेन्द्र नाथ टैगोर ने ब्रह्म समाज का नेतृत्व किया, उन्होंने कट्टर रूढ़िवादी हिन्दुओं की प्रवृत्तियों का विरोध किया । महर्षि देवेन्द्र नाथ टैगोर ने ब्रह्म समाज का पुनः संगठन किया तथा ब्रह्मों की शिक्षा के लिए तत्वबोधिनी पाठशाला की स्थापना की । तत्वबोधिनी सभा नामक एक संगठन भी कायम किया जिसमें दर्शन तथा धर्म की परिचर्चा होती थी । साथ ही तत्वबोधिनी पत्रिका का प्रकाशन भी कराया । यह पत्रिका ब्रह्म समाज के विचारों का प्रचार का कार्य करती थी।

महर्षि देवेन्द्र नाथ टैगोर के उपरानत केशवचन्द्र सेन ने सन् 1850 में ब्रह्म समाज की सदस्यता स्वीकार की । सेन के नेतृत्व में ब्रह्म समाज के विचारों में कुछ नवीन विचारों

का समावेश हुआ । इस समय समाज के युवक सदस्यों ने ब्रह्म समाज में क्रांतिकारी विचारों का प्रतिपादन किया । ब्रह्म सिद्धान्तों को अधिक बुद्धिवादी बनाया । केशवचन्द्र सेन के क्रांतिकारी विचारों से ब्रह्म समाज ने एक नवीन जीवन व स्फूर्ति पाई ।

केशवचन्द्र सेन अपने विचारों में पूर्णरूप से पाश्चात्य विचारों के समर्थक थे । पाश्चात्य शिक्षा के परिणामस्वरूप उन्हें हिन्दू धर्म के अन्तर्गत मूर्तिपूजा व्यर्थ प्रतीत हुयी थी । केशवचन्द्र सेन ने भी अपने सामाजिक एवं राजनीतिक विचारों में समाज सुधार पर बल दिया है गहनता से अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि केशवचन्द्र सेन ने राजा राममोहन राय के विचारों को ही आगे बढ़ाया है । राजाराम मोहन राय के कार्यो की ठोस रूप प्रदान किया है । केशवचन्द्र सेन द्वारा जाति प्रथा के विरूद्ध कड़ा संघर्ष, विधवा पुनर्विवाह के लिए संघर्ष ब्रह्म समाज में अनूठा स्थान रखता है ।

केशवचन्द्र सेन के विचार ईसायत् के निकट रहे हैं । इन्होंने कई बातों में हिन्दू धर्म का व्यर्थ ही विरोध किया है । हिन्दू धर्म को ईसाई पन युक्त हिन्दू धर्म बताया है ।

वर्तमान समय में जो राष्ट्रीय जागृति हो रही है उस पर ध्यान देते हुए यह बातें समयानुकूल प्रतीत नहीं होती । केशवचन्द्र सेन ने ईसाई मत की कितनी ही बातों को ब्रह्म समाज में प्रचलित कर दिया था । यद्यपि इस बात से हम सहमत है कि 'विषस्य विषमोषधम्' की नीति के अनुसार उन्होंने ईसाईपन को ग्रहण करके हिन्दू धर्म को ईसाइयों के हमले से बचाया, तथापि हमारी सम्मति से उनकी यह नीति राष्ट्रीयता की दृष्टि से अच्छी नहीं कही जा सकती । ब्रह्म समाज पर उन्होंने विदेशी मजहब ईसाईमत क्रिश्चियनिटी के इतने अधिक चिन्ह लगा दिए हैं कि उनके कारण ब्रह्म समाज की पूरी राष्ट्रीयता ही नष्ट हो गई है । उस समय जब कि पश्चिमी सभ्यता से लोगों की आँखों में चकाचौंध उत्पन्न हो जाता था, केशवचन्द्र सेन के ब्रह्म समाज को सफलता प्राप्त होना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं थी, लेकिन इस समय जब हिन्दू लोग जागृत हो गए हैं, इस प्रकार की बातें विशेष प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकतीं । कोई भी संस्था या समाज चाहे ब्रह्म समाज हो, या आर्य समाज धर्म और राष्ट्रीयता को अलग

करना चाहती है, व उचित नहीं है, अन्याय है । देश को स्वतंत्र बनाने के लिए राष्ट्रीयता की बड़ी आवश्यकता है, इसलिए जो समाज राष्ट्रीयता के लिए जितना अधिक प्रयत्न करेगा, वह उतना ही अधिक मान्य होगा।

इस प्रकार राजा राममोहन राय एवं केशवचन्द्र सेन के विचारों में समरूपता होते हुए भी वैचारिक मतभेद दृष्टिगोचर होते हैं । राजा राममोहन राय को हम पूर्णरूप से धार्मिक कह सकते हैं और केशवचन्द्र सेन को दर्शन का प्रकाण्ड पंडित कह सकते हैं । केशवचन्द्र सेन के विचार परिवर्तनशील हैं , दृढ़ता नहीं हैं,, स्थायित्व का अभाव है यह कहना ठीक है कि केशवचन्द्र सेन ने ब्रह्म समाज को अधिक व्यापक , अधिक क्रांतिकारी बनाया, सम्पूर्ण देश में फैलाया, परन्तु उनके विचारों में एकरूपता का सर्वथा अभाव रहा । अन्त में केशवचन्द्र सेन ने अपने विचारों में आदेश का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, जिसके अनुसार ईश्वर कुछ व्यक्तियों में ज्ञान की प्रेरणा देता है जिनके शब्द की सत्य माना जाना चाहिए ।

दोनों विचारकों के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् किसी विचारक के विचारों का महत्व कम नहीं आँका जा सकता है । देश की स्वतंत्रता के लिए ब्रह्म समाज के नेतृत्व में राजाराम मोहन राय एवं केशवचनद्र सेन के विचारों ने जो योगदान किया है, वह सराहनीय है । आज भी निर्माणाधीन भारत के लिए ब्रह्म समाज के सामाजिक शैक्षणिक तथा सांस्कृतिक अभियानों की नितान्त आवश्यकता है ।

ग्रन्थ सूची

ग्रन्थ सूची

1. अल्टेकर, ए0 एस0 . पोजिशन आफ वोमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन, बनारस, 1956 ।
2. अब्दुल्ला मौलवी · तुह्फत उल मुवाहिद्दीन का अग्रेजी अनुवाद
3. बुश, एम0 ए0 . राइस एण्ड ग्रोथ आफ इण्डियन लिब्रलिजम फ्राम राममोहन राय टु गोखले - बडौदा, 1938 ।
4. विपिन चन्द्र : भारत में आर्थिक राष्ट्रवाद का उद्भव और विकास, डी0 आर0 चौधरी द्वारा अनुवादित, प्रकाशित - द मैकमिलन कम्पनी आफ इण्डिया लिमिटेड, प्रथम हिन्दी संस्करण, 1977 ।
5. बसु, वी0डी0 . हिस्ट्री आफ एजुकेशन इन इण्डिया अन्डर द रूल आफ द ईस्ट इण्डिया कम्पनी, प्रकाशक - कार्नवालिस स्ट्रीट, कलकत्ता, प्रथम संस्करण ।
6. भट्टाचार्य, सव्यसंची : ब्रिटिश राज्य के वित्तीय आधार श्रीकान्त मित्र द्वारा आुवादित, प्रकाशक - द मैकमिलन कं0 आफ इण्डिया लि0 प्रथम हिन्दी संस्करण, 1976 ।
7. बोस, एन0 एस0 : द इण्डियन अवेकनिंग इन बंगाल, प्रकाशक फार्मा के0 एल0 मुखोपाश्याय, कलकत्ता - 12, 1960 ।
8. बसु, प्रेम सुन्दर . ब्रहमानन्द केशव, लाइफ एण्ड वर्क्स भाग-1 (1838-1866) प्रकाशक हरिसुन्दर मेमोरियल सीरीज, 1937 (सम्पादित) ।
9. बनर्जी, जी0 सी0 : ब्रहमानन्द केशवचन्द्र सेन टेस्टीमोनीज इन मेमोरियम प्रकाशक - ज्ञान कुटीर न्यू कटरा, इलाहाबाद, 1934

10. बार्थविक, एम0 — केशवचन्द्र सेन . ए सर्च फार कल्चरज सिन्थेसिस प्रकाशक - मिनर्वा एसोसिएट्स (पब्लिकेशन्स) प्रा0 लि0, 7 बी0 लेकप्लेस, कलकत्ता 700029 प्रथम संस्करण, 1977 ।

11. चक्रवर्ती, सतीशचन्द्र, राय, एस0 एन0 — ब्रहम समाज द डिप्रेस्ड क्लासेज एण्ड अनटचबिलिटी प्रकाशक साधारण ब्रहम समाज 211, कार्नवालिस स्ट्रीट, कलकत्ता, 1933 (संकलित) ।

12. चन्दा, आर0 पी0 और जे0के0 मजूमदार . राजा राममोहन राय लेटर्स एण्ड डाकुमेन्टस अनमोल पब्लिकेशन, इण्डिया, 1987, 20 न्यू लायलपुर दिल्ली ।

13. कार्पेन्टर मेरी — लास्ट डेज इन इंग्लैड आफ राजा राममोहन राय, ब्रहम समाज ।

14 कालेट, सोफिया डाब्सन : द लाइफ एण्ड लेटर्स आफ राजा राममोहन राय, दिलीप कुमार विश्वास एवं प्रभात चन्द्र गांगुली द्वारा सम्पादित, प्रकाशक साधारण ब्रहम समाज 211, कार्नवालिस स्ट्रीट, कलकत्ता-6, 1962 ।

15. डाडवेल, एच0 एच0 : द कैम्ब्रिज शार्टर हिस्ट्री आफ इण्डिया, प्रकाशक कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1934 ।

16 दत्त, रजनी पाम . आज का भारत अनुवादक - आनन्द स्वरूप वर्मा, प्रकाशक - द मैकमिलन कम्पनी आफ इण्डिया लि0 प्रथम हिन्दी संस्करण, 1977 ।

17. दामोदरन, के0 : भारतीय चिन्तन परम्परा अनुवादक जी0 श्रीचरण, प्रकाशक पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा0) लि0, रानी झांसी रोड, नई दिल्ली-55, प्रथम हिन्दी संस्करण।

18. देसाई, ए0 आर0 : भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि अनुवादक - प्रयाग दत्त त्रिपाठी, प्रकाशक - द मैकमिलन कम्पनी आफ इण्डिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1976 ।

19	दुबाय, ऐबे जे0 ए0	.	हिन्दू मैनर्स, कस्टम्स एण्ड सेरेमोनीज, एच0 के0 व्यूकम्प द्वारा सम्पादित, प्रकाशक - आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस लन्दन, तृतीय सस्करण, 1968 ।
20	दत्त, रमेशचन्द्र		ब्रिटिश भारत का आर्थिक इतिहास अनुवादक केशवदेव सवारिया, प्रकाशक - ज्ञानमण्डल कार्यालय, काशी, 1922 ।
21.	इंघम के0	.	रिफार्मस इन इण्डिया, (1956), प्रकाशक क्रैम्बिल यूनिवर्सिटी, प्रकाशक कैम्बिल यूनिवर्सिटी ।
22	फर्कुहर, जे0 एन0		मार्डन रिलीजियस मूवमेण्ट्स इन इण्डिया, प्रकाशक - मुंशीराम मनोहर लाल, ओरिण्एटल पब्लिशर्स एण्ड बुकसेलर्स, पोस्ट बाक्स 1165, नई सडक, दिल्ली-6, प्रथम भारतीय संस्करण, 1967 ।
23.	फुल्लर, एम0	.	दि रांग आफ इण्डियन वुमेन हुड - 1900 ।
24.	घोष, जी0सी0	:	द इंगलिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय, भाग प्रथम कास्मो पब्लिकेशन, दिल्ली ।
25.	गुप्ता, बी0 एन0 दास	:	राजा राममोहन राय, द लास्ट फेज, रूपा एण्ड कम्पनी कलकत्ता, इलाहाबाद, बम्बई, दिल्ली ।
26.	गोपालराम	.	भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का इतिहास ।
27.	चिन्तामणि, सी0 वाई0	:	इण्डियन सोशल रिफार्म, मद्रास, 1901 (सम्पादित) ।
28.	जागीरदार, पी0जे0		स्टडीज इन सोशल थाट आफ एम0 जी0 राजा डे, प्रकाशक एशिया पब्लिशिंग हाउस, बाम्बे-1, 1963
29.	जोशी, बी0 सी0		राममोहन राय एण्ड द प्रोसेस आफ मार्डनाइजेशन इन इण्डिया, प्रकाशक - विकास पब्लिशिग हाउस प्राइवेट लिमिटेड, 5 दरियागंज अंसारी रोड, दिल्ली-110006, प्रथम संस्करण, 1975 ।

30 करूणाकरण, के0 पी0 : रिलीजन एण्ड पालिटिकल अवेकनिंग इन इण्डिया, प्रकाशक - मिनाक्षी प्रकाशन, बेगम ब्रिज, मेरठ, द्वितीय संस्करण, 1969 ।

31. केशव ब्रहमानन्द . लाइफ एण्ड वर्क्स भाग प्रथम, साधारण ब्रहम समाज 211, कार्नवालिस स्ट्रीट कलकत्ता ।

32. काणे, पी0 वी0 धर्म शास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग अनुवादक - अजुर्न चौबे काश्यप प्रकाशक - हिन्दी समिति सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश शासन, लखनऊ प्रथम संस्करण ।

33 कालीदास नाग और देवज्योति वर्मन . द इंलिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय, भाग प्रथम, प्रकाशक - साधारण ब्रहम समाज 211, कार्नवालिस स्ट्रीट, कलकत्ता, प्रथम संस्करण, 1945 ।

34. कालीदास नाग और देवज्योति वर्मन . द इंलिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय, भाग द्वितीय प्रकाशक - साधारण ब्रहम समाज 211, कार्नवालिस स्ट्रीट, कलकत्ता, प्रथम संस्करण, 1947 ।

35 कालीदास नाग और देवज्योति वर्मन : द इंलिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय, भाग तृतीय प्रकाशक - साधारण ब्रहम समाज 211, कार्नवालिस स्ट्रीट, कलकत्ता, प्रथम संस्करण, 1947 ।

36. कालीदास नाग और देवज्योति वर्मन . द इंलिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय, भाग चतुर्थ प्रकाशक - साधारण ब्रहम समाज 211, कार्नवालिस स्ट्रीट, कलकत्ता, प्रथम संस्करण, 1947 ।

37. कालीदास नाग और देवज्योति वर्मन : द इंलिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय, भाग पंचम प्रकाशक - साधारण ब्रहम समाज 211, कार्नवालिस स्ट्रीट, कलकत्ता, प्रथम संस्करण, 1948 ।

38. लियोनार्ड, जी0 एस0 . हिस्ट्री आफ द ब्रहम समाज ।

39. मजूमदार, आर0 सी0 : आन राममोहन राय, प्रकाशक - द एशियाटिक सोसायटी । पार्क स्ट्रीट, कलकत्ता-16, 1972 ।

40. मजूमदार, बी0 बी0 . हिस्ट्री आफ इण्डियन सोशल एण्ड पोलिटिकल आइडियाज, फ्राम राममोहन राय टु दयानन्द प्रकाशक जे0 ए0 बसु एण्ड कम्पनी, 8016 ग्रे स्ट्रीट कलकत्ता-6, 1967 ।

41 मैकाले, लार्ड . प्रोस एण्ड प्वेट्री ।

42. मैक्समूलर, एफ0 : राममोहन टु रामकृष्ण, प्रकाशक - सुशील गुप्ता (इण्डिया) लिमिटेड, 35 सेन्ट्रल एवेन्यू, कलकत्ता-12, 1952 ।

43. मेरी कार्पेन्टर . लास्ट डेज इंग्लैड आफ राजा राममोहन राय ।
ब्रहम समाज ।

44. मोरे एडरीनी : राममोहन राय एण्ड अमेरीका, सतीशचन्द्र चक्रवर्ती साधारण ब्रहम समाज 211, कार्नवालिस स्ट्रीट कलकत्ता, 1942 ।

45. मनुस्मृति . चौखम्बा सीरीज आफिस वाराणसी ।

46. मजूमदार, जे0 के0 : राजा राममोहन राय एण्ड प्रोग्रेसिव, मूवमेन्ट्स इन इण्डिया, नं0 84 ।

47. मैली, ओ0 . मार्डन इण्डिया एण्ड द वेस्ट ।

48. मर्डाल जॉन : टवैल इयर्स आफ इण्डियन प्रोग्रेस ।

49. महानिर्वाणतंत्र . नवमोल्लास ।

49 ए. नटराजन, एस0 : ए सेन्चुरी आफ सोशल रिफार्म इन इण्डिया, प्रकाशक एशिया पब्लिशिंग हाउस, बाम्बे, 1962 ।

49बी. नारायण, वी0 ए0 : सोशल हिस्ट्री आफ मार्डन इण्डिया, प्रकाशक - मिनाक्षी प्रकाशन, बेगमब्रिज, मेरठ, 1972 ।

50. नौरोजी, दादा भाई : पावर्टी एण्ड अनब्रिटिश रूल इन इण्डिया, प्रकाशक-पब्लिकेशन्स डिवीजन, मिनिस्ट्री आफ इन्फार्मेशन एण्ड ब्राडकास्टिंग दिल्ली-6, प्रथम भारतीय संस्करण, 1962

51. नरवणे, वी0 एस0 — आधुनिक भारतीय चिन्तन, अनुवादक नेमीचन्द्र जैन, प्रकाशक - राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड दिल्ली-6, प्रथम हिन्दी संस्करण, 1966 ।

52. नगेन्द्रनाथ चैटर्जी . लाइफ आफ राममोहन राय, कलकत्ता 1880 ।

53. पनिक्कर, के0 एम0 . एशिया एण्ड वेस्टर्न डविनेन्स प्रकाशक - जार्ज एलेन एण्ड अनविन लि0, रस्किन हाउस म्यूजियम स्ट्रीट, लन्दन, 1953 ।

54. पाल, विपिनचन्द्र . द ब्रहम समाज एण्ड द बैटल फार स्वराज इन इण्डिया 1945, रामकृष्ण परमहंस, अनुवादक - धनराज विद्यालंकर, प्रकाशक - लोकभारती प्रकाशन, 15-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद, 1971 ।

55. राबर्टस, पी0 ई0 . ब्रिटिश कालीन भारत का इतिहास अनुवादक रामकृष्ण शर्मा कंवल, प्रकाशक - एस0 चन्द्र एण्छड कम्पनी प्रा0 लि0, रामनगर नई दिल्ली-110055 तृतीय संस्करण, 1974 ।

56. रोला, रोमा : रामकृष्ण परमहंस अनुवादक - धनराज विद्यालंकर, प्रकाशक - लोकभारती प्रकाशन 15-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-1, 1976 ।

57. राय, एस0 एन0 : राममोहन राय एण्ड द इंलिश इंटलेक्चुरल्स प्रकाशक - साधारण ब्रहम समाज 211, कान्रवालिस स्ट्रीट कलकत्ता, 1966 ।

58. आर0 पी0 चन्दा और जे0 के0 मजूमदार : राजा राममोहन राय लेटर्स एण्ड डाकुमेन्टस, अनुमोल पब्लिकेशन (इण्डिया), 1987, 20 न्यू लायलपुर, दिल्ली-110051 ।

59. रे अजित कुमार : द रिजीजियस आइडियास आफ राममोहन राय, कनक पब्लिकेशन बुक्स इण्डिया, 37-बी, पनडारा रोड, 1976, नई दिल्ली-110003 ।

60. राय राममोहन् . हिज लाइफ राइटिंग एण्ड स्पीचेस मद्रास, जी0 ए0 नटेसन एण्ड कम्पनी, 1923 ।

61. राय राममोहन .शताब्दी अभिनन्दन ग्रन्थ, कलकत्ता, 1935 ।

62. राय राममोहन . सेलेक्टेड वर्क्स पब्लिकेशन्स डिवीजन, मिनिस्ट्री आफ इन्फार्मेशन एण्ड ब्राडकास्टिंग, दिल्ली ।

63. सुन्दर लाल . भारत में अंग्रेजी राज, द्वितीय खण्ड, प्रकाशक - प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार पुराना सचिवालय, दिल्ली-6, 1961 ।

64. सील ब्रजेन्द्र नाथ : राममोहन राय द युनिवर्सल मैन, साधारण ब्रहम समाज, कलकत्ता ।

65. स्मारक ग्रन्थ . द फादर आफ मार्डन इण्डिया ।

66. शास्त्री, शिवनाथ : मैन आई हैव सीन, प्रकाशक - साधारण ब्रहम समाज, 211 विधान सरनि, कलकत्ता-6, सेन्टनरी, सस्करण 1966 ।

67. सेन केशवचन्द्र : लेक्चर्स इन इण्डिया, प्रकाशक - नवविधान पब्लिकेशन कमेटी, 95 केशवचन्द्र सेन स्ट्रीट, कलकत्ता-9, तृतीय संस्करण, 1954 ।

68. सेन केशवचन्द्र : जीवनवेद, ब्रहमानन्द केशव लाइफ एण्ड वर्क्स, साधारण ब्रहम समाज 211, कार्नवालिस स्ट्रीट, कलकत्ता ।

69. सरकार, हेमचन्द्र : रिजीजन आफ ब्रहम समाज, प्रकाशक - क्लासिक प्रेस, 9-3, रामनाथ मजूमदार स्ट्रीट, कलकत्ता, तृतीय संस्करण ।

70. सेन केशवचन्द्र . नवसहिता, साधारण ब्रहम समाज 211, कार्नवालिस स्ट्रीट, कलकत्ता, 1942 ।

71. सिंह, रणजीत दण्डा . भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन एवं संवैधानिक विकास (1860 ई0 1947 तक) प्रकाशक - राजस्थान हि हिन्दी ग्रंथ अकादमी, ए 2612 विद्यालय मार्ग तिलक नगर जयपुर-4 ।

72. सेन केशवचन्द्र . केशवचन्द्र सेन इन इंग्लैड, ब्रहम ट्रैक्ट सोसायटी, कलकत्ता ।

73. ताराचन्द्र . हिस्ट्री आफ द फ्रीडम मूवमेन्ट इन इण्डिया, प्रथम खण्ड, प्रकाशक - द पब्लिकेशन्स डिवीजन, मिनिस्ट्री आफ इनफार्मेशन एण्ड ब्राडकास्टिंग, दिल्ली-6, प्रथम संस्करण, 1961 ।

74. ताराचन्द्र : ब्राडकास्टिंग, पटियाला हाउस, न्यू दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1974 ।

75. पी0 थामस · हिन्दू रिलीजियन कस्टम्स एण्ड मैनर्स, प्रकाशक - डी0 बी0 तारापोरे वाला सन्स एण्ड कम्पनी प्रा0 लि0 डा0 डी0 नौरोजी रोड, बम्बई-1, प्रथम संस्करण, 1971 ।

76. ठाकुर उपेन्द्र नाथ : द हिस्ट्री आफ सोसाइड इन इण्डिया ।

77. द ब्रहम समाज लेक्चर्स इन इण्डिया, ब्रहमट्रैक्ट सोसायटी, कलकत्ता ।

78 उपाध्याय गंगा प्रसाद : फिलासफी आफ दयानंद प्रकाशक - गंगा ज्ञान मन्दिर, इलाहाबाद - 1955 ।

79 उपनिषद संग्रह : पंडित जगदीश लाल शास्त्री, मोती लाल बनारसी दास दिल्ली, वाराणसी ।

80. वर्मा विश्वनाथ प्रसाद आधुनिक भारतीय राजनैतिक चिन्तन अनुवादक डा0 सत्य नारायण दुबे, प्रकाशक - मेसर्स लक्ष्मी नारायण

अग्रवाल पुस्तक प्रकाशक अस्पताल रोड, आगरा-3, द्वितीय परिवर्तित, संस्करण, 1975 ।

81. वर्मा शन्ति प्रसाद : स्वतंत्रता की चुनौती प्रकाशक गोकुल दास धूत, 1948

82. व्यास के0 सी0 . द सोशल रेनेसा इन इण्डिया, प्रकाशक वोरा एण्ड कम्पनी पब्लिशर्स प्रा0 लि0, 3 राउन्ड बिल्डिंग कालबादेवी रोढ, बाम्बे-2, प्रथम संस्करण, 1957 ।

83. याज्ञवल्क्य स्मर्तृति : चौखाम्बा सीरीज आफिस वाराणसी (वी0 सी0 जोशी द्वारा सम्पादित, ए नाइन्टीन सेन्चुरी टेल आफ वोमेन वायलेन्स एण्ड प्रोटेस्ट) ।

84. लालालाजपत राय . यंग इण्डिया ।

85. कश्यप सुभाष : भारत का संवैधानिक विकास और स्वाधीनता सघर्ष ।

86. वेडर्न डब्लू . एलन ओक्टेविचन हयूम

87. टी. एल. वासवानी : एप्रोपेक्ट आफ हार्मोनी माई मदरलैण्ड ।

88. विद्यालंकार सत्यकेतु व हरिदत्त : आर्य समाज का इतिहास ।

88. मजूमदार : द लाइफ एण्ड टिचिंग्स आफ केशवचन्द्र सेन, प्रथम संस्करणं कलकत्ता, 1887 नव विधान ट्रस्ट ।

89. लूनिया, वी0 एन0 . प्राचीन भारतीय संस्कृति ।

90. दे वरूण एवं विपिन चन्द्र, अमरेश त्रिपाठी : स्वतंत्रता संग्राम ।

91. वेदालंकार हरिदत्त : हिन्दू का संक्षिप्त इतिहास ।

92. विल्किन्स, डब्लू0 जे0 : मार्डन हिन्दुइस्म ।

पत्रिकाएं

धर्मयुग : 17-23 मई 1981, टाइम्स आफ इण्डिया बम्बई ।

इंण्डिया टुडे : 30 सितम्बर 1983 गाड्स मिस्टेस, लिविंग मीडिया, इण्डिया प्रा0 लि0 नई दिल्ली ।

द जनरल रिपोर्ट आफ रामकृष्ण मठ एण्ड रामकृष्ण मिशन : अप्रैल 1979-1980

सन्डे मिरर : सी0 एच0 डाल0, 18 जनवरी 1880 कलकत्ता ।

तत्वबोधनी पत्रिका : द ट्रस्ट डीड आफ ब्रहम समाज नं0 90 माघ सन् 1772 ।